प्रथम संस्करणका निवेदन

लगभग सतरह वर्ष पूर्व 'कल्याण'का 'ईश्वराङ्क' प्रकाशित हुआ था। उस समय देश-विदेशके कुछ चुने हुए विभिन्न मतोंके संतों, विद्वानों और अध्ययनशील पुरुषोंसे निम्नलिखित चार प्रश्नोंके उत्तर माँगे गये थे—

(१) ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

(२) ईश्वरको न माननेमें क्या हानि है ?

(३) ईश्वरके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है ?

(४) क्या आप अपना कोई निजी अनुभव बतला सकते हैं ?

इन प्रश्नोंके उत्तर कई महानुभावोंने लिखनेकी कृपा की थी। किन्हीं महानुभावने चारों प्रश्नके उत्तर लिखे थे तो किन्हीं-ने तीन, दोके या एकका ही। किन्हीं महानुभावने व्यापकरूपसे लेख लिख भेजनेका अनुग्रह किया था। इन महानुभावोंके वे प्रश्नोत्तर या लेख 'कल्याण'में 'ईश्वराङ्क'में एवं उसके बादके अङ्कोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। खेदकी बात है कि इन माननीय लेखकोंमें अधिक-से-अधिक इस समय हमारे बीचमें नहीं रहे हैं।

उन्हीं लेखोंमेंसे कुछ लेख पुस्तकाकार प्रकाशित किये जा रहे हैं। पुस्तक बहुत बड़ी होगी तो लोग उत्साहसे पढ़ेंगे नहीं, इस दृष्टिसे कई लेख महत्त्वपूर्ण होनेपर भी इसमें नहीं दिये जा रहे हैं। कुछ छोटे लेख ऐसे भी इसमें हैं जो पहले नहीं छपे हैं। आरम्भमें कुछ महात्माओंके संकलित वाक्य हैं। आशा है, इस पुस्तकसे ईश्वर-सम्बन्धी बहुत-से सन्देह दूर होंगे और अनीश्वर-वादके घोर अन्धकारकी ओर जाती हुई जनताको प्रकाश मिलेगा।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषय-सूची

ईश्वरकी सत्ता और महत्ता

[कौन क्या कहते हैं]

(आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी)

ईश-स्तवन

जागर्ति देव तव शक्तिरनन्तरूपा
व्याप्ता चराचरमये भुवनत्रयेऽस्मिन् ।
तारापथे भुवि नरे च नरेश्वरे च
तोयेऽनले मरुति मृद्यपि साऽऽविरास्ते ॥

भगवन् ! आपकी शक्ति और सत्ताकी इयत्ता नहीं । वह अनन्त है और इस चराचर त्रिभुवनमें अनेक रूपवाली बनकर व्याप्त है । वह है कहाँ नहीं ? आग और पानीमें, पृथ्वी और आकाशमें, नर और नरेश्वरमें, यहाँतक कि मरुत् (हवा) और मृत्तिकातकमें भी वह अपना काम कर रही है ।

पश्यामि तां भुवननायक भूतमात्रे
दृष्टं हि नैकमपि वस्तु तया विहीनम् ।
एतन्मुहुर्मुहुरहं मनसा विचिन्त्य
पारं न यामि परमेश्वर ते महिम्नः ॥

भुवनेश्वर ! मैं उसे भूतमात्रमें विद्यमान देख रहा हूँ । ऐसी एक भी तो वस्तु नहीं जिसमें आपकी शक्ति या सत्ता न पायी जाती

हो । परमेश ! इन्हीं सब बातोंका विचार मन-ही-मन करके मैं हैरान हो रहा हूँ । आपकी महिमा या महत्ताका ओर-छोर नहीं । मैं पामर भला उसके पार कैसे जा सकता हूँ ? यह तो मेरे लिये सर्वथा असम्भव है ।

लोकैकदीपकमणौ द्युमणौ त्वदीयं
सत्त्वं चकास्ति खलु यत्तिमिरापहारि ।
तस्यैव कोऽपि भुवनाधिपतेः सदंशो
रथ्यारजःकणगणेषु विराजतेऽयम् ॥

समस्त लोकोंके लिये देदीप्यमान दीपकका काम देनेवाले भगवान् भास्कर जिस दीप्तिके द्वारा त्रिलोकीका अन्धकार दूर करते हैं, वह उनकी निजकी चीज नहीं । वह तो उन्हें आपहीने दी है, आपहीकी कृपासे वह उन्हें प्राप्त हुई है; परंतु इससे कोई यह न समझे कि वह एकमात्र उन्हींके हिस्सेमें पड़ी है । नहीं, आपकी वही दीप्ति, वही शक्ति, वही सत्ता अलक्ष्यभावसे गलियोंमें पड़े हुए रज:कणोंतकमें भी व्याप्त है । ओह ! आपकी सत्ता और शक्तिमत्ता इतनी अद्भुत !

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदितो न विपर्ययोऽत्र ॥

यह अपना है, यह पराया है—इस प्रकारकी भेदबुद्धि तो आपको छू ही नहीं गयी, उसका तो आपमें लवलेश भी नहीं । कारण यह कि आप तो परब्रह्म, अतएव सभीकी आत्मा हैं, सभीमें आप व्यापक हैं । इसीसे तत्त्ववेत्ता आपको समदर्शी और स्वयं सुखानु-

भवकर्त्ता कहते हैं। रागादि दोषोंके सम्पर्कसे आप सर्वथा अछूते हैं। तथापि आपकी सर्वव्यापकता और समदर्शितामें एक विशेषता है। वह यह कि जो आपकी सेवा करता है, जो अनन्यभावसे आपकी शरण जाता है—उसीको आप, उसकी सेवाके अनुरूप कल्पवृक्षके सदृश फल देते हैं। उसे सेवानुरूप ही आपका प्रसाद प्राप्त होता है। इसमें कदापि विपर्यय नहीं होता।

युक्तं रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य
दोषोद्धतेऽपि यदि ते हृदयं दयार्द्रम्।
तत् साम्प्रतं गतिविहीनमनात्मनीनं
दीनं जनं प्रति कुतः करुणावलोपः॥

भगवन्! आप समदर्शी हैं और समदर्शियोंका क्या कर्तव्य होता है, यह तो आपको बतानेकी बात नहीं। उनके सम्मुख चाहे शत्रु आ जाय, चाहे मित्र। आत्मसमर्पण भर वह कर दे। फिर चाहे उसने जितना भीषण अपराध किया हो, चाहे उसमें बड़े-से-बड़े दोष ही क्यों न हों। समदर्शियोंका हृदय तो, ऐसी दशामें, ऐसोंपर भी दयार्द्र ही हो जाता है। आपका हृदय भी ऐसा ही है। तो फिर आप ही बताइये—क्या कारण है जो अब भी आप मुझ दीन, गतिविहीन और पुण्यहीन पामरपर कृपा नहीं करते? मेरे विषयमें आपको अपनी करुणाकी याद क्यों नहीं आती?

अभ्युद्गमोऽयमशनेरमृतांशुबिम्बात्
स्वामिन्नसौ दिनमणेस्तिमिरप्ररोहः।
युष्मादृशस्य करुणाम्बुनिधेरकस्मा-
दस्मादृशेष्वशरणेष्ववधीरणं यत्॥

आपके पास करुणाकी कमी तो है नहीं। लोटे-दो-लोटे या

घड़े-दो-घड़ेकी तो वात ही नहीं; उसका तो अथाह सागर ही आपके विशाल हृदयमें लहरा रहा है। इस दशामें स्वामिन्! यदि आप मुझे उसका एक कण या एक बूँदतक पानेका पात्र या अधिकारी न समझकर मुझ निःशरण और निराश्रय जनका तिरस्कार करेंगे तो मैं यही समझूँगा कि पीयूषवर्षी चन्द्रबिम्बसे वज्रपात हो गया—उससे विजली गिर गयी अथवा भुवनभास्करने संसारको अन्धकारसे आच्छादित कर दिया।

> **स्वामिन् निसर्गमलिनः कुटिलश्चलोऽह-**
> **मेतादृगेव च रिपुर्मम मृत्युपाशः।**
> **भ्रूपल्लवस्तव तथाविध एव तस्य**
> **शान्त्यै विषे हि विषमे विषमेव पथ्यम्॥**

स्वामिन्! वानक वहुत ही अच्छा वना है। देखिये, जैसा कि मैं स्वभावहीसे मलिन, कुटिल और चञ्चल हूँ, वैसा ही मेरा शत्रु काल भी नितान्त मलिन, कुटिल और चञ्चल है। संतोषके लिये जगह इतनी ही है कि आपकी भौंह भी मलिन (काली), कुटिल (टेढ़ी) और चञ्चल (चलायमान) है। अतएव आप अपने भ्रू-निक्षेपसे समगुणवाले कृतान्तके कोपकी शान्ति सहज ही कर सकते हैं; क्योंकि विष चाहे जितना भी विषम क्यों न हो, उसका विकार उसीके सदृश विषहीसे शान्त हो सकता है। उसके लिये आयुर्वेदमें इसी अचूक औषधका निर्देश है।

> **क्षीणः क्षताखिलकलः प्रविलीनधामा**
> **त्वामाश्रितोऽस्मि सवितारमिवामृतांशुः।**
> **नास्त्येव जीवनकला मम काचिदन्या**
> **पादार्पणेन कुरुषे यदि न प्रसादम्॥**

मेरी दशा, इस समय अमावास्याके चन्द्रमाके सदृश हो रही है। उस तिथिको अपनी सारी कलाओंके नाशके कारण चन्द्र अत्यन्त ही क्षीण हो जाता है और उसका सारा तेज न मालूम कहाँ चला जाता है। तब अपने पुनरुज्जीवनका और कोई उपाय न देखकर वह सूर्यका आश्रय लेता है और सूर्य करुणाका वशवर्ती होकर उस शरणार्थीको अपनी रश्मियोंसे फिर जिला देता है। भगवन्! मेरी दशा भी, आजकल उसी चन्द्रमाके सदृश है। जन्म, जरा, मरणकी चिन्तासे मैं भी क्षीण हो रहा हूँ। मुझमें भी शिल्प, साहित्य आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई कला शेष नहीं। तेजस्कताने तो मेरा साथ सर्वथा ही छोड़ दिया है। अतएव आपको परमकारुणिक दिनकर समझकर ही चन्द्रमाके समान मैं आपका आश्रय चाहता हूँ। यदि आप अपने पादार्पणके द्वारा मुझपर कृपा न करेंगे तो फिर मेरा निस्तार नहीं—तो फिर मेरी जीवन-कला गयी ही समझिये।

पश्चात्पुरः प्रतिदिशं च विमृश्य पश्यन्
क्रूरं कृतान्तहतकं फणिपाशपाणिम्।
भूमौ पतामि कृपणं प्रलपामि पाद-
पीठे लुठामि भगवन् कठिनोऽसि कस्मात्॥

आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, इधर-उधर, जहाँ-कहीं देखता हूँ, हाथमें नागपाश लिये हुए क्रूरात्मा काल सर्वत्र ही मुझे दिखायी दे रहा है। भगवन्! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसको पुकारूँ? मैं आपके पैरों पड़ता हूँ; मैं पृथ्वीपर लोटकर दण्डवत्-प्रणाम करता हूँ; मैं दीनता दिखाता हूँ; मैं विनती करता हूँ। मुझे बचा लीजिये। अरे क्यों इतने कठोर—क्यों इतने निर्दय हो गये?

किं कार्यमेभिरनिशं पुनरुक्तशुक्तै-
रुद्वेगकारिभिरलब्धफलैः प्रलापैः ।
एवं विदन्नपि मुहुर्मुखरं विरौमि
पश्यामि न त्वदितरं हि परं शरण्यम् ॥

मैंने बहुत कुछ कहा, मैंने बहुत सिर पटका, पर अबतक आपने मेरी एक भी न सुनी। अतएव बार-बार उन्हीं बातोंको दोहराने—उन्हींकी पुनरुक्ति करनेसे क्या लाभ ? वह सब व्यर्थ होगा। इस तरहके इन निष्फल, पुनरुक्ति-दूषित प्रलापोंसे तो मेरा हृदय और भी उद्विग्न हो उठता है। यह सब मैं जानता हूँ और अच्छी तरह जानता हूँ; परंतु फिर भी मैं करुणाजनक रुदन न करूँ—फिर भी न रोऊँ-धोऊँ तो करूँ क्या ? आपके सिवा मुझे कहीं अन्यत्र शरण मिलनेकी आशा भी तो नहीं। मेरे शरण्य तो एकमात्र आप ही हैं।

अन्यद् ब्रवीमि किमहं जगदेकबन्धो
बन्धुर्न कोऽपि मम देव सुतोऽपि नास्ति ।
तत् ते पदाब्जविमुखस्य महाधमस्य
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधे गतिर्मे ॥

जगदेकबन्धो ! मैं और अधिक बातें बनाना नहीं चाहता; और अधिक कहने-सुननेकी शक्ति भी मुझमें नहीं। मेरा कोई सहायक भी तो नहीं। आपसे छिपा नहीं; मैं तो बन्धु-बान्धवोंसे भी रहित हूँ; संसारमें सुत-दारा आदि आत्मीय भी मेरा कोई नहीं। अतएव करुणासागर ! आपके पाद-पद्मसे विमुख मुझ निःसहाय और महाधमकी गति केवल आपके हाथ है। मुझे तो बस, एक आपका ही भरोसा है। चाहे पार लगा दीजिये, चाहे संसृतिके गहरे गर्तमें पड़ा ही रहने दीजिये। 'यदिच्छसि तत्कुरु।'

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(संकलित)

ईश्वरको तुमलोग देख नहीं सकते, क्या इसीसे कह दोगे कि वह है ही नहीं ? दिनको तारे नहीं दीख पड़ते, तो क्या तुम कहोगे कि तारे हैं ही नहीं ? सूरजके तीखे तेजमें दिनको तारे नहीं दीख पड़ते, वैसे ही माया और अहंकारके आच्छादनसे मनुष्य ईश्वरको नहीं देख सकता।

दूधमें मक्खन रहता है, पर वह मथनेसे ही निकलता है, वैसे ही ईश्वरको जो जानना चाहे, वह उसका साधन-भजन करे।

भगवान् सगुण भी है और निर्गुण भी तथा गुणातीत भी। जब वह सगुण रहता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं, जब वह निर्गुण रहता है, तब उसे ब्रह्म कहते हैं और उसकी गुणातीत अवस्थाको तो हम मुँहसे कहकर समझा ही नहीं सकते।

ईश्वरके दर्शनकी इच्छा रखनेवालोंको नाममें विश्वास तथा सत्यासत्यका विचार करते रहना चाहिये। एक डुबकीमें रत्न न मिला, इससे रत्नाकरको रत्नहीन मत समझ बैठना। डुबकी लगाते ही जाओ, रत्न अवश्य मिलेगा। अल्प साधना करनेपर ईश्वर-दर्शन

न हो तो हताश न होना चाहिये। धीरज रखकर साधन करते रहो। यथासमय ईश्वरकी तुमपर अवश्य ही कृपा होगी।

जल एक है। कोई उसे 'पानी' कहता है, कोई 'वाटर,' कोई 'एकोया' और कोई 'अप्' कहता है। इसी प्रकार भगवान्‌को कोई 'गॉड,' कोई 'हरि,' कोई 'राम,' कोई 'यीशु' और कोई 'अल्लाह' कहता है। वस्तु एक ही है, केवल नाममें भेद है। संसारमें केवल ईश्वर ही सत्य है और सब असत्य है।

जिसके मनमें ईश्वरका प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे संसारका और सुख अच्छा नहीं लगता। जो एक बार भी बढ़िया मिश्रीका स्वाद ले चुका, वह क्या कभी राब खाना चाहेगा?

लोग भला कहें या बुरा, उनकी बातोंपर जरा भी ध्यान न देकर संसारकी स्तुति और निन्दाकी कोई परवा न करके ईश्वरके पथपर चलना चाहिये।

अपने सब कर्मफल ईश्वरके अर्पण कर दो; अपने लिये किसी फलकी कामना मत करो।

जिस घरमें नित्य हरि-संकीर्तन होता है, वहाँ कलियुग प्रवेश नहीं कर सकता। ईश्वरको पानेका उपाय विश्वास है, जिसको विश्वास हो गया उसका काम बन गया।

ईश्वरके नाममें ऐसा विश्वास चाहिये कि मैंने उसका नाम लिया है इससे अब मुझमें पाप कहाँ है? मेरे बन्धन अब कहाँ हैं?

स्वामीजी श्रीदयानन्दजी

(संकलित)

जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टिका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवोंको कर्मानुसार अपने सत्य न्यायसे फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसीको मैं ईश्वर मानता हूँ। सब सत्य विद्या तथा जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी

(संकलित)

ईश्वर सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप हैं; वे आनन्द, शक्ति और अमृतत्वके मूल हैं। वे कल्याणमय, एक, अद्वितीय, पवित्र, निरञ्जन, निराकार, स्वतन्त्र, अनुपम, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी हैं।····वे ही सृष्टिकर्ता और प्रतिपालक हैं। इस सृष्टिके पहले कुछ नहीं था, वे ईश्वर ही थे; उस समय न दिन था न रात। पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष, जल, वायु, पर्वत, नदी, वृक्ष, लता आदि कुछ भी नहीं थे। ईश्वरने अपनी इच्छासे इन सबका सृजन किया। ईश्वर

ही मूल सत्य हैं । ईश्वरमेंसे ही सब पदार्थोंकी सृष्टि हुई है। प्रत्येक पदार्थमें प्राणरूपसे परमेश्वर ही ओतप्रोत हैं । वे सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी और प्रत्येक घटनाके निरीक्षक हैं । उनसे छिपाकर कुछ भी नहीं रक्खा जा सकता । वे अन्तर्यामी, असीम, अनन्त तथा मन-वाणीके अगोचर हैं, स्वयंज्योति और स्वयम्भू हैं । वे स्वयं यदि मनुष्यके हृदयमें प्रकट न हों तो मनुष्य उनके दर्शन करनेमें असमर्थ है । वे आनन्द, शान्ति और अमृतके निर्झर हैं । वे मङ्गलदाता, पवित्र और सचेत जाग्रत् भावसे सर्वत्र व्यापक हैं । इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपका विचार करके उनकी पूजा करनेको आराधना कहते हैं। समस्त विश्वमें उनकी महिमाके दर्शन कर भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम करना आराधना है ।

ईश्वरके चिन्तनका नाम ही ध्यान है । परमेश्वर हमारे हृदयमें विराजमान हैं, इस प्रकार सतत चिन्तन करनेसे अन्तःकरणमें प्रभुका प्रकाश होता है और प्रभुकी दिव्य ज्योतिके दर्शन होते हैं।............ प्रभुका प्रकाश मिलते ही उनका स्तवन करनेकी स्वयमेव इच्छा होती है। उनका गुण-कीर्तन और उनकी महिमाका गान ही स्तवन है । इस स्तवनकी भी समाप्ति नहीं है। स्तवन करते-करते जब मन आनन्द-सागरमें डूबने लगता है, तब उनके चरण-कमलोंमें आत्मसमर्पण किये बिना रहा ही नहीं जाता ।

स्वामी रामतीर्थ

(संकलित)

ऋषिकेशके पासका जिक्र है कि गङ्गाके इस पार बहुत साधु रहते थे और उस पार एक मस्त रहता था। उसके रगोरेशेमें (अनल्हक) शिवोऽहं बसा हुआ था। रात-दिन यह आवाज आया करती थी—'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्, शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' एक दिन वहाँ एक शेर आया। साधु इस पारसे देख रहे थे कि शेर आया और उसने महात्माकी ओर रुख किया। वह महात्मा शेरको देखकर उच्च स्वरसे कह रहा था 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' उसकी धारणामें यह जमा हुआ था कि यह शेर मैं ही हूँ, सिंह मैं ही हूँ। स्वयं केसरीके शरीरमें स्वर भर रहा हूँ 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' वनराजने

आकर इनके कंधेको पकड़ लिया तो वह (महात्मा) आनन्दके साथ सिंहके रूपमें नर-मांसका स्वाद ले रहे थे और आवाज निकल रही थी 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्!' दीवालीमें खाँड़के खिलौने बनते हैं। खाँड़के हिरन और खाँड़के शेर। अगर खाँड़का हिरन अपने-आपको नाम-रूपरहित विशेषणके साथ समझे कि मैं हिरन हूँ तो क्या वह यह कहेगा कि खाँड़का शेर मुझको खा रहा है। यदि वह अपने-आपको खाँड़ मान ले तो खाँड़का मृग कह सकता है कि खाँड़के रूपमें मैं ही इधर हिरन और उधर शेर हूँ। इसी तरह जब तुम जानो कि तुम्हारी असलियत क्या है, वह इस खाँड़के अनुरूप ईश्वरका स्वरूप है। अतः इस खाँड़के शेरकी दशामें तुम ईश्वरकी हैसियतसे यह कह सकते हो कि मैं इधर हिरन और उधर शेर हूँ।

पगड़ी पायजामा, दुपट्टा, अँगरखा, गौरसे देखा तो सब कुछ सूत है।

दामनी तोड़ी तो मालाको गढ़ा, पर निगाहे-हकमें वह भी थी तिला।

प्यारे! यह महात्मा वह दृष्टि रखते थे। जिस समय सिंह खा रहा था उस समय वह क्या-क्या स्वाद ले रहे थे। आज नर-रक्त हमारे मुँह लगा। टाँग खायी तो भी 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' पर्दा पहले ही पतला था, मगर सरकाया गया।

सिकन्दर जब भारतवर्षमें आया और उसने देखा कि जितने देश मैंने जीते, सबसे अधिक सचाईवाले, बुद्धिमान् और रूपवान् भारतवर्षमें ही देखे। उसने कहा—'इस भारतवर्षके सिर अर्थात् तत्त्ववेत्ताओं और ज्ञानियोंको देखना चाहता हूँ।' सिकन्दरको सिन्धुके किनारे ले गये। वहाँ एक अवधूत बैठे थे। सिकन्दर सारे

संसारका सम्राट्, वहाँ लंगोटी भी नहीं । सामना किस गजबका है ! सिकन्दरमें भी एक प्रताप था । मगर मस्तकी निगाह तो यह थी—

शाहोंको रोब और हसीनोंको हुस्नो-नाज।
देता हूँ, जब कि देखूँ उठाकर नजरको मैं ॥

सिकन्दरपर उस मस्तका रोब छा गया । उसने कहा—'महाराज ! कृपा कीजिये । यहाँके लोग हीरेको गुदड़ीमें लपेटकर रखते हैं । पश्चिममें जरा-जरा-सी चीजोंकी बड़ी कदर की जाती है । मेरे साथ चलो, मैं तुझे राज-पाट दूँगा, सम्पत्ति दूँगा, धन दूँगा, हीरे-जवाहिरात दूँगा, जो कुछ चाहो सब दूँगा, लेकिन मेरे साथ चलो ।' महात्मा हँसे और बोले—'मैं हर जगह हूँ, मेरी दृष्टिमें कोई जगह नहीं है ।' सिकन्दर नहीं समझा । उसने कहा—'अवश्य चलिये ।' और वही लालच फिर दिखलाया । मस्तने कहा—'मुझे किसी चीजकी परवा नहीं, मैं अपना फेंका हुआ थूक चाटनेवाला नहीं ।' सिकन्दरको क्रोध आ गया और उसने तलवार खींच ली । इसपर साधु खिलखिलाकर हँसा और बोला—'ऐसा झूठ तो तू कभी नहीं बोला था, मुझको काटे कहाँ है वह तलवार ।'

'बच्चे रेतमें बैठकर रेत अपने पैरोंपर डालते हैं । आप ही घर बनाते हैं और आप ही ढाते हैं । रेतका क्या बिगड़ा ? जो पहले थी वह अब भी है । प्यारे ! इसी तरह उस साधुकी दशा थी । यह शरीर उसको बालूके घरकी तरह है जो लोगोंकी कल्पनामें उनकी समझका घर बना था । मैं तो बालू हूँ । घर कभी था ही नहीं । अगर तुम या जो कोई इस घरको बिगाड़ता है, वह अपना घर खराब करता है ।

तारे क्या रोशनीसे न्यारे हैं । तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं ॥

उत्तर सुनकर सिकन्दरके हाथसे तलवार छूट पड़ी।

एक भंगिन थी, जो किसी राजाके घरमें झाड़ू दिया करती थी। कभी-कभी उसको सोना या मोती इनाममें मिल जाता था। कभी गिरे-पड़े उठा लाती थी। उसका एक लड़का था, जो बचपनसे परदेश गया हुआ था। जब वह पंद्रह वर्षका हुआ, तब घर आया। देखा कि उनकी माने झोंपड़ीमें लालोंका ढेर लगा रक्खा है। उसने पूछा—'ये चीजें कहाँसे आयीं?' मेहतरानीने कहा—'बेटा! मैं एक राजाके यहाँ नौकर हूँ, ये उनके गिरे-पड़े मोती हैं, जिनका यह ढेर है।' लड़का अपने मनमें कहने लगा, जिसके गिरे-पड़े मोती ऐसे उत्तम हैं, वह आप कैसी रूपवती होगी? यह खयाल आया था कि उसके मनमें प्रेम छा गया और अपनी मासे कहने लगा कि मुझे उसके दर्शन कराओ। ये तारे-सितारे, यह चन्द्र-सूर्य, ये झलकती हुई नदियाँ, यह सांसारिक रूप-सौन्दर्य उस सचाईके गिरे-पड़े मोती हैं। अरे! जिसके गिरे-पड़े मोतियोंका यह हाल है तो उसका अपना क्या हाल होगा?

लगाकर पेड़ फूलोंके किये तकसीम गुलशनमें।
जमाया चाँद-सूरजको सजाये क्या सितारे हैं॥

जिस समय कन्याओंका विवाह होता है उनके डोलेपरसे रुपये-पैसे, अशर्फियाँ न्योछावर करते हैं और ऐ महात्माओ! तुम उन चीजोंको चुनो। रामकी आँख तो उस दुलहिनके साथ लड़ी। जिसका जी चाहे इन मोतियोंको भरे। रामके पास तो जामा भी नहीं है, फिर दामन कहाँसे लावे!!! ॐ! ॐ!! ॐ!!!

श्रीअरविन्द

(संकलित)

जगत्में जो कुछ है, सब भगवान्‌का प्रकाश है; क्योंकि भगवान् ही एकमात्र सत् वस्तु हैं। उनकी मूर्ति या अंशके अतिरिक्त और किसीका भी अस्तित्व नहीं है। सभी जीव नाम-रूपकी सीमाके अंदर असीमका ही आत्मप्रकाश है। अवश्य ही भगवान्‌के प्रकाशका भी क्रम है। भगवान् नित्य शुद्ध, परब्रह्म हैं। साधारण जीवमें भगवान्‌का अंश मायाके आवरणसे आबद्ध है, जीव ज्ञानके प्रकाशद्वारा अपने देवत्वकी क्रमशः उपलब्धि कर सकता है। स्थान-स्थानपर भगवान्‌की विशेष शक्तियोंका आविर्भाव होता है, उनको विभूतिके नामसे पुकारा जाता है; किंतु, जब वही अज, अव्ययात्मा ईश्वर स्वयं जगत्‌के कल्याणके लिये अपनी मायाको वशीभूत करके लौकिक देह ग्रहण करते हैं—मानव-शरीरमें जन्म ग्रहण करते हुए प्रतीत

होते हैं—सर्वशक्तिमान् होकर भी मानवोचित शरीर-मन-बुद्धिके द्वारा कर्म करते हैं—तभी उनको अवतार कहा जाता है ।

मनुष्यके अंदर भी भगवान् हैं । मनुष्य जिस दिन इस बातकी सम्यक् रूपसे उपलब्धि करता है, उसी दिनसे वह भगवान्में निवास करता है। वेदान्तवादियोंमें वैष्णवोंने नर-नारायणके रूपकको अवलम्बन करके इस तत्त्वको खूब दिखलाया है । नर नारायणका सदैव साथी है । नर अर्थात् जीवात्मा जिस दिन यह समझ लेता है कि मैं नारायण अर्थात् परमात्माका सखा हूँ, उसी क्षण वह स्वरूपमें स्थित हो जाता है—उसी समयसे वह भगवान्के निकट निवास करता है—'निवसिष्यसि मय्येव ।' भगवान् सब समय ही सखारूपसे हमलोगोंके समीप रहते हैं—हमलोगोंके हृदय-रथमें वे सर्वदा ही सारथिरूपमें विराजित हुए हमलोगोंको चलाते हैं—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।'

वे हमलोगोंके कितने अपने हैं, कितने निकटतम बन्धु हैं, हाथ पकड़कर वे किस प्रकार हमलोगोंको चला रहे हैं—इस बातको हमलोग नहीं समझते । जिस दिन मायाका आवरण, अज्ञानका अन्धकार हट जायगा, मनुष्य हृदिस्थित हृषीकेशके सम्मुख आयेगा, उनकी वाणी सुनकर प्रमादको नष्ट करेगा, उनकी शक्तिसे कर्म करेगा—उसी दिन वह अपनी मन-बुद्धिको भगवान्में सम्पूर्णभावसे समर्पण करनेमें एवं भगवान्के अंदर निवास करनेमें समर्थ होगा, इसीको गीताने 'उत्तम रहस्य' बतलाया है ।......................

महात्मा गाँधीजी

(१)

विश्वास

इस जगत्में कोई अवर्णनीय छिपी शक्ति घट-घटमें भरी हुई है। वह मुझे इन आँखोंसे तो नहीं दिखायी देती है, फिर भी मुझे यह प्रतीति जरूर होती है कि वह है। वह अदृष्ट शक्ति हमपर किसी-न-किसी तरह अवश्य प्रभाव डालती है। उसके वर्णनके लिये कोई विशेषण काफी नहीं हो सकता; क्योंकि वह इन्द्रियातीत है, अपनी इन्द्रियोंसे हम जो कुछ भी जान सकते हैं, उससे वह भिन्न है।

फिर भी थोड़े अंशमें ईश्वरकी हस्तीको सिद्ध करनेके लिये बुद्धि–तर्कका प्रयोग हो सकता है। सामान्यतः प्राकृत जगत्में भी हम जानते हैं कि कई लोग अपने राजाको न तो पहचानते ही हैं, न उसके विषयमें उन्हें कुछ ज्ञान ही होता है कि वह राजा कैसे और क्यों राज्य करता है। ऐसा होते हुए भी वे लोग इतना निश्चित जानते हैं कि कोई-न-कोई राजा अवश्य है। मैसोर-यात्रामें मैंने ऐसे अबोध लोग पाये जिनको पता नहीं था कि मैसोरमें कौन

राज्य करता है, जब मैंने उनसे पूछा, तब उन्होंने जवाब दिया—'कोई देव राज्य करता होगा।' इससे यह नतीजा निकलता है कि जब इन लोगोंका ज्ञान अपने राजाके बारेमें इतना कम है, तब मेरा ज्ञान ईश्वरके बारेमें और भी कितना कम होना चाहिये; क्योंकि जितना अन्तर उन लोगोंके और उनके राजाके बीचमें है, उससे बहुत अधिक मेरे और ईश्वरके दर्म्यान है। ऐसी दशामें यदि मैं उस राजेश्वर—परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर पाता हूँ तो इसमें कौन-सा आश्चर्य हो सकता है ? परंतु जिस प्रकार मैसोरके गरीब लोग अपने राजाको न जानते हुए भी यह जानते हैं कि हमारे देशमें कुछ-न-कुछ व्यवस्था जरूर है, ठीक उसी तरह मैं भी जानता हूँ कि इस जगत्में एक बड़ी व्यवस्था कायम है। मैं अनुभव करता हूँ कि इस विश्वकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीवधारी एक अविचल नियन्त्रणके मातहत काम कर रहे हैं। वह नियन्त्रण जड नहीं हो सकता; क्योंकि कोई जड नियन्त्रण चैतन्यमय मनुष्यपर शासन नहीं कर सकता। और अब तो श्रीजगदीशचन्द्र बसुने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि इस जगत्में सब चीजें चैतन्यमय हैं। इसलिये हम यह क्यों न कहें कि जो शक्ति जीवमात्रको नियमबद्ध रखती है, वही ईश्वर है। इसमें शक्ति और उसका संचालक, नियम और नियन्ता एक ही है। परंतु इसलिये कि मैं उस नियम और नियन्तासे अनजान हूँ, मुझे कोई अधिकार नहीं है कि मैं उसकी हस्तीसे ही इनकार कर दूँ। जिस तरह प्राकृत राजाकी हस्तीसे इनकार करनेसे उसकी हस्ती मिट नहीं सकती, न कोई लाभ ही हासिल हो सकता है, ठीक इसी तरह ईश्वरकी हस्तीके इनकार या अज्ञानसे कुछ हासिल नहीं हो सकता

में ईश्वरी कानूनकी पाबंदीसे किसी प्रकार छूट नहीं सकता। बल्कि जैसे प्राकृत राजाकी हस्ती और उसके नियमोंको माननेसे उलटा उसके शासनमें रहना सरल होता है, उसी तरह ईश्वर और उसके नियमोंके ज्ञान और स्वीकारसे इस संसारमें जीवन सरल बनता है।

मुझे यह निरन्तर अनुभव होता है कि मेरे इर्द-गिर्द सब वस्तुओंमें परिवर्तन होता ही रहता है और इस परिवर्तनके अंदर कोई अपरिवर्तनीय तत्त्व समाया हुआ है। वह अपरिवर्तनीय, अविचल शक्ति सबको धारण कर रही है, सबको पैदा करती है, सबका नाश करती है और फिरसे रचना करती है; इसी शक्तिको ईश्वर कहिये। और क्योंकि दृष्ट पदार्थमात्रका नाश होता रहता है, इससे मैं इस नतीजेपर पहुँचता हूँ कि एक अदृष्ट ईश्वर ही कायम है।

अब प्रश्न यह है कि यह शक्ति पोषक है या नाशक? दैवी है या राक्षसी? मैं उसे पोषक और दैवी अनुभव करता हूँ; क्योंकि इस मृत्युमय संसारमें जीवन-प्रवाह अविच्छिन्न चल रहा है। असत्य नाशवान् है, एक सत्य ही स्थिर है। अँधेरेमें भी प्रकाश भरा ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर चेतन है, सत्य है, प्रकाश है। ईश्वर प्रेमकी मूर्ति है, वही शुभतम शुभ है।

परंतु जो केवल बुद्धिको ही—तर्कको ही संतुष्ट करके रह जाय, वह ईश्वर कहाँसे हो सकता है? फिर बुद्धिको तो निश्चितरूपसे संतुष्ट करना असम्भव-सा है। इसलिये ईश्वर तो वही है, जो हृदयका स्वामी बन सकता है, जो उसको हिला सकता है। अपने भक्तके प्रत्येक कार्यमें उस प्रभुकी प्रतीति होनी चाहिये और यह

प्रतीति तो साक्षात्कारसे ही हो सकती है। यह साक्षात्कार इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले अनुभवोंसे परे होता हैं। इन्द्रियोंका अनुभव मिथ्या हो सकता है, परंतु इन्द्रियोंसे परे जो अनुभव होता है, उसमें भ्रम या गल्ती नहीं हो सकती। वह बाहरी प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता, बल्कि मनुष्यके परिवर्तित जीवन—कायापलटसे होता है। यह प्रमाण हमें पैगम्बरों और ऋषि-मुनियोंके जीवनसे, उनके अनुभवोंसे मिलता है। उनके वचनोंको न मानना अपनी हस्तीको न मानना है।

परंतु इस साक्षात्कारके पहले अचल श्रद्धा होती है। जो मनुष्य ईश्वरका दर्शन करना चाहता है, वह ऐसी श्रद्धा रखकर ही कर सकता है। और क्योंकि श्रद्धाका प्रमाण बाहरी चीजोंसे नहीं मिल सकता, इसलिये हमें चाहिये कि हम जगत्के न्याय-शासनको स्वीकार करें और विश्वास करें कि जगत् सत्य और अहिंसापर निर्भर है। यह प्रतीति सत्य और अहिंसाके अभ्याससे आ सकती है।

मुझे स्वीकार करना होगा कि श्रद्धाका प्रमाण मैं बुद्धिके द्वारा नहीं दे सकता। श्रद्धा बुद्धिसे परे है। इसलिये कोई असम्भवको सम्भव बनानेकी चेष्टा न करे। पापवृत्तिके अस्तित्वके लिये तर्कद्वारा कोई कारण नहीं बताया जा सकता। ऐसा करनेकी इच्छा रखना ईश्वरके साथ मुकाबला करने जैसा होगा। इसलिये मैं तो नम्रतापूर्वक उसके अस्तित्वको स्वीकार करके ही रह जाता हूँ। ईश्वरको मैं बहुत सहनशील और धैर्यवान् कहता हूँ, क्योंकि वह जगत्में पापवृत्तिको रहने देता है। मैं जानता हूँ कि ईश्वर सर्वथा निष्पाप है। मैं यह भी जानता हूँ कि जिंदगीका सौदा करके भी अगर मैं पापवृत्तिसे मुकाबला न करूँ तो मैं कभी ईश्वरकी पहचान नहीं

कर सकूँगा । मेरे नम्र और मर्यादित अनुभवसे मेरा यह मन्तव्य दृढ़ हुआ है, जितना मैं शुद्ध होनेकी कोशिश करता हूँ, उतना ही मैं ईश्वरके नजदीक जा रहा हूँ—ऐसी प्रतीति होती है । आज तो मेरी श्रद्धा यत्किंचित् ही कही जा सकती है, लेकिन जब वह हिमालय-जैसी अचल और उसकी चोटीपर बसनेवाले हिमकी तरह शुद्ध और स्वर्णमय बन जायगी, तब तो मैं उसके कितना नजदीक पहुँच जाऊँगा ? तबतक तो स्वर्गीय 'न्यू मैन' के शब्दोंमें हम गावें—

(१) हे दयामयी ज्योति !
(२) इस अँधेरेमें तू ही मेरा अगुआ बन ।
(३) रात अँधेरेसे छा गयी है ।
(४) मैं घरसे दूर-दूर भटक रहा हूँ ।
(५) तू ही मेरा अगुआ बन ।
(६) मेरे पैरोंको साबित रख ।
(७) मुझे दूरके दृश्यकी कोई दरकार नहीं है ।
(८) बस, मेरे लिये तो एक कदम ही काफी है ।

(२)

प्रार्थनाका महत्त्व

ईश्वर-प्रार्थनाने मेरी रक्षा की । प्रार्थनाके आश्रय बिना मैं कबका पागल हो गया होता । अन्य मनुष्योंकी भाँति मुझे भी अपने सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवनमें अनेक कटु अनुभव करने पड़े । उनके कारण मेरे अंदर कुछ समयके लिये एक प्रकारकी निराशा-सी छा गयी थी । उस निराशाको दूर करनेमें मुझे सफलता हुई तो वह प्रार्थनाके ही कारण हुई । सत्यकी भाँति प्रार्थना मेरे जीवनका अङ्ग बनकर नहीं रही है । इसका आश्रय तो मुझे आवश्यकतावश

लेना पड़ा । मेरी ऐसी अवस्था हो गयी कि मुझे प्रार्थनाके विना चैन पड़ना कठिन हो गया । ईश्वरके अंदर मेरा विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, प्रार्थनाके लिये मेरी व्याकुलता भी उतनी ही दुर्दमनीय हो गयी । प्रार्थनाके विना मुझे जीवन नीरस एवं शून्य-सा प्रतीत होने लगा ।

जब मैं दक्षिणी अफ्रीकामें था, उस समय मैं कई बार ईसाइयोंकी सामुदायिक प्रार्थनामें सम्मिलित हुआ, किंतु उसका मुझपर प्रभाव नहीं पड़ा । मेरे ईसाई मित्र ईश्वरके सामने अनुनय-विनय करते थे, किंतु मुझसे वैसा नहीं बन पड़ा । मुझे इस कार्यमें बिल्कुल असफलता रही । परिणाम यह हुआ कि ईश्वर एवं उसकी प्रार्थनामें मेरा विश्वास हिल गया और जबतक मेरी अवस्था परिपक्व न हो गयी, मुझे उसका अभाव बिल्कुल नहीं खला; परंतु अवस्था ढल जानेपर एक समय ऐसा आया, जब मेरी आत्माके लिये प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य हो गयी, जितना शरीरके लिये भोजन अनिवार्य है । सच पूछिये तो शरीरके लिये भोजन भी इतना आवश्यक नहीं है, जितनी आत्माके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता है; क्योंकि शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये कभी-कभी उपवास (भोजनका त्याग) आवश्यक हो जाता है, किंतु प्रार्थनारूप भोजनका त्याग किसी प्रकार भी हितकर अथवा वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता । प्रार्थनाका अजीर्ण तो कभी हो ही नहीं सकता ।

जगद्गुरुओंकी साक्षी

जगत्के तीन महान् गुरु गौतम बुद्ध, ईसा एवं मुहम्मदके लेखोंमें इस बातके अकाटय प्रमाण मिलते हैं कि उन्हें प्रार्थनासे ही

प्रकाश मिला और वे प्रार्थनाके बिना जीवित नहीं रह सकते थे। लाखों ईसाइयों, हिंदुओं तथा मुसल्मानोंको आज भी ईश्वर-प्रार्थनासे जितना आश्वासन मिलता है वैसा जीवनमें और किसी बातसे नहीं मिलता। आप अधिक-से-अधिक उन लोगोंको झूठा अथवा आत्म-वञ्चित कह सकते हैं। मैं तो यह कहूँगा कि यह झूठ मुझ सत्यान्वेषीपर जादूका-सा काम करती है, यदि झूठ ही हो तथापि वस्तुतः मेरे जीवनका एकमात्र यही सहारा रहा है, क्योंकि इसके बिना मैं एक पलभर भी जीवित नहीं रह सकता। राजनीतिक आकाश निराशाके बादलोंसे घिरा हुआ रहनेपर भी मेरी आन्तरिक शान्ति कभी भङ्ग नहीं हुई। अधिक क्या, लोग मेरी इस आन्तरिक शान्तिको देखकर मुझसे ईर्ष्या करने लगते हैं। यह शान्ति मुझे ईश्वर-प्रार्थनासे ही मिली और कहींसे नहीं।

मैं विद्वान् नहीं हूँ, मैंने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया है, किंतु मैं विनयपूर्वक इस बातका दावा करता हूँ कि मेरा जीवन प्रार्थनामय है। प्रार्थनाका प्रकार कैसा होना चाहिये, इस विषयमें मैं उदासीन हूँ। इसका निर्णय प्रत्येक मनुष्य अपने लिये स्वयं कर सकता है, किंतु मुझे प्रार्थनाके कई ऐसे ढंग मालूम हैं जिनका लोगोंने अनुसरण किया है और प्राचीन महात्माओंके बताये हुए मार्गपर चलना ही श्रेयस्कर होता है।

किसीके अंदर ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न करा देना मेरी शक्तिके बाहर है। संसारमें कई बातें ऐसी हैं, जो स्वतः सिद्ध हैं और कुछ

बातें ऐसी भी हैं, जो बिल्कुल सिद्ध ही नहीं हो सकतीं। रेखागणितके मूल सिद्धान्तों (Axioms) की भाँति ईश्वरकी सत्ता भी स्वयंसिद्ध है। सम्भव है कि हमारा हृदय उसे ग्रहण न कर सके। बुद्धिकी पहुँचके विषयमें तो मैं कुछ नहीं कहूँगा। बुद्धिका अवलम्बन बहुत करके भ्रमजनक होता है, क्योंकि तर्कपूर्ण युक्तियोंसे चैतन्यरूप ईश्वरके अंदर विश्वास उत्पन्न नहीं कराया जा सकता। ईश्वर बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है। वह बुद्धिसे परे है। हमारे पास बहुत-से ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे हम ईश्वरकी सत्ताको युक्तिसे सिद्ध कर सकते हैं; परंतु इस प्रकारका युक्तिपूर्ण समाधान पाठकोंकी बुद्धिका अपमान करना होगा। मैं आपलोगोंसे अनुरोध करूँगा कि आपलोग तार्किक युक्तियोंका आश्रय छोड़कर एक नन्हे-से बच्चेकी भाँति ईश्वरमें निश्छल विश्वास करना प्रारम्भ कर दें। यदि मेरा अस्तित्व है तो ईश्वरका अस्तित्व अवश्य है। केवल मेरे ही जीवनका नहीं, किंतु मेरे-जैसे अन्य लाखों मनुष्योंके जीवनका यह एक आवश्यक अङ्ग है। चाहे वे इसके विषयमें वाद-विवाद न कर सकें, किंतु उनके जीवनसे हम यह देख सकते हैं कि वह उनके जीवनका एक अङ्ग बन गया है।

श्रद्धा

मैं आपलोगोंसे केवल इतनी-सी प्रार्थना करता हूँ कि आपलोग इस विश्वासरूपी खण्डहरका जीर्णोद्धार कीजिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि आप उस प्रचुर साहित्यको भूल जाइये, जिसने आपकी बुद्धिको चौंधिया दिया है और आपके पायेको कमजोर बना

दिया है। श्रद्धाके मार्गमें दीक्षित हो जाइये, जो विनयका चिह्न है और इस बातको स्वीकार कीजिये कि हम कुछ नहीं जानते, हम इस विशाल ब्रह्माण्डके अंदर अणुसे भी अणु हैं। हम अणुसे भी अणु इसलिये हैं कि अणु अपनी सत्ताके नियमोंका पालन करता है किंतु हम ऐसे ढीठ हो गये हैं कि प्रकृतिके नियमोंकी अवहेलना करते हैं। जिन लोगोंमें श्रद्धाका अभाव है, उनको समझानेके लिये मेरे पास कोई युक्ति अथवा दलील नहीं है।

यदि एक बार आपने ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार कर लिया तो फिर आपसे प्रार्थना किये बिना रहा नहीं जायगा।

बहुत-से लोग यह धृष्टतापूर्ण दावा करते हैं कि हमारा समग्र जीवन ही प्रार्थनामय है, अतः हमें किसी निर्दिष्ट समयपर एकान्तमें बैठकर प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें इस प्रकारकी मूर्खता नहीं करनी चाहिये।

हमलोग तो किस गिनतीमें हैं, उन महापुरुषोंने भी, जिनकी वृत्ति निरन्तर ब्रह्माकार रहती थी, इस प्रकारका दावा नहीं किया। उनके जीवन वास्तवमें प्रार्थनामय थे; किंतु हमें यह कहना चाहिये कि हमारे लिये वे निश्चित समयपर प्रार्थना अवश्य करते थे और प्रतिदिन परमात्माके प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित करते थे। यह ठीक है कि ईश्वर यह नहीं चाहता कि हम प्रतिदिन अपनी शरणागतिका उसके सामने हवाला दें, किंतु हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हम ऐसा करेंगे तो फिर कोई भी दुःख हमें नहीं सतायेगा।

महामना पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय

जगत्‌में सबसे उत्तम और अवश्य जानने योग्य कौन है ?

ईश्वर

इस संसारमें सबसे पुराने ग्रन्थ वेद हैं। यूरोपके विद्वान् भी इस बातको मानते हैं कि ऋग्वेद कम-से-कम ४००० चार सहस्र वर्ष पुराना है और उससे पुराना कोई ग्रन्थ नहीं। ऋग्वेद पुकारकर कहता है कि सृष्टिके पहले यह जगत् अन्धकारमय था। उस तमके बीचमें और उससे परे केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयम्भू भगवान् विराजमान थे और उन्होंने उस अन्धकारमें अपनेको आप प्रकट किया और अपने तपसे अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्तिके संचालनसे सृष्टिको रचा। लिखा है—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

(ऋग्वेद अष्टक ८, अध्याय ७, वर्ग १७, मन्त्र ३)

इसी वेदके अर्थको मनु भगवान्‌ने लिखा है कि सृष्टिके पहले यह जगत् अन्धकारमय था। सब प्रकारसे सोता हुआ-सा दिखायी पड़ता था। उस समय जिनका किसी दूसरी शक्तिके द्वारा जन्म नहीं हुआ, जो आप अपनी शक्तिसे अपनी महिमामें सदासे वर्तमान हैं और रहेंगे, उन ज्ञानमय, प्रकाशमय स्वयम्भूने अपनेको आप प्रकट किया और उनके प्रकट होते ही अन्धकार मिट गया।

मनुस्मृतिमें लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥(१।५-७)

ऋग्वेद कहता है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(८।७।३।१)

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
(८।३।१६।१, २)

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥
(८।३।१७।३)

और भी श्रुति कहती है—

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐतरेय० १ । १ । १)

'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य० ६ । २ । १)

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌का वचन है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
(२ । ९ । ३२)

सृष्टिके आदिमें कार्य (स्थूल) और कारण (सूक्ष्म) से अतीत एकमात्र मैं ही था, मेरे सिवा और कुछ भी न था । सृष्टिके पश्चात् भी मैं ही रहता हूँ और यह जो जगत्प्रपञ्च दीख पड़ता है, वह भी मैं ही हूँ तथा सृष्टिका संहार हो जानेपर जो कुछ बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ ।

शिवपुराणमें भी लिखा है—

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन ।
संसृज्य विश्वं भुवनं गोप्तान्ते संचुकोच सः ॥
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः ।
तथैव विश्वतोबाहुर्विश्वतः पादसंयुतः ॥
द्यावाभूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः ।
स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा ॥
(७ । १ । ६ । १४-१६)

अचक्षुरपि यः पश्यत्यकर्णोऽपि शृणोति यः ।
सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहुः पुरुषं परम् ॥
(७ । १ । ६ । २३)

उस समय एक रुद्र ही थे, दूसरा कोई न था । उन जगत्-रक्षकने ही संसारकी रचना करके अन्तमें उसका संहार कर दिया ।

उनके चारों ओर नेत्र हैं, चारों ओर मुख हैं, चारों ओर भुजाएँ हैं तथा चारों ओर चरण हैं। पृथ्वी और आकाशको उत्पन्न करनेवाले एक महेश्वर देव ही हैं, वे ही सब देवताओंके कारण और उत्पत्ति-के स्थान हैं। जो विना आँख-कानके ही देखते और सुनते हैं, जो सबको जानते हैं तथा उन्हें कोई नहीं जानता, वे परम पुरुष कहे जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥

(१०। १४। २३)

वह एक ही आत्मा पुराण पुरुष, सत्य, स्वयंप्रकाशस्वरूप, अनन्त, सबका आदिकारण, नित्य, अविनाशी, निरन्तर सुखी, मायासे निर्लिप्त, अखण्ड, अद्वितीय, उपाधिसे रहित तथा अमर है।

सब वेद, स्मृति, पुराणके इसी तत्त्वको गोस्वामी तुलसीदासजीने थोड़े अक्षरोंमें यों कह दिया है—

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम जस गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बक्ता बड़ जोगी॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा तासु जाइ किमि बरनी॥

किंतु यह विश्वास कैसे हो कि ऐसा कोई परमात्मा है?

जो वेद कहते हैं कि यह परमात्मा है वही यह भी कहते हैं कि उसको हम आँखोंसे नहीं देख सकते।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
(श्वेताश्व० ४।२०)

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
(मु० उ० ३।१।८)

'ईश्वरको कोई आँखोंसे नहीं देख सकता, किंतु हममेंसे हर एक मनको पवित्र कर विमल बुद्धिसे ईश्वरको देख सकता है।' इसलिये जो लोग ईश्वरको मनकी आँखों (बुद्धि) से देखना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने शरीर और मनको पवित्र कर और बुद्धिको विमल कर ईश्वरकी खोज करें।

हम देखते क्या हैं ?

हमारे सामने जन्मसे लेकर शरीर छूटनेके समयतक बड़े-बड़े चित्र-विचित्र दृश्य दिखायी देते हैं जो हमारे मनमें इस बातके जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा उत्पन्न करते हैं कि वे कैसे उपजते हैं और कैसे विलीन होते हैं ! हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रातःकाल पौ-फट होते ही सहस्र किरणोंसे विभूषित सूर्यमण्डल पूर्व दिशामें प्रकट होता है और आकाश-मार्गसे विचरता, सारे जगत्को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता, सायंकाल पश्चिम दिशामें पहुँचकर नेत्रपथसे परे हो जाता है। गणितशास्त्रके जाननेवालोंने गणना कर यह निश्चय किया है कि यह सूर्य पृथिवीसे नौ करोड़ अट्ठाईस लाख तीस सहस्र मीलकी दूरीपर है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि यह इतनी दूरीसे इस पृथिवीके सब प्राणियोंको प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता है। ऋतु-ऋतुमें अपनी सहस्र किरणोंसे पृथिवीसे जलको खींचकर सूर्य आकाशमें ले जाता है और वहाँसे मेघका रूप बनाकर फिर जलको पृथिवीपर बरसा देता है और उसके द्वारा सब घास, पत्ती,

वृक्ष, अनेक प्रकारके अन्न और धान तथा समस्त जीवधारियोंको प्राण और जीवन देता है। गणित-शास्त्र बतलाता है कि जैसा यह एक सूर्य है ऐसे असंख्य और हैं और इससे बहुत बड़े-बड़े भी हैं, जो सूर्यसे भी अधिक दूर होनेके कारण हमको छोटे-छोटे तारोंके समान दिखायी देते हैं। सूर्यके अस्त होनेपर प्रतिदिन हमको आकाशमें अनगिनत तारे-नक्षत्र-ग्रह चमकते दिखायी देते हैं। सारे जगत्को अपनी किरणोंसे सुख देनेवाला चन्द्रमा अपनी शीतल चाँदनीसे रात्रिको ज्योतिष्मती करता हुआ आकाशमें सूर्यके समान पूर्व दिशासे पश्चिम दिशाको जाता है। प्रतिदिन रात्रिके आते ही दसों दिशाओंको प्रकाश करती हुई नक्षत्र-तारा-ग्रहोंकी ज्योति ऐसी शोभा धारण करती है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ये सब तारा-ग्रह सूतमें बँधे हुए गोलकोंके समान अलङ्घनीय नियमोंके अनुसार दिन-से-दिन, महीने-से-महीने, वर्ष-से-वर्ष, बँधे हुए मार्गोंमें चलते हुए आकाशमें घूमते दिखायी देते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि गर्मीकी ऋतुमें यदि सूर्य तीव्र रूपसे नहीं तपता तो वर्षाकालमें वर्षा अच्छी नहीं होती; यह भी प्रत्यक्ष है कि यदि वर्षा न हो तो जगत्में प्राणिमात्रके भोजनके लिये अन्न और फल न हों। इससे हमको स्पष्ट दिखायी देता है कि अनेक प्रकारके अन्न और फलद्वारा सारे जगत्के प्राणियोंके भोजनका प्रबन्ध मरीचिमाली सूर्यके द्वारा हो रहा है। क्या यह प्रबन्ध किसी विवेकवती शक्तिका रचा हुआ है जिसको स्थावर-जंगम सब प्राणियोंको जन्म देना और पालना अभीष्ट है अथवा यह केवल जड पदार्थोंके अचानक संयोगमात्रका परिणाम है? क्या यह परम आश्चर्यमय गोलक-मण्डल अपने-आप जड पदार्थोंके

एक दूसरेके खींचनेके नियममात्रसे उत्पन्न हुआ है और अपने-आप आकाशमें वर्ष-से-वर्ष, सदी-से-सदी, युग-से-युग घूम रहा है, अथवा इसके रचने और नियमसे चलानेमें किसी चैतन्य शक्तिका हाथ है? बुद्धि कहती है कि 'है', वेद भी कहते हैं कि 'है'। वे कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमाको, आकाश और पृथ्वीको परमात्माने रचा।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥

(ऋग्वेद ८। ८। ४८। ३)

प्राणियोंकी रचना

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्राणात्मक जगत्की रचना इस बातकी घोषणा करती है कि इस जगतका रचनेवाला एक ईश्वर है। यह चैतन्य जगत् अत्यन्त आश्चर्यसे भरा हुआ है। जरायुसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि; अण्डोंसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी; पसीने और मैलसे पैदा होनेवाले कीड़े; पृथिवीको फोड़कर उगनेवाले वृक्ष; इन सबकी उत्पत्ति, रचना और इनका जीवन परम आश्चर्यमय है। नर और नारीका समागम होता है। उस समागममें नरका एक अत्यन्त सूक्ष्म किंतु चैतन्य अंश गर्भमें प्रवेशकर नारीके एक अत्यन्त सूक्ष्म सचेत अंशसे मिल जाता है। इसको हम जीव कहते हैं। वेद कहते हैं कि—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

(श्वेता० ५। ९)

एक वालके आगेके भागके खड़े-खड़े सौ भाग कीजिये और उन सौमेंसे एकके फिर सौ खड़े-खड़े टुकड़े कीजिये और इसमेंसे एक टुकड़ा लीजिये तो आपको ध्यानमें आयेगा कि उतना सूक्ष्म जीव है। यह जीव गर्भमें प्रवेश करनेके समयसे शरीररूपसे वढ़ता है। विज्ञानके जाननेवाले विद्वानोंने अणुवीक्षण-यन्त्रसे देखकर यह वताया है कि मनुष्यके वीर्यके एक विन्दुमें लाखों जीवाणु होते हैं और उनमेंसे प्रायः एक ही गर्भमें प्रवेश पाकर टिकता और वृद्धि पाता है। नारीके शरीरमें ऐसा प्रवन्ध किया गया है कि यह जीव गर्भमें प्रवेश पानेके समयसे एक नलीके द्वारा आहार पावे, इसकी वृद्धिके साथ-साथ नारीके गर्भमें एक जलसे भरा थैला वनता जाता है, जो गर्भको चोटसे वचाता है। इस सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, अणु-से-अणु वालके आगेके भागके दस हजारवें भागके समान सूक्ष्म वस्तुमें यह शक्ति कहाँसे आती है कि जिससे यह धीरे-धीरे अपने माता और पिताके समान रूप, रंग और सव अवयवोंको धारण कर लेता है? कौन-सी शक्ति है, जो गर्भमें इसका पालन करती और इसको वढ़ाती है? यह क्या अद्भुत रचना है, जिससे वच्चेके उत्पन्न होनेके थोड़े समय पूर्व ही मातके स्तनोंमें दूध आ जाता है? कौन-सी शक्ति है, जो सव असंख्य प्राणवन्तोंको, सव मनुष्योंको, सव पशु-पक्षियों-को, सव कीट-पतंगोंको, सव पेड़-पल्लवोंको पालती है और उनको समयसे चारा और पानी पहुँचाती है? कौन-सी शक्ति है, जिससे चींटियाँ दिनमें भी और रातमें भी सीधी भीतपर चढ़ती चली जाती हैं? कौन-सी शक्ति है, जिससे छोटे-से-छोटे

और बड़े-से-बड़े पक्षी अनन्त आकाशमें दूर-से-दूरतक बिना किसी आधारके उड़ा करते हैं ?

नरों और नारियोंकी, मनुष्योंकी, गौओंकी, सिंहोंकी, हाथियोंकी, पक्षियोंकी, कीड़ोंकी सृष्टि कैसे होती है ? मनुष्योंसे मनुष्य, सिंहोंसे सिंह, घोड़ोंसे घोड़े, गौओंसे गौ, मयूरोंसे मयूर, हंसोंसे हंस, तोतोंसे तोते, कबूतरोंसे कबूतर, अपने-अपने माता-पिताके रंग-रूप-अवयव लिये हुए कैसे उत्पन्न होते हैं ? छोटे-से-छोटे बीजोंसे किसी अचिन्त्य शक्तिसे बढ़ाये हुए बड़े और छोटे असंख्य वृक्ष उगते हैं तथा प्रतिवर्ष और बहुत वर्षोंतक पत्ती, फल, फूल, रस, तैल, छाल और लकड़ीसे जीवधारियोंको सुख पहुँचाते, सैकड़ों, सहस्रों स्वादु, रसीले फलोंसे उनको तृप्त और पुष्ट करते, बहुत वर्षोंतक श्वास लेते, पानी पीते, पृथिवीसे और आकाशसे आहार खींचते आकाशके नीचे झूमते-लहराते रहते हैं ?

इस आश्चर्यमयी शक्तिकी खोजमें हमारा ध्यान मनुष्यके रचे हुए एक घरकी ओर जाता है। हम देखते हैं, हमारे सामने यह एक घर बना हुआ है। इसमें भीतर जानेके लिये एक बड़ा द्वार है। इसमें अनेक स्थानोंमें पवन और प्रकाशके लिये खिड़कियाँ तथा झरोखे हैं। भीतर बड़े-बड़े खंभे और दालान हैं। धूप और पानी रोकनेके लिये छतें और छज्जे बने हुए हैं। दालान-दालानमें, कोठरी-कोठरीमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे मनुष्यको सुख पहुँचानेका प्रबन्ध किया गया है। घरके भीतरसे पानी बाहर निकालनेके लिये नालियाँ बनी हुई हैं। ऐसे विचारसे घर बनाया गया है कि रहनेवालोंको सब ऋतुमें सुख देवे। इस घरको देखकर

हम कहते हैं कि इसका रचनेवाला कोई चतुर पुरुष था, जिसने रहनेवालोंके सुखके लिये जो-जो प्रबन्ध आवश्यक था, उसको विचारकर घर रचा। हमने रचनेवालेको देखा भी नहीं, तो भी हमको निश्चय होता है कि घरका रचनेवाला कोई था या है और वह ज्ञानवान्, विचारवान् पुरुष है।

अब हम अपने शरीरकी ओर देखते हैं। हमारे शरीरमें भोजन करनेके लिये मुँह बना है। भोजन चबानेके लिये दाँत हैं। भोजनको पेटमें पहुँचानेके लिये गलेमें नाली बनी है। उसीके पास पवनके मार्गके लिये एक दूसरी नाली बनी हुई है। भोजनको रखनेके लिये उदरमें स्थान बना है। भोजन पचकर रुधिरका रूप धारण करता है, वह हृदयमें जाकर इकट्ठा होता है और वहाँसे सिरसे पैरतक सब नसोंमें पहुँचकर मनुष्यके सम्पूर्ण अङ्गको शक्ति, सुख और शोभा पहुँचाता है। भोजनका जो अंश शरीरके लिये आवश्यक नहीं है, उसके मल होकर बाहर जानेके लिये मार्ग बना है। दूध, पानी या अन्य रसका जो अंश शरीरको पोसनेके लिये आवश्यक नहीं है, उसके निकलनेके लिये दूसरी नाली बनी हुई है। देखनेके लिये हमारी दो आँखें, सुननेके लिये दो कान, सूँघनेको नासिकाके दो रन्ध्र और चलने-फिरनेके लिये हाथ पैर बने हैं। संतानकी उत्पत्तिके लिये जनन-इन्द्रियाँ हैं। हम पूछते हैं—क्या यह परम आश्चर्यमय रचना केवल जड पदार्थोंके संयोगसे हुई है या इसके जन्म देनेमें और वृद्धिमें, हमारे घरके रचयिताके समान किंतु उससे अनन्तगुण अधिक किसी ज्ञानवान्, विवेकवान्, शक्तिमान् आत्माका प्रभाव है ?

मन और वाणीकी अद्भुत शक्तियाँ

इसी विचारमें डूबते और उतराते हुए हम अपने मनकी ओर ध्यान देते हैं तो हम देखते हैं कि हमारा मन भी एक आश्चर्यमय वस्तु है। इसकी—हमारे मनकी विचारशक्ति, कल्पनाशक्ति, गणनाशक्ति, रचनाशक्ति, स्मृति, धी, मेधा सब हमको चकित करती हैं। इन शक्तियोंसे मनुष्यने क्या-क्या ग्रन्थ लिखे हैं, कैसे-कैसे काव्य रचे हैं, क्या-क्या विज्ञान निकाले हैं, क्या-क्या आविष्कार किये हैं और कर रहे हैं। यह थोड़ा आश्चर्य नहीं उत्पन्न करता। हमारी बोलने और गानेकी शक्ति भी हमको आश्चर्यमें डुबा देती है। हम देखते हैं कि यह प्रयोजनवती रचना सृष्टिमें सर्वत्र दिखायी पड़ती है और यह रचना ऐसी है कि जिसके अन्त तथा आदिका पता नहीं चलता। इस रचनामें एक-एक जातिके शरीरियोंके अवयव ऐसे नियमसे बैठाये गये हैं कि सारी सृष्टि शोभासे पूर्ण है। हम देखते हैं कि सृष्टिके आदिसे सारे जगत्‌में एक कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है, जो सदासे चली आयी है, सर्वत्र व्याप्त है और अविनाशी है।

हमारी बुद्धि विवश होकर इस बातको स्वीकार करती है कि ऐसी ज्ञानात्मिका रचनाका कोई आदि, सनातन, अज, अविनाशी, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, जगत्-व्यापक, अनन्त-शक्ति-सम्पन्न रचयिता है। उसी एक अनिर्वचनीय शक्तिको हम ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान्, वासुदेव, शिव, राम, कृष्ण, विष्णु, जिहोवा, गॉड, खुदा, अल्लाह आदि सहस्रों नामोंसे पुकारते हैं।

वह परमात्मा एक ही है

वेद कहते हैं—

'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य ६ । २ । १)

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद २ । ३ । २२ । ४६)

'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'

एक ही परमात्मा है, कोई उसका दूसरा नहीं । एकको ही विप्रलोग बहुत-से नामोंसे वर्णन करते हैं । है एक ही, किन्तु उसको बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं ।

विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम इस बातके प्रसिद्ध उदाहरण हैं । युधिष्ठिरने पितामह भीष्मसे पूछा कि 'बताइये, लोकमें वह कौन एक देवता है ? कौन सब प्राणियोंका सबसे बड़ा एक शरण है ? कौन वह है जिसकी स्तुति करते, जिसको पूजते मनुष्यका कल्याण होता है ?

इसके उत्तरमें पितामहने कहा—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ॥
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ।
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥

(महा० अनु० १४९ । ४–७)

अर्थात् 'मनुष्य प्रतिदिन उठकर सारे जगत्के स्वामी, देवताओंके देवता, अनन्त पुरुषोत्तमकी सहस्र नामोंसे स्तुति करे। सारे लोकके महेश्वर, लोकके अध्यक्ष (अर्थात् शासन करनेवाले), सर्वलोकमें व्यापक विष्णुकी, जो न कभी जन्मे हैं, न जिनका कभी मरण होगा, नित्य स्तुति करता हुआ मनुष्य सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। जो सबसे बड़ा तेज है, जो सबसे बड़ा तप है, सबसे बड़े ब्रह्म हैं और जो सब प्राणियोंके सबसे बड़े शरण हैं। जो पवित्रोंमें सबसे पवित्र, सब मङ्गल बातोंके मङ्गल, देवताओंके देवता और सब प्राणिमात्रके अविनाशी पिता हैं।'

इससे स्पष्ट है कि विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम तथा और ऐसे स्तोत्र सब एक ही परमात्माकी स्तुति करते हैं। और मनुष्यमात्रको उचित है कि नित्य सायं-प्रातः उस परमात्माका ध्यान करे और उसकी स्तुति करे।

उसी एककी तीन संज्ञा हैं

ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये उसी एक परमात्माकी तीन संज्ञा अर्थात् नाम हैं। विष्णुपुराणमें लिखा है—

> सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्।
> स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
>
> (१। २। ६६)

वे एक ही जनार्दन भगवान् सृष्टि, पालन और संहार करनेवाली ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव नामकी तीन संज्ञा प्राप्त करते हैं।

यही बात बृहन्नारदीय पुराणमें भी लिखी है—

नारायणोऽक्षरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
तेनेदमखिलं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
तमादिदेवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम् ।
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदुच्यते ॥
(१ । २ । २, ५)

भगवान् नारायण अविनाशी, अनन्त, सर्वत्र व्यापक तथा मायासे अलिप्त हैं, यह स्थावर-जङ्गमरूप सारा संसार उनसे व्याप्त है । उन जरारहित आदिदेवताको कोई शिव, कोई सदा सत्यस्वरूप विष्णु और कोई ब्रह्मा कहते हैं ।

इसी प्रकार शिवपुराणमें स्वयं महेश्वरका वचन है—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्माविष्णुहराख्यया ।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलोऽहं सदा हरे ॥
अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति ।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत् ॥
(२ । १ । ९ । २८, ३८)

हे विष्णो ! सृष्टि, पालन तथा संहार इन तीन गुणोंके कारण मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामक तीन भेदसे युक्त हूँ । हे हरे ! वास्तवमें मेरा स्वरूप सदा भेदहीन है । मैं, आप, यह (ब्रह्मा) तथा रुद्र और आगे जो कोई भी होंगे, इन सबका एक ही रूप है, उनमें कोई भेद नहीं है, भेद माननेसे बन्धन होता है ।

श्रीमद्भागवतमें भी स्वयं भगवान्‌का वचन है—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥
(४ । ७ । ५०-५१)

हम, ब्रह्मा और शिव संसारके परम कारण हैं, हम सबके आत्मा, ईश्वर, साक्षी, स्वयंप्रकाश और निर्विशेष हैं । हे ब्राह्मण ! वह मैं (विष्णु) अपनी त्रिगुणमयी मायामें प्रवेश करके संसारकी सृष्टि, रक्षा तथा प्रलय करता हुआ भिन्न-भिन्न कार्योंके अनुसार नाम धारण करता हूँ ।

इसलिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनको भिन्न-भिन्न मानना भूल है । ये एक ही परमात्माकी तीन संज्ञा हैं ।

इसीलिये शिवपुराणमें भी लिखा है—

शिवो महेश्वरश्चैव रुद्रो विष्णुः पितामहः ।
संसारवैद्यः सर्वज्ञः परमात्मेति मुख्यतः ॥
नामाष्टकमिदं नित्यं शिवस्य प्रतिपादकम् ।
(६ । ९ । १-२)

शिव, महेश्वर, रुद्र, विष्णु, पितामह, संसार-वैद्य, सर्वज्ञ और परमात्मा—ये आठ नाम मुख्यरूपसे शिवके बोधक हैं ।

इसलिये यह स्पष्ट है 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' 'ॐ नमो नारायणाय' 'ॐ नमः शिवाय' 'श्रीरामाय नमः' 'श्रीकृष्णाय नमः'—ये सब मन्त्र एक ही परमात्माकी वन्दना हैं ।

उस परमात्माका क्या रूप है ?

वेद कहते हैं—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' (तैत्ति० २ । १ । १)

वह ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है ।

श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः ।
(२ । ६ । ३९, ४०)

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥
(३ । ३२ । २६)

ब्रह्म सत्य है, सदा रहा है, है भी, सदा रहेगा भी । वह ज्ञानमय, चैतन्य और आनन्दस्वरूप है । उसका स्वयं शरीर नहीं है, किंतु विनाशवान् शरीरोंमें पैठकर वह संसारकी लीला कर रहा है । वह केवल निर्मल ज्ञानस्वरूप है, पूर्ण है । उसका आदि नहीं, अन्त नहीं । वह नित्य और अद्वितीय है । एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें दिखायी देता है ।

दूसरे स्थानमें कहा है—

शरीरोंके भीतर बैठा हुआ आत्मा पुराणपुरुष साक्षात् स्वयं-प्रकाश, अज, परमेश्वर, नारायण, भगवान् वासुदेव अपनी मायासे अपने रचित शरीरोंमें रम रहा है ।

ब्रह्मका पूर्ण और अत्यन्त हृदयग्राही निरूपण—वेद, उप-निषद् और पुराणोंका सारांश—श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तीसरे अध्यायमें दिया हुआ है ।

राजा जनकने ऋषियोंसे कहा—'हे ऋषिगण ! आपलोग ब्रह्म-ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव आप मुझे यह बताइये कि जिनको नारायण कहते हैं, उन परब्रह्म परमात्माका ठीक स्वरूप क्या है ?'

पिप्पलायन ऋषिने कहा—'हे नृप ! जो इस विश्वके सृजन, पालन और संहारका कारण है, परंतु स्वयं जिसका कोई कारण नहीं है; जो स्वप्न, जागरण और गहरी नींदकी दशाओंमें भीतर और बाहर भी वर्तमान रहता है; देह, इन्द्रिय, प्राण और हृदय आदि जिससे संजीवित होकर अर्थात् प्राण पाकर अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, उसी परमतत्त्वको नारायण जानो। जैसे चिनगारियाँ अग्निमें प्रवेश नहीं पा सकतीं, वैसे ही मन, वाणी, आँखें, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियाँ उस परमतत्त्वका ज्ञान ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं और वहाँतक पहुँच न सकनेके कारण उसका निरूपण नहीं कर सकतीं।

वह परमात्मा कभी जन्मा नहीं, न वह कभी मरेगा, न वह कभी बढ़ता है और न घटता है; जन्म-मरण आदिसे रहित वह सब बदलती हुई अवस्थाओंका साक्षी है एवं सर्वत्र व्याप्त है, सब कालमें रहा है और रहेगा, अविनाशी है और ज्ञानमात्र है। जैसे प्राण एक है तो भी इन्द्रियोंके भिन्न होनेसे आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नाक सूँघती है इत्यादि भावोंके कारण एक दूसरेसे भिन्न प्रतीत होते हैं, ऐसे ही आत्मा एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न देहोंमें अवस्थित होनेके कारण भिन्न प्रतीत होता है।

जितने जीव जरायुसे उत्पन्न होते हैं—मनुष्य, गौ, घोड़े, हाथी, सिंह, कुत्ते, भेड़, बकरी आदि, जो पक्षीवर्ग अण्डोंसे उत्पन्न होते हैं, जो कीटवर्ग पसीने, मैल आदिसे उत्पन्न होते हैं और जो वृक्षवर्ग (पेड़-विटप) पृथिवीको फोड़कर उगते हैं, इन सबोंमें—सम्पूर्ण सृष्टिमें—जहाँ-जहाँ जीवके साथ प्राण दौड़ता हुआ दिखायी

देता है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म है। जब सब इन्द्रियाँ सो जाती हैं, जब 'मैं हूँ' यह अहंभाव भी लीन हो जाता है, उस समय जो निर्विकार साक्षीरूप हमारे भीतर बैठा हुआ ध्यानमें आता है और जिसका हमारे जागनेकी अवस्थामें 'हम अच्छे सोये' 'यह सपना देखा' इस प्रकारकी स्मृति होती है, वही ब्रह्म है इत्यादि।

यह ब्रह्म कहाँ है ?

वेद कहते हैं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेता० ६।११)

एक ही परमात्मा सब प्राणियोंके भीतर छिपा हुआ है, सबमें व्याप्त हो रहा है, सब जीवोंके भीतरका अन्तरात्मा है, जो कुछ कार्य सृष्टिमें हो रहा है उसका वह नियन्ता है। सब प्राणियोंके भीतर बस रहा है, सब संसारके कार्योंका साक्षीरूपमें देखनेवाला, चैतन्य, केवल एक, जिसका कोई जोड़ नहीं और जो गुणोंके दोषसे रहित है।

वेद, स्मृति, पुराण कहते हैं कि यह देवोंका देव अग्निमें, जलमें, वायुमें, सारे भुवनमें, सब ओषधियोंमें, सब वनस्पतियोंमें सब जीवधारियोंमें व्याप रहा है।

कहते हैं—

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।

हृदा हृदिस्थं मनसा य एव-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

(श्वेता० ४ । १७, २०)

—वह परमदेव विश्वका रचनेवाला सदा प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। अपने-अपने हृदयमें स्थित इस महात्माको जो शुद्ध हृदयसे, विमल मनसे अपनेमें विराजमान देखते हैं, वे अमर होते हैं।

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

(श्वेता० ६ । ९)

लोकमें न उसका कोई स्वामी है, न उसके ऊपर आज्ञा चलानेवाला है, न उसका कोई चिह्न है। वही सबका कारण है, उसका कोई कारण नहीं, उसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं, न उसका कोई रक्षक है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

(श्वेता० ६ । ७)

उस सब सामर्थ्य और अधिकार रखनेवालोंके सबसे बड़े परम ईश्वर, देवताओंके सबसे बड़े देवता, स्वामियोंके सबसे बड़े स्वामी, सारे त्रिभुवनके स्वामी, परम पूजनीय देवको हमलोगोंने जाना है।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सोऽहं सच्चिदानंदघन रामा । अज विग्यानरूप बलधामा ॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता । अखिल अमोघ सक्ति भगवंता ॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता । समदरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्मल निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुखसंदोहा ॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥
इहाँ मोहकर कारन नाहीं । रवि-सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥

सूरदासजीने कहा है—

जगत्पिता जगके आधार ।
तुम सबके गुरु सबके स्वामी,
तुम सबहिनके अन्तर्जामी ॥
हम सेवक तुम जगत अधार,
नमो नमो तुम्हें बारंबार ।
सर्व सक्ति तुम सर्व अधार,
तुम्हें भजै सो उतरै पार ॥
घट-घट माँहिं तुम्हारो वास,
सर्व ठौर जिमि दीप-प्रकास ।
एहि विधि तुमको जानै जोई,
भक्त रु ज्ञानी कहिये सोई ॥
जगत-पिता तुम ही हो ईस,
याते हम विनवत जगदीस ।
तुमसम द्वितिय और नहिं आहि,
पटतर देहि नाथ हम काहि ॥
नाथ कृपा अब हमपर कीजै,
भक्ति आपनी हमको दीजै ।
प्रेम भक्ति विन कृपा न होइ,
सर्व शास्त्रमें देखै जोइ ॥

तपसी तुमको तप करि पावैं,
सुनि भागवत गृही गुन गावैं।
कर्मयोग करि सेवत कोई,
ज्यों सेवैं त्यों ही गति होई॥
तीन लोक हरि करि विस्तार,
ज्योति आपनी करि उँजियार।
जैसा कोऊ गेह सँवार,
दीपक बारि करै उँजियार॥
त्यों हरि-ज्योति आप प्रकटाई,
घट-घटमें सोई दरसाई।
नाथ तुम्हारी ज्योति-अभास,
करत सकल जगको परकास॥
थावर-जंगम जहलौं भये,
ज्योति तुम्हारी चेतन किये।
तुम सब ठौर सबनतें न्यारे,
को लखि सकै चरित्र तुम्हारे॥
सो प्रकास तुम साजे सदा,
जीव कर्म करि बंधन बँधा।
सर्वव्यापी तुम सब ठाहर,
तुमहिं दूर जानत नर नाहर॥
तुम सबके प्रभु अन्तर्जामी,
जीव बिसर रह्यो तुमको स्वामी॥

यह परमात्मा जीवरूपमें प्रत्येक जीवधारीके हृदयके बीचमें विराजमान है।

ईस्वर-अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
(१८।६१)

हे अर्जुन! ईश्वर सब जीवोंके हृदयमें रहते हैं।

इस विषयमें याज्ञवल्क्य मुनिने सब वेदोंका तत्त्व यों वर्णन किया है—

एक सौ चौवालीस सहस्र हित और अहित नामकी नाड़ियाँ प्रत्येक मनुष्यके हृदयसे शरीरमें दौड़ी हुई हैं। उसके बीचमें चन्द्रमाके समान प्रकाशवाला एक मण्डल है, उसके बीचमें अचल दीपके समान आत्मा विराजमान है, उसीको जानना चाहिये। उसीका ज्ञान होनेसे मनुष्य आवागमनसे मुक्त होता है।

यह आत्मा मनुष्यसे लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-विटप समस्त छोटे-बड़े जीवधारियोंमें समानरूपसे विराजमान है।

वेदव्यासजी कहते हैं—

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र समं तत् सर्वजन्तुषु।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा॥

ब्रह्मकी ज्योति अपने भीतर ही है, वह सब जीवधारियोंमें एक-सम है, मनुष्य मनको अच्छी तरह शान्त और स्थिर कर उसीसे उसको देख सकता है।

गीतामें स्वयं भगवान्‌का वचन है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
(१३।२७)

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥
(१३ । १७)

वही पण्डित है, जो विनाश होते हुए मनुष्योंके बीचमें विनाश न होते हुए सब जीवधारियोंमें बैठे हुए परमेश्वरको देखता है।

सब ज्योतियोंकी वह ज्योति, समस्त अन्धकारके परे चमकता हुआ, ज्ञानस्वरूप, जाननेके योग्य, जो ज्ञानसे पहचाना जाता है, ऐसा वह परमात्मा सबका सुहृद्, सब प्राणियोंके हृदयमें बैठा है।

ऐसे घट-घट-व्यापक उस एक परमात्माकी मनुष्यमात्रको विमल भक्तिके साथ उपासना करनी चाहिये और यह ध्यानकर कि वह प्राणिमात्रमें व्याप्त है, प्राणिमात्रसे प्रीति करनी चाहिये। सब जीवधारियोंको प्रेमकी दृष्टिसे देखना चाहिये। जैसा कि भक्तशिरोमणि प्रह्लादजीने कहा है—

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः ।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ७ । ५३-५५)

अतएव हे दानवो ! सबको अपने ही समान सुख-दुःख होता है, ऐसी बुद्धि धारण करके सब प्राणियोंके आत्मा और ईश्वर भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करो। दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र,

व्रजवासी गोपाल, पशु-पक्षी और अन्य पातकी जीव भी भगवान्
अच्युतकी भक्तिसे निस्सन्देह मोक्षको प्राप्त हो गये हैं। गोविन्द
भगवान्‌के प्रति एकान्त भक्ति करना और चराचर समस्त प्राणियोंमें
भगवान् है—ऐसी भावना करना ही इस लोकमें सबसे उत्तम स्वार्थ है।

सनातनधर्मका मूल

भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः।
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम् ॥

यह ज्ञान कि भगवान् वासुदेव सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित
है, सम्पूर्ण सनातनधर्मका सदासे चला आता हुआ और सदा रहनेवाला
मूल है। इसी ज्ञानको भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे गीतामें कहा है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु' (९। २९)

मैं सब प्राणियोंमें एक हूँ। तथा यह कि—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(गीता ५। १८)

विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मणमें, गौ-बैलमें, हाथीमें, कुत्तेमें
और चाण्डालमें पण्डित लोग समदर्शी होते हैं, अर्थात् सुख-दुःखके
विषयमें उनको समानभावसे देखते हैं। तथा यह भी कि—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६। ३२)

जो पुरुष सबके सुख-दुःखके विषयमें अपनी उपमासे समान
दृष्टिसे देखता है, उसीको सबसे बड़ा योगी समझना चाहिये।
इसीलिये महर्षि वेदव्यासजीने कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

(विष्णुधर्मोत्तर० ३ । २५३ । ४४)

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

(महा० अनु० ११३ । ८)

सुनो धर्मका सर्वस्व और सुनकर इसके अनुसार आचरण करो । जो अपनेको प्रतिकूल जान पड़े, जिस बातसे अपनेको पीड़ा पहुँचे, उसको दूसरोंके प्रति न करो ।

दूसरेके प्रति हमको वह काम नहीं करना चाहिये, जिसको यदि दूसरा हमारे प्रति करे तो हमको बुरा मालूम हो या दुःख हो । संक्षेपमें यही धर्म है, इसके अतिरिक्त दूसरे सब धर्म किसी बातकी कामनासे किये जाते हैं ।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ॥

(महा० शां० ५९ । २२)

जो चाहता है कि मैं जीऊँ, वह कैसे दूसरेका प्राण हरनेका मन करे ? जो-जो बात मनुष्य अपने लिये चाहता है, उसको चाहिये कि वही-वही बात औरोंके लिये भी सोचे ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय धर्म—जिनका सब समयमें पालन करना सब प्राणियोंके लिये विहित है और जिनके उल्लङ्घन करनेसे आदमी नीचे गिरता है, इन्हीं सिद्धान्तोंपर स्थित हैं । इन्हीं सिद्धान्तोंपर वेदोंमें गृहस्थोंके लिये पञ्चमहायज्ञका विधान किया गया है कि जो भूलसे भी किसी निर्दोष जीवकी हिंसा हो जाय तो हम उसका

प्रायश्चित्त करें । जो हिंसक जीव हैं, जो हमारा या किसी दूसरे निर्दोष प्राणीका प्राणाघात करना चाहते हैं या उनका धन हरना या धर्म बिगाड़ना चाहते हैं, जो हमपर या हमारे देशपर, हमारे गाँवपर आक्रमण करते हैं या जो आग लगाते हैं या किसीको विष देते हैं—ऐसे लोग आततायी कहे जाते हैं । अपने या अपने किसी भाई या बहिनके प्राण, धन, धर्म, मानकी रक्षाके लिये ऐसे आततायी पुरुषों या जीवोंका, आवश्यकताके अनुसार आत्मरक्षाके सिद्धान्तपर वध करना धर्म है । निरपराधी अहिंसक जीवोंकी हिंसा करना अधर्म है ।

इसी सिद्धान्तपर वेदके समयसे हिंदू लोग सारी सृष्टिके निर्दोष जीवोंके साथ सहानुभूति करते आये हैं । गौको हिंदू लोकमाता कहते हैं, क्योंकि वह मनुष्य-जातिको दूध पिलाती है और सब प्रकारसे उनका उपकार करती है इसलिये उसकी रक्षा करना तो मनुष्यमात्रका विशेष कर्त्तव्य है, किंतु किसी भी निर्दोष या निरपराध प्राणीको मारना, किसीका धन या प्राण हरना, किसीके प्रति अत्याचार करना, किसीको झूठसे ठगना, ऊपर लिखे धर्मके परम सिद्धान्तके अनुसार अकार्य अर्थात् न करनेकी बातें हैं । और अपने समान सुख-दुःखका अनुभव करनेवाले जीवधारियोंकी सेवा करना, उनका उपकार करना, यह त्रिकालमें सार्वलौकिक सत्य धर्म है ।

इसी मूल सिद्धान्तके अनुसार वेदधर्मके माननेवालोंको उपदेश दिया गया है कि न केवल मनुष्योंको किंतु पशु-पक्षियों तथा समस्त जीवोंको बलिवैश्वदेवके द्वारा नित्य कुछ आहार पहुँचाना अपना धर्म समझें । यह बात नीचे लिखे श्लोकोंसे स्पष्ट है ।

वलिवैश्वदेवके श्लोक

ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचौ पुनः।
दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत् समाहितः॥
देवा मनुष्याः पशवो वयांसि
सिद्धाः सयक्षोरगभूतसङ्घाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता
ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या
वुभुक्षिताः कर्मनिवन्धवद्धाः।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं
तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु॥
भूतानि सर्वाणि तथान्नमेत-
दहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति।
तस्मादहं भूतनिकायभूत-
मन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम्॥
चतुर्दशो भूतगणो य एष
तत्र स्थिता येऽखिलभूतसङ्घाः।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं
तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु॥
इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितम्।
भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः॥

(विष्णुपु० ३ । ११ । ५०—५२, ५४—५६)

और-और यज्ञोंको करनेके वाद मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार दूसरा अन्न ले पृथिवीके पवित्र भागमें रख फिर सावधानतापूर्वक

समस्त जीवोंके लिये बलि दे। और यों कहे—'देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, सर्प, नाग, अन्य भूत-समूह, प्रेत, पिशाच तथा सम्पूर्ण वृक्ष एवं चींटी, कीड़े और पतंगे आदि जीव जो कर्मबन्धनमें बँधे हुए भूखे तड़प रहे हों और मुझसे अन्न चाहते हों, उनके लिये यह अन्न मैंने रख छोड़ा है, इससे उनकी तृप्ति हो और वे सुखी हों। सब जीव, यह अन्न और मैं सब विष्णु ही हैं, उनसे अन्य कुछ भी नहीं है, इस कारण मैं जीवोंके शरीरभूत इस अन्नको उन प्राणियोंकी रक्षाके लिये देता हूँ। यह जो चौदह प्रकारका भूतोंका समुदाय है, इसमें जो सम्पूर्ण जीव-समूह स्थित हैं, उनकी तृप्तिके लिये मैंने यह अन्न दिया है। वे प्रसन्न हों।' मनुष्य यों कहकर प्राणियोंके उपकारार्थ पृथ्वीपर श्रद्धापूर्वक अन्न दे, क्योंकि गृहस्थ सबका आधार होता है।

इसी धर्मके अनुसार सनातनधर्मी नित्य तर्पण करनेके समय न केवल अपने पितरोंका तर्पण करते हैं किंतु समस्त ब्रह्माण्डके जीवधारियोंका। यह नीचे लिखे श्लोकोंसे विदित है, यथा—

देवाः सुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डास्तरवः खगाः॥
जलेचरा भूनिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद् दीयते सलिलं मया॥
ये बान्धवाबान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु यश्चास्मत्तोयमिच्छति॥

(विष्णुपु० ३। ११। ३३—३६)

देवता, दैत्य, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, वृक्ष-वर्ग, पक्षीगण, जलमें रहनेवाले जीव, विलमें रहनेवाले जीव, वायुके आधारपर रहनेवाले जन्तु, ये सव मेरे दिये हुए जलसे तृप्त हों। समस्त नरकोंकी यातनामें जो प्राणी दुःख भोग रहे हैं, उनके दुःख शान्त करनेकी इच्छासे मैं यह जल देता हूँ। जो मेरे वन्धु-वान्धव रहे हों और जो वान्धव न रहे हों और जो किसी और जन्ममें मेरे वान्धव रहे हों, उनकी तृप्तिके लिये और उनकी भी तृप्तिके लिये जो मुझसे जल पानेकी इच्छा रखते हों, मैं यह जल अर्पण करता हूँ।

वैश्वदेवमें जो अन्न कुत्ते और कौओंके लिये निकाला जाता है, उसको छोड़कर शेष वलिकी मात्रा वहुत कम होती है, इसलिये वह 'सर्वभूतेभ्यः' सव प्राणियोंको पहुँच नहीं सकता। तथापि यह जानते हुए भी—वलिवैश्वदेवका करना प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य इसलिये माना गया है कि वह उस पवित्र, उदार भावको प्रकट करता है कि मनुष्य मानता है कि उसका सव जीवधारियोंसे भाईपनका सम्वन्ध है और इस भावको आँसुओंके समान प्रेमके जलसे नित्य सींचकर जगत्के आकाशमें जीवधारीमात्रमें परस्पर भाईपनका भाव स्थापित करनेका उत्कृष्ट और प्रशंसनीय मार्ग है।

इस धर्मकी उदारताकी प्रशंसा कौन कर सकता है? इसकी उदारता इस धर्मके वड़े-से-वड़े परम पूजित आचार्य महर्षि वेद-व्यासकी, जो 'सर्वभूतहिते रतः' सव प्राणियोंके हितमें निरत रहते थे, इस प्रार्थनासे भी प्रकट है कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग रहें, सब सुख-सौभाग्य देखें, कोई दुखी न हो।

उसी धर्मके प्राणाधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने सारे जगत्के प्राणियोंको यह निमन्त्रण दे दिया है कि—'सब और धर्मोंको छोड़कर तुम मुझ एककी शरणमें आओ। मैं तुमको सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। सोच मत करो।'

उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। २९—३२)

'मैं सब प्राणियोंके लिये समान हूँ। न मैं किसीका द्वेष करता हूँ, न कोई मेरा प्यारा है। जो मुझको भक्तिसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ; पापी-से-पापी भी क्यों न हो यदि वह और सबको छोड़कर मेरा ही भजन करता है तो उसको

साधु ही मानना चाहिये। थोड़े ही समयमें वह धर्मात्मा हो जायगा और उसको शाश्वती शान्ति मिल जायगी। हे अर्जुन! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जो कोई मेरा भक्त है, उसका बुरा नहीं होगा। हे कुन्तीके पुत्र! मेरी शरणमें आकर जो पापयोनिसे उत्पन्न प्राणी भी हैं और स्त्री, वैश्य और शूद्र—ये भी निश्चय सबसे ऊँची गतिको पावेंगे।'

धन्य हैं वे लोग जिनको इस पवित्र और लोक-प्रेमसे पूर्ण धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ है। मेरी यह प्रार्थना है कि इस ब्रह्म-ज्योतिकी सहायतासे सब धर्मशील जन अपने ज्ञानको विशुद्ध और अविचल कर और अपने उत्साहको नूतन और प्रबल कर सारे संसारमें इस धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करें और समस्त जगत्‌को यह विश्वास करा दें कि सबका ईश्वर एक ही है और वह अंशरूपसे न केवल सब मनुष्योंमें किंतु समस्त जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष और विटप सबमें समानरूपसे अवस्थित है और उसकी सबसे उत्तम पूजा यही है कि हम प्राणिमात्रमें ईश्वरका भाव देवें, सबसे मित्रताका भाव रक्खें और सबका हित चाहें। सार्वजनीन प्रेमसे इस सत्य ज्ञानके प्रचारसे ईश्वरीय शक्तिका संगठन और विस्तार करें। जगत्‌से अज्ञानको दूर करें, अन्याय और अत्याचार-को रोकें और सत्य, न्याय और दयाका प्रचार कर मनुष्योंमें परस्पर प्रीति, सुख और शान्ति बढ़ावें।

स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज

पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षाके फलस्वरूप जितनी विजातीय चीजें हमारे देशमें बाहरसे आयी हैं, उनमें एक 'नास्तिकता' भी है। आजकलके शिक्षित कहलानेवाले लोगोंमें हम इसका काफी प्रभाव देखते हैं। उसके चक्करमें आकर इन लोगोंने ईश्वर और धर्मपरसे अपनी आस्था खो दी है और इनकी दृष्टिमें ईश्वर, आत्मा, धर्म, कर्मवाद, पुनर्जन्म, देवी-देवता, भूत-प्रेतादि योनियाँ, स्वर्ग, नरक आदि बातें केवल ढोंग और भ्रमोत्पादक दिखायी पड़ती हैं। इन लोगोंके मनपर नास्तिकताकी इतनी गहरी छाप पड़ गयी है कि प्राचीन धर्मग्रन्थोंका पाठ करना, विद्वान् पुरुषोंकी बातें सुनना या उनसे इस विषयमें कुछ पूछना तो दूर, वे स्वयं भी इन बातोंपर विचार करना नहीं चाहते। वे अपनी स्थूल दृष्टिसे संसारका जो कुछ स्थूल रूप देखते हैं, बस, उसीको सत्य मानकर अपना दृढ़ सिद्धान्त बना लेते हैं। और इससे भी भयंकर बात तो यह है कि वे येन केन प्रकारेण अपने धर्म-विरुद्ध सिद्धान्तोंका प्रचार भी करनेकी चेष्टा करते हैं। फलस्वरूप ऐसे अनेक लेख और पुस्तकें आज बाजारमें देखनेको मिलती हैं और इनके द्वारा समाजकी न केवल आर्थिक हानि हो रही है, बल्कि साधारण जनतामें इनके द्वारा काफी भ्रम फैल रहा है और लोग अपना धार्मिक विश्वास भी खो रहे हैं, जो समाजके लिये अत्यन्त घातक बात है। आज हम इसी बातको ध्यानमें रखकर उनके कुछ मूल सिद्धान्तोंपर विचार करेंगे और ईश्वरके अस्तित्वको साबित करनेकी चेष्टा करेंगे। चूँकि

ऐसे लोगोंको ऋषि-मुनियोंके अनुभवों तथा शास्त्रवचनोंपर विश्वास नहीं है; अतएव हम भी यहाँपर वैसे प्रमाण न देकर केवल पदार्थ-विज्ञान और मानस-विज्ञान-शास्त्र-सम्मत बुद्धिगम्य युक्तियों तथा साधारण मनुष्योंके अनुभवके आधारपर ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे । हम यहाँपर ऐसे विद्वानों तथा उनके विचारोंके प्रभावमें आकर भ्रममें पड़े हुए लोगोंसे इतनी प्रार्थना भी कर देना चाहते हैं कि वे पक्षपात तथा दुराग्रहको छोड़कर सारासारका विचार करें और सत्यको ग्रहण करें ।

ईश्वरके अस्तित्वके कुछ प्रमाण ये हैं—

(१) सूर्यादि सब मण्डल चल हैं । सबको नियमानुसार मर्यादित आकाशमें भ्रमण करानेके लिये सर्वज्ञ और स्थिर आधाररूप परमात्माकी आवश्यकता है ।

(२) प्राणिमात्रमें प्रतीत होनेवाला ज्ञान अनादिसिद्ध चैतन्यरूप है ।

(३) इस सृष्टिमें आनन्दकी प्रतीति होती है, वह भी अनादिसिद्ध चैतन्यस्वरूप है ।

(४) मनुष्योंके चेहरे और शब्दोच्चारणमें विभिन्नता उत्पन्न करनेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है ।

(५) प्राणिमात्रके शरीरकी आन्तरिक रचना और आन्तरिक क्रियाका निरीक्षण करनेसे किसी सर्वज्ञकी सिद्धि होती है ।

(६) मनुष्योंके हाथकी रेखाओंमें भिन्नता देखनेसे ईश्वरकी महिमाका अनुभव होता है ।

(७) संस्कृत-भाषाकी रचना देखनेसे संसाररक्षक परमात्माका बोध होता है ।

(८) ऋतुओंमें नियमित परिवर्तन होना, ऋतुओंके कारण उत्पन्न होनेवाले वात-पित्तादि दोष-प्रकोपसे रक्षा हो, वैसे साधनोंकी भी साथ-साथ उत्पत्ति देखकर ईश्वरकी दयालुता जानी जाती है।

(९) प्राणिमात्रके मनका विकास होनेके लिये सर्वव्यापक चैतन्यका आधार है।

(१०) देश तथा धर्मपर संकट उपस्थित होनेपर संसारकी रक्षाके हेतु महान् पुरुषोंकी उत्पत्ति ईश्वर-रचित नियमके अनुसार होती है। इतिहास इस बातका साक्षी है।

(११) देशोंके वैभवकी उन्नति और अवनतिमें भी ईश्वरकी लीला प्रतीत होती है।

(१२) सब जीवात्माओंको सत्यकी प्राप्ति करनेका सामर्थ्य ईश्वर प्रदान कर रहा है।

(१३) पृथ्वीपर सुवर्णादि धातुओं और नाना प्रकारकी वनौषधियोंकी न्यूनाधिक आवश्यकताके अनुसार उत्पत्ति सर्वज्ञ ईश्वरका बोध कराती है।

(१४) मूल प्रकृतिके कार्यरूप परिणाममें और कार्यमेंसे पुनः कारण-भावकी प्राप्तिमें अपरिणामी स्थिर चैतन्यका आधार है।

विस्तार-भयसे अधिक प्रमाण न देकर अब हम इनमेंसे प्रत्येकपर कुछ विस्तारके साथ विचार करेंगे।

१—सूर्य, तारागण, नक्षत्र, धूमकेतु, ग्रह और चन्द्र आदि सब मण्डल नित्य अविश्रान्त आकाशमें भ्रमण करते हुए मालूम होते हैं। यदि ये सब मण्डल नियमरहित ऊटपटांग गतिसे भ्रमण करते होते

तो रोज सैकड़ों मण्डल एक-दूसरेके साथ टकरा-टकराकर चूर हो जाते; किंतु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि सब मण्डल नियमपूर्वक अपने-अपने आकाशके मर्यादित विभागमें भ्रमण करते हैं। इन मण्डलोंकी प्रदक्षिणाके नियमका उत्पादक और रक्षक सर्वज्ञ ही हो सकता है। सम्भवतः लोग कहेंगे कि यह तो प्रकृतिके स्वभावसे होता रहता है, नियमके लिये किसी सर्वज्ञकी क्या जरूरत? किंतु यह कहना युक्तिसंगत नहीं। कारण, प्रकृति जड और ज्ञानरहित है तथा नियमके लिये ज्ञानकी आवश्यकता होती है, बिना ज्ञानके नियम नहीं बन सकता।

साथ ही सूर्यादि सब मण्डलोंके लिये अमर्यादित शक्तिसम्पन्न स्थिर आधार भी चाहिये। कारण, प्रत्येक मण्डल किसी बड़े मण्डलके इर्द-गिर्द भ्रमण करता है और वह बड़ा मण्डल भी अपनेसे और किसी बड़े मण्डलके चारों ओर प्रदक्षिणा करता है। जैसे चन्द्र पृथ्वीके चारों ओर, और पृथ्वी, मङ्गल, बृहस्पति आदि ग्रह सूर्यके इर्द-गिर्द घूमते हैं। सूर्य भी स्थिर नहीं है, वह और किसी बड़े मण्डलके आस-पास घूमता है—ऐसा पाश्चात्य भूगर्भ-शास्त्रियोंका कथन है। अनेक वर्षोंसे सूर्य अपने आस-पास प्रदक्षिणा करनेवाले ग्रह-समुदायके साथ रोज हजारों कोसकी गतिसे ऊपरकी ओर जा रहा है। कहाँ जा रहा है और किसके आस-पास घूम रहा है—यह निश्चित न होनेपर भी ऐसा निश्चित माना गया है कि वह किसी बड़े मण्डलके इर्द-गिर्द प्रदक्षिणा कर रहा है। इस तरह ऐसा निश्चय हुआ है कि सूर्यादि सब मण्डल चल हैं। जैसे घड़ीके घूमनेवाले पुर्जोंके मूलमें एक स्थिर आधार रहता है, वैसे ही इन सब चलायमान मण्डलोंके मूलमें एक नित्य, अचल और पूर्ण सामर्थ्यवान्

आधार होना चाहिये। ऐसा जो आधार है और जिसने इस ब्रह्माण्डकी रक्षाके लिये नियम बनाये हैं, वही सर्वज्ञ सर्वव्यापक परमात्मा है।

सूर्यके आस-पास प्रदक्षिणा करनेवाले ग्रहोंके प्रदक्षिणा-मार्गके नियम जैसे बने हैं, वैसे ही हर एक ग्रहका रंग, रूप, आकार, परिमाण, कृति, वातावरण, आबादी, दूरी, वेग और प्रदक्षिणा-कालके नियम इत्यादिमें किसी उद्देश्यको दृष्टिमें रखकर हेतुपूर्वक भिन्नता रक्खी गयी है। यह सब रचना सर्वज्ञकी है, प्रकृतिका उद्देश्यविहीन मनगढ़ंत परिणाम नहीं। यदि यह सब प्रकृतिका कार्य होता तो बिल्कुल नियमरहित होता। इस पृथ्वीकी दो प्रकारकी गति मानी गयी है। एक गतिद्वारा अपनी कीलपर अधोर्ध्व गोलचक्कर लगा लेनेपर चौबीस घंटेका रात-दिन होता है। दूसरी गतिसे सूर्यके चारों ओर घूमनेमें लगभग तीन सौ पैंसठ दिन लगते हैं, जिससे वर्षकी गणना होती है। इस दूसरी गतिसे प्रदक्षिणा करनेमें नियमपूर्वक हर साल पचास विकलाका मार्ग छूटता जाता है और इस तरह प्रायः नौ सौ वर्षोंमें एक नक्षत्र छूट जाता है। ऐसी प्रदक्षिणा करीब छब्बीस हजार वार हो जानेपर पृथ्वी पुनः मूल नक्षत्रमें आ जाती है। जिस तरह पृथ्वीके लिये यह नियम रक्खा गया है, उसी तरह और ग्रहोंके लिये भी कोई-न-कोई नियम है, ऐसा प्रतीत होता है। इसी तरह सब तारादि मण्डलोंके लिये भी मर्यादा निश्चित की गयी है। अच्छे-बुरे वातावरणके लिये भी नियम है। अधिक सुख भोगनेके लिये जो ग्रह बनाये हैं, उनका वातावरण पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक अच्छा है। मङ्गल ग्रहके निवासी पृथ्वीके निवासियोंकी

अपेक्षा पदार्थ-विद्यामें विशेष आगे बढ़े हुए हैं, ऐसा पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंका अनुमान है। इस कारण हम मङ्गल ग्रहको पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक सुख-भूमि कह सकते हैं और वहाँका वातावरण भी अच्छा कह सकते हैं; परंतु शनि ग्रहका वातावरण पृथ्वीकी अपेक्षा खराब माना गया है, अतः उसको दुःखभूमि कहेंगे। इसी तरह सब मण्डलोंकी उत्पत्ति, स्थिति और क्रिया मर्यादासहित होती है। किसी मण्डलमें मर्यादा न हो, ऐसा बोध अभीतक पाश्चात्त्य मनीषियोंको नहीं हुआ है। इस नियमके कारण भी मर्यादा-रक्षक परमात्माकी सिद्धि होती है।

२—प्राणिमात्रमें ज्ञानकी प्रतीति होती है; यह ज्ञान अनादिसिद्ध चैतन्यरूप है। जड प्रकृतिमेंसे कदापि ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। शायद लोग कहें कि 'शरीरकी उत्पत्तिके साथ चेतनाशक्ति और ज्ञान भी उत्पन्न होता है, अनादि ज्ञान माननेकी क्या आवश्यकता है ?' परंतु सृष्टिका यह नियम है कि जो गुण मूल उपादान कारणमें होते हैं, वे ही गुण उनसे बननेवाले कार्यमें आते हैं। मूल कारणमें जो गुण नहीं होता, वह कदापि उसके कार्यमें नहीं उत्पन्न हो सकता। इस सृष्टिमें जितने पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब प्रकृतिसे बने हैं। प्रकृतिमें चेतनाशक्ति और ज्ञान-गुण नहीं है, तब इस प्रकृतिके कार्यरूप संसारमें वे गुण नये कैसे उत्पन्न हो गये ? इसलिये कहना पड़ेगा कि ज्ञान-रूप चैतन्य अनादि और सर्वव्यापक है। इस चैतन्यके आधारसे ही प्रकृतिका रूपान्तर होता रहता है। पाश्चात्त्य दार्शनिकोंने भी इस सिद्धान्तको स्वीकार कर लिया है। यदि यह सिद्धान्त विरोधियोंको प्रतिकूल प्रतीत होता हो तो वे कोई

ऐसा यन्त्र बनाकर दिखावें जो अन्य चैतन्यकी सहायताके बिना बुद्धिपूर्वक यथासमय आहारादि प्राप्त करे और अपने मालिकका कार्य भी करता रहे। जिस तरह चींटी स्वेच्छासे अनुकूल दिशामें आहारादिके लिये गमन करती है और पलटनके सिपाही अफसरकी आज्ञाके अनुसार समझकर नियमपूर्वक कवायद करते हैं, उसी तरह बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला कोई जड यन्त्र तैयार करके दिखावें। यदि ऐसा यन्त्र तैयार न हो सकता हो तथा प्रकृतिके कार्यरूप पत्थर आदिमें ज्ञान प्रतीत न होता हो और जहाँ-जहाँ अभिमानी चैतन्य रहता हो वहाँ-वहाँ ही ज्ञानकी प्रतीति होती हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि प्रकृतिसे ज्ञानगुणकी उत्पत्ति नहीं होती।

चैतन्य सर्वव्यापक होनेके कारण प्रकृतिके परमाणु-परमाणुमें ओतप्रोत है। जड प्रकृति चैतन्यसे अलग होकर कुछ भी कार्य नहीं कर सकती। आजतक किसी पदार्थ-विज्ञानवेत्ताको प्रकृतिका एक भी अणु ऐसा नहीं प्राप्त हुआ है, जो चैतन्यशक्तिसे अलग हो। वनस्पतिके बीजोंमें प्रकृतिके परमाणुओंके साथ चैतन्यशक्ति रहती है, इसीलिये बीजको पृथ्वीमें बोनेपर पञ्चभूतके कार्यरूप मिट्टीका, बीजमें वर्तमान चेतनाशक्तिके अनुसार, भिन्न-भिन्न गुणोंमें रूपान्तर होता है, यदि बीजमें चैतन्यशक्ति न होती तो एक ही प्रकारकी मिट्टीका भिन्न-भिन्न रूपान्तर कैसे होता? ऐसे ही प्राणिमात्रकी बुद्धिका विकास न्यूनाधिक परिमाणमें होता हुआ देखा जाता है। किसी मनुष्यके शरीरमें प्रकृतिके ज्ञानवर्धक परमाणु बाहरसे नहीं घुस आते तथा समान मानसिक श्रम और समान आहार करनेपर भी बुद्धिके विकासमें भिन्नता मालूम पड़ती है। इसका क्या कारण है?

नास्तिकोंके मनमें इसका कोई संतोषप्रद समाधान नहीं मिल सकता। हम आस्तिकोंके मतानुसार पुनर्जन्म और अनेक कर्मोंके संस्कारसहित अभिमानी चैतन्य जीवात्मा प्रत्येक जीवित शरीरमें रहता है। इसलिये उसके संस्कारके अनुसार भिन्न-भिन्न परिमाणमें बुद्धिका विकास होता है। और बुद्धिके विकासके अनुसार सर्वव्यापक चैतन्यरूप ज्ञानके प्रकाशका लाभ न्यूनाधिक परिमाणमें जीवात्माको मिलता है।

बुद्धि-वृत्तिके आविर्भाव और तिरोभावके साथ ज्ञानकी उत्पत्ति और नाश होता हुआ प्रतीत होता है, परंतु यह सोपाधिक भ्रम है। जैसे जवाकुसुमके पुष्पके ऊपर स्फटिक रखनेपर पुष्पकी लालीके कारण स्फटिक भी लाल दीखता है और मृगजलके स्थानपर सूर्यके तापके कारण भ्रम हो जानेसे बालूमें जलसे भरा हुआ तालाब प्रतीत होता है, वैसे ही बुद्धि-वृत्तिकी उत्पत्ति और लयके साथ ज्ञानकी उत्पत्ति और नाश भासता है। वास्तवमें ज्ञान अनादि स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश है। यदि ज्ञान ऐसा न हो तो अन्य विषयोंकी कदापि सिद्धि नहीं हो सकती। ज्ञान घटादि पदार्थोंके समान जड अप्रकाशरूप नहीं है। ज्ञानको यदि अप्रकाश जडरूप मानें तो उसे अन्यके अधीन और विषयरूपसे भासित होना चाहिये; परंतु विषयरूपसे ज्ञानकी प्रतीति कदापि नहीं होती; ज्ञान विषयी (विषयको जाननेवाला) के रूपसे ही सर्वदा भासित होता है। अतः विषयसे वैलक्षण्य होनेके कारण ज्ञान स्वप्रकाशरूप है। ज्ञानके प्रागभाव (प्राक् कालीन अभाव) और ध्वंसकी सिद्धि स्वतः या दूसरोंके द्वारा नहीं होनेसे ज्ञान अनादि अनन्त है। जैसे घटादि

पदार्थोंकी उत्पत्ति और नाश ज्ञानद्वारा जाना जाता है, वैसे ज्ञानकी उत्पत्ति और नाश उस ज्ञानसे अथवा अन्य किसी तरहसे अनुभवमें नहीं आता। और संसारमें उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी उत्पत्ति-विनाशशीलता जाननेके लिये अविनाशी, अपरिणामी साक्षीस्वरूप ज्ञानके अस्तित्वकी आवश्यकता है। यदि सर्वविध विकारोंसे रहित त्रिविध (देश, काल और पात्र) परिच्छेदशून्य तथा कालिक विकारसमूहका साक्षीरूप चैतन्य—स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप न होता तो इस सृष्टिमें काल और तत्कृत विकारादिके ज्ञानकी प्रतीति ही न होती।

कदाचित् कोई ज्ञानको अनित्य माने तो इस दशामें भी सर्व-ज्ञानके अवधिभूत एक नित्य ज्ञानकी आवश्यकता रहती ही है। कारण, बुद्धि-वृत्तिकी उत्पत्ति और विनाशके साथ उत्पत्ति-विनाशशील अनित्य ज्ञान परस्पर व्यभिचारी अननुगत होगा। वह ज्ञान जिस आश्रयमें उत्पन्न होता है, उसका स्वरूपभूत होनेके कारण या उसके साथ तादात्म्य-प्राप्तिके कारण मूल आश्रय भी विकारको प्राप्त होगा। अतएव ज्ञानकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश, इनकी प्रतीति उस विकारावस्थासे या अवस्थावान्से (बुद्धि या प्राणतत्त्व मानें तो उससे भी) नहीं हो सकती; क्योंकि यह नियम है कि विषय और विषयी (विषयका जाननेवाला) सर्वदा भिन्न रहते हैं। अतएव अवस्थारहित परंतु अवस्थामें आध्यात्मिक तादात्म्यसम्बन्धसे अनुगत अविनाशी सर्वव्यापक ज्ञानरूप एक चैतन्यकी आवश्यकता रहती है। इस चैतन्यसे ही संसारके सब विषयोंकी सिद्धि होती है; यही हमारा ईश्वर है।

इस तरह सर्वत्र सर्वव्यापक चैतन्य और सब चर-अचर प्राणियोंमें आत्मचैतन्यकी शक्ति स्पष्ट प्रतीत हो रही है। तो भी विरोधियोंको चैतन्यका प्रकाश कहीं भी नहीं दीखता और वे ठीक उसी तरह ईश्वर और धर्मसम्बन्धी बातोंको गप्प कहकर उड़ा देना चाहते हैं, जिस तरह अबोध बालक पुस्तकोंके अक्षरोंमें ज्ञान-भाण्डार, मेंहदीमें लाली, घी-तैलादिमें अग्नितत्त्व, जलमें विद्युत्, लकड़ी अथवा दियासलाईमें अग्नि आदि बातोंको कपोलकल्पित और गप्प समझता है।

३—इस सृष्टिमें प्रतीत होनेवाला आनन्द अनादिसिद्ध चैतन्यरूप है। यदि सर्वव्यापक चैतन्य आनन्दरूप न हो तो आत्मचैतन्य भी आनन्दरहित ही होना चाहिये। और यदि आत्मचैतन्य आनन्दरहित हो तो इस संसारमें अनुकूल विषयके सम्बन्धसे जो स्वरूपानन्दका भान होता है, वह नहीं होना चाहिये। जब किसी इच्छित विषयकी प्राप्ति होती है, तब बहिर्मुख वृत्ति क्षणभरके लिये अन्तःकरण-देशमें अन्तर्मुख आत्माकार बनकर आनन्दका ग्रहण करती है। जबतक वृत्ति बहिर्मुखी रहती है, तबतक मनमें चञ्चलता रहनेके कारण स्वरूपानन्दका भान नहीं होता। केवल अन्तर्मुखी वृत्ति बननेपर ही आनन्दका अनुभव होता है, परंतु रूपानन्दका ग्रहण और विषयका ज्ञान दोनोंके अत्यन्त अव्यवहित हो जानेके कारण अविवेकीको भ्रान्ति हो जाती है और वह समझता है कि मुझे विषयसे ही आनन्द प्राप्त हुआ है। यदि विषयसे आनन्दकी उत्पत्ति होती तो किसी एक ही विषयसे जो एक व्यक्तिको आनन्द मिलता है और उसीसे दूसरेको दुःख होता है, ऐसा न होता। जैसे शराबीको तो शराब मिलनेपर आनन्द होता है, परंतु शराबको हानिकर और अपवित्र

माननेवालेको शराबके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त दुःख होता है। और एक विषय एक समय जितना आनन्दप्रद प्रतीत होता है, वही विषय दूसरे समय उतना प्रिय नहीं मालूम होता। जैसे, यदि किसी मनुष्यका आज्ञाकारी युवा पुत्र धन, विद्या और कीर्ति प्राप्त कर दीर्घकालके पश्चात् दूर देशसे आकर मिले तो उस समय उसे जितना आनन्द होता है, उतना आनन्द उसे फिर दूसरे दिन उसी पुत्रके मिलनेपर नहीं होता। ऐसे ही एक ही विषय एक समय आनन्ददायक प्रतीत होता है और दूसरे समय वही दुःखदायी मालूम होता है, जैसे जाड़ेमें स्नान करनेके लिये गरम जल मिलनेपर तो आनन्द होता है, परंतु वैसा ही गरम जल यदि ज्येष्ठकी गरमीमें स्नानके लिये मिले तो मनको क्लेश होता है। इन सब दृष्टान्तोंसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि विषयोंमें आनन्द नहीं है। विषयोंसे यदि आनन्दकी उत्पत्ति होती तो उनसे सबको सब समय समान आनन्द मिलता, परंतु ऐसा अनुभव नहीं होता। मनमें जिस विषयकी चाह होती है, उसी विषयकी प्राप्ति होनेपर आनन्द मिलता है, परंतु जब उस विषयके प्रतिकूल विषयकी प्राप्ति होती है, तब मनमें दुःख उत्पन्न होता है। इससे निश्चय होता है कि मनकी वृत्ति अन्तर्मुखी होनेपर ही आनन्द मिलता है। अन्तर्मुखी वृत्ति हुए बिना आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। और वृत्ति तृप्त होनेके कारण जितने कालतक अन्तर्मुखी रहती है, उतने ही कालतक आनन्दका भान होता है। थोड़े समयतक वृत्ति अन्तर्मुखी रहे तो थोड़े समयतक आनन्द रहेगा और अधिक कालतक वृत्ति अन्तर्मुखी रहे तो अधिक कालतक आनन्दका अनुभव होगा।

आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें प्रीति होती है और उनमें भी जो जितना ही अधिक सम्पर्कमें होता है उसमें उतना ही अधिक प्रेम होता है। तात्पर्य कि दूरके पदार्थोंकी अपेक्षा समीपके पदार्थोंमें अधिक प्रेम होता है। जैसे पुत्रके मित्रकी अपेक्षा पुत्रमें, पुत्रकी अपेक्षा अपने स्थूल शरीरमें और स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीररूप प्राण-तत्त्व—जीवनमें अधिक प्रेम होता है। यदि किसी मनुष्यके पैरके अंगूठेमें सर्पदंश हुआ हो और डाक्टर कहे कि इतना अंगूठा कटवा डालो अन्यथा प्राणभय है तो वह मनुष्य सूक्ष्म शरीरमें अधिक प्रेम होनेके कारण उतना अपना स्थूल शरीर तुरंत कटवा डालेगा। सूक्ष्म शरीरका आत्मासे साक्षात् सम्बन्ध होनेके कारण सूक्ष्म शरीरमें स्थूल शरीरादिकी अपेक्षा अधिक प्रीति होती है। जिस आत्माके सम्बन्धके कारण प्रीति होती है, उस आत्मामें सबकी अपेक्षा अधिक प्रीति है, ऐसा ही मानना पड़ेगा। वास्तवमें यह प्रीति आनन्द और दुःखके अभावमें है; और इस आनन्द और दुःखनाशके लिये ही सांसारिक पदार्थोंमें प्रीति प्रतीत होती है। अतः सबकी प्रीतिका मुख्य विषय आनन्दरूप चैतन्य ही है।

पशुओंकी स्वाभाविक वृत्तिका निरीक्षण करनेपर मालूम पड़ता है कि वे भी अपने शिशुपर आरम्भमें अति प्रेम करते हैं। जैसे-जैसे बच्चे बड़े हो जाते हैं वैसे-वैसे माताका प्रेम भी कम होता जाता है। और जहाँ बच्चेका दूध पीना बंद हुआ कि प्रीति भी चली जाती है; केवल सामान्य सद्भावभर रहता है। आरम्भमें अत्यन्त प्रेम करके बच्चोंको पालन करनेकी मनोवृत्ति क्यों उत्पन्न हुई? थोड़ी देरके लिये ऐसा मान लें कि मनुष्य तो इस प्रलोभनके कारण संततिका प्रेमसे

पालन करते हैं कि भविष्यमें बालक बड़े होकर हमारी—माता-पिताकी सेवा करेंगे। परंतु पशुओंको न तो भविष्यकी सेवाका लोभ है और न वर्तमान समयमें बच्चोंकी रक्षा करनेसे उन्हें कोई लाभ होता है। ऐसा भी नहीं है कि पहली संततिमें प्रेम रहा और फिर बादमें होनेवाली संततिसे उनका प्रेम न हो। कितनी ही बार संतान हों, बराबर पशुकी प्रेमविषयक वृत्ति एक समान ही देखनेमें आती है; और हर बार वह उसी तरह एक निश्चित कालतक प्रेम करके फिर प्रेम छोड़ देता है। इस प्रेमवृत्तिको प्रकृतिका स्वाभाविक परिणाम कहेंगे या प्रेमको हरिरूप कहेंगे? यदि प्रकृतिका परिणाम कहें तो फिर प्रसवके समय क्या विकृति हुई जिससे प्रेमकी इच्छा उत्पन्न हुई और पुनः इसके विरुद्ध कौन-सी क्रिया हुई तथा क्यों हुई जिससे प्रेम विसर्जित हो गया? प्रेम करने और छोड़नेमें मनोवृत्तिकी ज्ञानपूर्वक ही विकृति होती है। वह ज्ञान और प्रेम दोनों चैतन्यरूप ही हैं। यह ऊपर युक्तिपूर्वक समझाया गया है। आनन्द और ज्ञानकी उत्पत्ति और नाश कदापि नहीं होता। आनन्द और ज्ञान चैतन्यस्वरूप होनेसे अनादि हैं। केवल वृत्तिकी उत्पत्ति और लयसे अविवेकीको भ्रान्ति होती रहती है। ज्ञान और आनन्द कदापि प्रकृतिके स्वभावसे उत्पन्न नहीं हो सकते।

विरोधियोंका कहना है कि 'यह संसार स्वाभाविक है और इसका संचालन स्वयमेव होता है। प्रकृतिकी अव्यवस्था इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि यह स्वाभाविक है, किसीके द्वारा संचालित नहीं।' किंतु यह कहना बड़ा कठिन है कि 'संसार' शब्दको वे किस अर्थमें लेते हैं। वास्तवमें इस स्थूल पृथ्वीके ऊपरी स्थानोंकी भिन्नताके

कारण उन्हें जो कुछ दोष प्रतीत होता है, वे उसीके आधारपर अपना निर्णय कर डालते हैं। पृथ्वीको छोड़कर आकाशमें दिखायी देनेवाले सूर्य, तारागण आदि मण्डलोंकी रचना कोई दोष है या नहीं ? इस बातका उन्हें कुछ भी पता नहीं। इससे अनुमान होता है कि उनके 'संसार' का अर्थ है केवल पृथ्वीका स्थूल ऊपरी रूप। परंतु यह पृथ्वी ब्रह्माण्डके भीतर बहुत छोटी है, जैसे हिमालय पर्वतपर रक्खा हुआ राईका दाना हो; अथवा इस प्रमाणका लाखवाँ हिस्सा कहा जाय तो भी अनुचित न होगा। यदि संसारका अर्थ सारा ब्रह्माण्ड मान लें और अन्य ग्रहोंकी रचनाके दोष आदिका विचार इस कारण कि वे सब अप्रत्यक्ष हैं, छोड़ भी दें तो भी हम संसारको स्वाभाविक नहीं कह सकते; क्योंकि आकाशमें प्रतीत होनेवाले और प्रतीत न होनेवाले सब मण्डल विनाशी हैं, एक भी मण्डल अविनाशी नहीं है; और सबकी रचना किसी-न-किसी अज्ञात कालमें हुई है। परंतु सब मण्डलोंका मूल उपादानकारण प्रकृति परिणामी होनेपर भी नित्य है; इसलिये प्रकृतिको यदि कोई अनादि और अनन्त कहे तो उस कथनको सृष्टिकालके भीतर मान लेंगे। कार्यरूपसे तो किसी भी मण्डलको अविनाशी नहीं कह सकते। अपनी पृथ्वी जिस सूर्यके इर्द-गिर्द नियमपूर्वक प्रदक्षिणा कर रही है, वह सूर्य भी भविष्यमें शीतल होकर नष्ट हो जायगा, साथ-ही-साथ सूर्यके इर्द-गिर्द भ्रमण करनेवाले बृहस्पति, शनि, मङ्गल, पृथ्वी आदि ग्रह भी आधारके अभावमें नष्ट हो जायँगे—ऐसा पाश्चात्य भूगर्भशास्त्रियोंका कथन है, और अपने देशके प्राचीन शास्त्रकारोंने भी ब्रह्माण्डोंको विनाशी कहा है। आकाशमें एक नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड बतलाये गये हैं। अपना सूर्य और उसके

इर्द-गिर्द घूमनेवाले सब ग्रह मिलकर एक ब्रह्माण्ड हुआ, ऐसे अनन्त सूर्य आकाशमें हैं और सबके आसपास इर्द-गिर्दवाले ग्रह भी हैं। ये सब ब्रह्माण्ड नाशवान् हैं। जब एक अथवा अनेक ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाते हैं, तब नष्ट हुए ब्रह्माण्डोंके मूल उपादानकारणरूप प्रकृतिके परमाणुओंमेंसे पुनः ब्रह्माण्डोंकी नवीन रचना प्रकृतिसे ही कराकर, उन्हें निश्चित स्थानोंमें स्थिरकर पूर्ववत् सृष्टिका कार्य जारी करनेके लिये सर्वज्ञ ईश्वरकी आवश्यकता रहती है। प्रकृतिके परमाणुओंका संयोग भी अपने-आप नहीं हो सकता, और कदाचित् परमाणुओंके संयोगको कोई स्वाभाविक मान भी ले तो स्थान-निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि जो नये मण्डल तैयार होंगे, उसके स्थान पहलेके अन्य मण्डलोंसे भिन्न होने ही चाहिये, नहीं तो वे आपसमें बराबर टकराते रहेंगे और इस तरह सृष्टि-कार्य चलना असम्भव हो जायगा। इसलिये अन्तमें कहना पड़ेगा कि सृष्टि-कार्यका आरम्भ करानेका काम प्रकृतिसे नहीं हो सकता, सर्वज्ञ ईश्वरसे ही होता है।

अक्सर लोग यह शङ्का उपस्थित करते हैं कि घटका कर्ता कुम्भकार है और कुम्भकार अपने माता-पितासे उत्पन्न हुआ है। इसी तरह जब जगत्का कर्ता ईश्वर है तो ऐसा ईश्वर किससे उत्पन्न हुआ? उसका कर्ता किसे मानेंगे? इस शङ्काका समाधान यह है कि ईश्वर अनादिसिद्ध है। जो वस्तु अनादि होती है, वह कार्य नहीं कहलाती। जो कार्य होता है, उसीकी उत्पत्ति होती है, और जिसकी उत्पत्ति होती है, उसीके लिये कर्ताकी आवश्यकता रहती है। किंतु जो कार्य नहीं है, उसे उत्पन्न होनेवाला नहीं कह सकते।

अतः उसका कोई कर्ता भी नहीं हो सकता; चूँकि यह प्रतीत होनेवाला संसार कार्यरूप है, इसलिये यह मानना ही पड़ेगा कि यह किसी अज्ञात कालमें उत्पन्न हुआ है । और यह संसार उत्पन्न होनेवाला है, इसलिये उससे भिन्न इसका कोई दूसरा कर्ता भी होगा ही । जैसे घट कार्य होनेसे उत्पन्न होनेवाला है। अतः उसका उपादानकारण मिट्टी तथा निमित्तकारण कर्ता कुम्हार है, वैसे ही यह संसार भी कार्यरूप होनेके कारण उसका उपादानकारण प्रकृति और निमित्तकारण ईश्वर है; परंतु जैसे संसाररूप कार्यका उपादानकारण प्रकृति अनादि होनेके कारण उत्पन्न होनेवाली नहीं है और इसलिये उसका कोई उपादानकारण या निमित्तकारण भी नहीं हो सकता । वैसे ही ईश्वर भी अनादि स्वयंसिद्ध होनेसे उसका भी कोई उपादान या निमित्तकारण नहीं है ।

ईश्वर सर्वव्यापक है, एक देशमें स्थित नहीं है । जो वस्तु एक देशमें होती है, अन्य देशमें नहीं होती, उसीकी उत्पत्ति और नाश होता है । जिसका देशके हिसाबसे अन्त होता है, उसका कालके हिसाबसे भी अन्त होता है । ईश्वर एक देशमें स्थित (परिच्छिन्न) नहीं है; परंतु विभु—सर्वव्यापक है । सर्वव्यापकका कर्ता कोई नहीं हो सकता । वैसे ही जो वस्तु अनित्य होती है, वही कर्तासे जन्य होती है; परंतु ईश्वर अनित्य नहीं है । ईश्वर अपरिणामी, अनादि, अनन्त है । इस हेतुसे ईश्वरका कोई कर्ता नहीं हो सकता ।

कदाचित् ईश्वरका कोई कर्ता मानें तो उसमें यह दोष आता है कि कोई स्वयं ही तो अपना कर्ता बन नहीं सकता, एक ईश्वरके कर्ता दूसरे ईश्वरको मानना पड़ेगा । पुनः दूसरेका कर्ता तीसरा ईश्वर

अङ्गीकार करना पड़ेगा। फिर तीसरेका चौथा, चौथेका पाँचवाँ और इस तरह अनन्त कर्ताओंको मानना पड़ेगा, धाराका कहीं विराम न होगा तथा इस रीतिसे अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होगी।

वास्तवमें इस संसारमें जो अविचल नियम देखनेमें आते हैं, उनका रक्षक सर्वज्ञ ईश्वर है। परिणामी प्रकृतिमें रूपान्तर होनेके लिये यही अपरिणामी ईश्वर आधार-स्वरूप है।

उपर्युक्त हेतुओंसे ईश्वर अनादिसिद्ध होनेके कारण कर्तासे जन्य नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है।

४—मनुष्योंकी मुखाकृति (चेहरे) और शब्दोच्चारण (आवाज) पर विचार करनेसे भी सहज ही ईश्वरकी सिद्धि हो सकती है। वर्तमान समयमें इस पृथ्वीपर लगभग ढाई अरब मनुष्योंकी आबादी है। इनमें अथवा भूतकालके मनुष्योंमें किन्हीं दो मनुष्योंके चेहरे पूर्णरूपसे समान नहीं देखे गये हैं। एक ही माताके गर्भमेंसे एक ही साथ जन्म लेनेवाले भाई-बहिनोंके चेहरोंमें भी थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य ही रहता है। वैसा ही अन्तर आवाजमें भी रहता है। यदि पूर्णरूपसे समानता रहती तो रामको धनिक जानकर श्याम उसके घरमें घुस जाता और सच्चे रामको नकली कहकर घरसे निकाल देता; परंतु ऐसा इस संसारमें कहीं देखा नहीं जाता। यदि प्रकृतिकी ही सब रचना होती तो इस नियमका सर्वांशमें पालन नहीं हो सकता था। इसीसे सर्वज्ञ ईश्वरकी इस सृष्टिको सर्वज्ञ ईश्वरद्वारा रचित ही मानना पड़ता है।

५—प्राणिमात्रके शरीरकी आन्तर रचना और आन्तरिक क्रियाका तनिक भी विचार करनेपर विश्वम्भरकी दयालुता स्पष्ट दृष्टिगोचर

होती है। प्राणियोंमें, किसी भी जातिके प्राणीमें अथवा मनुष्यके शरीरमें ऐसा कोई भी अवयव अनुभवमें नहीं आता जो सर्वथा अनुपयोगी हो। शरीरका प्रत्येक अवयव जीवनके लिये उपयोगी है। आन्त्रपुच्छ (Appendix) जैसे एक-दो अवयवोंका कार्य अभीतक डाक्टर नहीं समझ सके हैं; परंतु ये सब जीवनके लिये उपयोगी हैं। यदि शरीरका कोई अवयव निकाल दिया जाय तो आरोग्य और सुखमें त्रुटि प्रतीत होती है। मनुष्यशरीर और सिंह-व्याघ्रादि हिंसक प्राणियोंके शरीरके अवयवोंकी रचनामें भी परमात्माने आवश्यकतानुसार अन्तर रक्खा है। मनुष्योंके दाँत, नख, आमाशय, पित्ताशय, अँतड़ी, अस्थि और त्वचादि अवयव जैसे हैं, उनसे हिंसक प्राणियोंके भिन्न प्रकारके ही देखनेमें आते हैं। यदि मनुष्योंके दाँत और नाखूनके समान हिंसक पशुओंके भी दाँत और नाखून होते तो उन्हें भूखों मरना पड़ता। और हिंसक प्राणियोंके आमाशय और पित्ताशय कमजोर होते तो थोड़े ही समयमें उनकी पाचनक्रिया दूषित हो जाती और वे कालके गालमें समा जाते। यदि उनकी अँतड़ी मनुष्यकी अँतड़ीके समान बहुत लंबी रहती तो मलावरोध होकर आँतमें कीड़े पड़ जाते और चञ्चलता भी कम रहती, जिसके फलस्वरूप आहार कठिनाईके साथ मिलता। बाह्य त्वचा कमजोर रहती तो बाह्य आघात सहन करनेकी शक्ति भी कम हो जाती। अस्थि कमजोर होती तो अधिक चलना, दौड़ना, कूदना इत्यादि क्रियाओंमें त्रुटि आ जाती। इसी प्रकार यदि मनुष्योंको हिंसक पशुओंके समान अवयव मिलते तो उनमें अधिक क्रूरता और बुद्धिमन्दता रहती। इससे कहना पड़ेगा कि परमात्माने सोच-विचारकर

ही प्राणियोंके अवयवोंमें अन्तर रक्खा है। अरबके रेगिस्तानमें मुसाफिरी करनेवाले ऊँट यात्राके पूर्व पेटके भीतरकी एक थैलीमें इतना पानी भर लेते हैं जो दो महीनेतक चलता है। फिर आवश्यकतानुसार वे उस जलको उपयोगमें लाते रहते हैं। यह सब रचना ज्ञानपूर्वक ही की हुई मालूम होती है। जिनके लिये जो हितकर हो, उनको वही देना—यह विवेक जड प्रकृतिमें कदापि नहीं हो सकता।

इसी प्रकार खाये हुए अन्नके साथ आमाशय-रस, थूक, पित्त, अग्निरसादि मिल जानेकी, फिर रसके शोषण होनेकी, मल-मूत्रादि निरुपयोगी भागके अलग होकर यथासमय बाहर निकल जानेकी और रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य इत्यादि बननेकी क्रिया नियमपूर्वक होती रहती है। यदि एक छोटा-सा काँटा (विजातीय द्रव्य) शरीरमें घुस जाय तो काँटेके आस-पास सूजन हो जाती है और उसमें पीब पैदा हो जाता है। अगर इतनेपर भी सँभाल न हो तो शरीरकी उष्णता बढ़कर ज्वर आ जायगा। फिर घावके आस-पासका मांस सड़ने लगेगा। प्रकृतिके कार्यकी दृष्टिसे तो शरीर और काँटा दोनों एक समान प्रकृतिरूप ही हैं, केवल चैतन्ययुक्त दृष्टिसे काँटा विजातीय है। शरीर जीवात्माके कारण जीवन्त है और काँटा जड है। ऐसी ज्ञानपूर्वक रचना दृष्टिगोचर होनेपर कहना पड़ता है कि सृष्टिका उत्पादक और रक्षक ईश्वर है, यह प्रकृतिका मनगढ़ंत रूपान्तर नहीं है। आन्तर अवयवोंका रंग देखा जाय तो उसमें भी विभिन्नता प्रतीत होती है। आमाशयका रंग गुलाबी, यकृत्का लाल, पित्ताशयका हरा-पीला, क्लोमका नीला, लघु अन्त्रका हल्का

गुलावी और वृहद् अन्त्रका रंग मैला पीला प्रतीत होता है। ऐसे ही मस्तिष्ककी रचना और उसके विभागोंके रंग-रूपादि तथा ज्ञानतन्तुओंकी क्रिया देखनेसे भी ऐसा सहज ही वोध होता है कि यह सव कृति किसी चेतन-शक्तिद्वारा ज्ञानपूर्वक की हुई है।

६—मनुष्योंके हाथकी रेखाओंकी ओर दृष्टि डालनेपर भी ऐसी प्रतीत होती है कि इनकी रचना वुद्धिपूर्वक ही की गयी है। किसी भी दो मनुष्योंकी हस्तरेखाएँ पूर्णरूपसे एक समान नहीं प्रतीत होतीं। थोड़ा-वहुत अन्तर जरूर रहता है। यह भिन्नता किसी हेतुको ध्यानमें रखकर ही की गयी है। सामुद्रिक शास्त्र जाननेवाले रेखाओंका भिन्न-भिन्न फल वताते हैं। समय-समयपर नयी-नयी रेखाएँ भी वनती हुई प्रतीत होती हैं। और उनके अनुसार भावी सुख-दुःखरूप फल भी वहुतोंके जीवनमें देखा गया है। नास्तिक लोग तो ज्यौतिष और सामुद्रिक शास्त्रको गप्प ही समझते हैं; परंतु उनके ऐसा समझनेसे ही सत्य शास्त्र कदापि असत्य नहीं हो सकते। हाथके अँगूठेकी रेखाओंमें भिन्नता होनेके कारण ही सरकार अपराधियोंके अँगूठेकी निशानी ले लेती है और इस निशानीके सहारे ही यह पता लग जाता है कि यह आदमी कौन है और पहले कितनी वार इसने अपराध किये हैं। यदि इन रेखाओंकी रचना केवल प्रकृतिका ही कार्य होता तो वह अवश्य ही दोषयुक्त रहता, इस प्रकार इतनी दक्षतापूर्ण रचना कदापि न होती।

७—संस्कृत-भाषाकी रचनाका अवलोकन करनेपर भी सर्वज्ञ ईश्वरकी महिमा समझमें आती है। वर्तमान समयमें विद्वानोंकी यह दृढ़ मान्यता है कि इस संसारमें सवसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। वेदोंकी

रचना संस्कृत-भाषामें है। संस्कृत-भाषासे पहले और कोई भाषा थी, बादमें क्रमशः विकास होते-होते संस्कृत हो गयी—ऐसा कोई भी प्रमाण आजतक नहीं मिला है। न किसी विद्वान्‌ने प्रमाणित तर्कद्वारा संस्कृतसे पहले किसी दूसरी भाषाकी सिद्धि की है। युगके आदिकालसे ही सर्वसाधारण जनताकी बोलचालकी भाषा संस्कृत थी, ऐसा ही माना गया है। संस्कृत-भाषामें अक्षर, स्वर, व्यञ्जन शब्दरचना इत्यादि सब नियमित हैं। संसारकी किसी भी भाषामें ऐसे सुन्दर नियम नहीं देखे जाते। इधर करीब तीन हजार वर्षसे साधारण जनताकी व्यावहारिक भाषा संस्कृतके स्थानमें दूसरी हो गयी है। इससे पहले संस्कृत-भाषामें ही सब व्यवहार होते थे, ऐसा इतिहासज्ञ विद्वानोंका कथन है। संस्कृत-साहित्य विशाल है। परंतु संस्कृतमें यौगिक शब्द अधिक हैं और रूढ़ शब्द बहुत कम, जिनसे आज भी नियमपूर्वक चाहे जितने नये-नये यौगिक शब्द बनाये जा सकते हैं, फिर भी समझनेवालोंको कोई दिक्कत नहीं हो सकती। संस्कृत शब्दकोष अनेक विद्वानोंको कण्ठस्थ है। यह सुविधा और किसी भी भाषामें नहीं है। पाश्चात्य अंग्रेजी आदि भाषाओंमें 'डिक्शनरी' (शब्दकोष) की प्रत्येक नयी आवृत्तिके समय सैकड़ों नये शब्द बढ़ाने पड़ते हैं। संसारमें किसी एक मनुष्यको भी सारी डिक्शनरी कण्ठस्थ नहीं है। बँगला, मराठी, हिंदी, गुजराती आदि भाषाओंके बोलने और लिखनेकी पद्धति जो सौ वर्ष पूर्व थी, वह आज नहीं है, उसमें बहुत अन्तर हो गया है। किंतु संस्कृत-भाषामें इतनी अधिक मर्यादा छिन्न-भिन्न नहीं हुई है। वेदकालके-पश्चात् पाणिनि मुनिके समयतक कुछ अन्तर पड़ा था, परंतु पाणिनिने

व्याकरणकी नयी रचना करके स्थानभ्रष्ट शब्दोंको मर्यादाके अंदर ले लिया और नयी अशुद्धि न हो, इसके लिये नियम बना दिये। अब यह विचारणीय है कि संस्कृत-भाषाकी रचना किसने की। साधारण जनताने मिलकर की अथवा किसी विद्वान्ने अपनी बुद्धिसे की। साधारण जनता यदि भाषा तैयार करती तो वह अनियमित होती। नियमके लिये तो ज्ञानकी आवश्यकता होती है,। यदि यह कहें कि किसी एक विद्वान्ने या अनेक विद्वानोंने मिलकर इसे बनाया तो फिर यह प्रश्न उठता है कि बिना पढ़े-लिखे वे विद्वान् कैसे बन गये। इसलिये अन्तमें यह कहना पड़ेगा कि संस्कृत-भाषा ईश्वरप्रदत्त है। युगके आदिकालमें अन्य ग्रहोंमें रहनेवाले ऋषियोंने सर्वज्ञ, संसाररक्षक परमात्माकी आन्तर-प्रेरणासे इस पृथ्वीपर जन्म लेकर संस्कृत-भाषा और अनादि-सिद्ध ज्ञानकी सम्पत्ति वेद जगत्को दिये।

अनेक विद्वानोंका ऐसा भी कहना है कि प्राचीन कालमें भी संस्कृत-भाषा साहित्य लिखनेके निमित्त केवल विद्वानोंकी भाषा थी, सब जनताकी साधारण बोलचालकी भाषा नहीं थी। इससे ऐसा कहना पड़ेगा कि संस्कृतकी रचना किसी विद्वान्ने की है, किंतु यह बात ठीक नहीं है। तीन हजार वर्ष पूर्व हमारे इस आर्यावर्त्त देशमें व्यावहारिक सब कार्योंमें जनता संस्कृत-भाषाका ही उपयोग करती थी; संस्कृतके सिवा अन्य कोई भाषा नहीं थी। पाली और मागधी भाषाएँ पीछे संस्कृतसे ही अपभ्रंश होकर निकली हैं। यदि देश-भाषा दूसरी होती तो पाली-मागधीपर उस भाषाका भी प्रभाव अवश्य पड़ता। किंतु उनके साहित्यपर अन्य किसी भाषाकी छाया

नहीं दिखायी पड़ती । पाली और मागधीके अतिरिक्त अन्य देशोंकी भाषाओंपर भी संस्कृतका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । यदि केवल विद्वानोंकी ही भाषा संस्कृत होती तो अन्य भाषाओंमें संस्कृतके अपभ्रंश शब्द नहीं मिलते । इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्यमें किसी प्राचीन भाषाका नाम अथवा शब्द नहीं मिलता है । इसलिये संसारकी आद्य भाषा संस्कृतको ही मानना पड़ेगा; और आद्य भाषा होनेके कारण उसे ईश्वरदत्त भी कहना ही पड़ेगा ।

वेदोंके विषयमें कोई-कोई यह भी कह बैठते हैं कि 'वेदोंमें पहाड़, नदी, बादल, साँप, रोग आदिसे भयभीत होकर तथा भोलेपनके कारण उनके रहस्यको न समझ सकनेके कारण जो ऋचाएँ उन पूर्वपुरुषोंने बनायी हैं, उन्हें धर्मका अंश कैसे मान सकते हैं ? विभिन्न परिस्थितियों तथा तत्कालीन धार्मिक कृत्योंके वर्णन वेदोंमें भरे पड़े हैं । इन सबके संग्रह वेदको ईश्वरका बनाया हुआ मानना या उसे धर्मशास्त्र कहना प्रत्यक्ष भूल है । धार्मिक दृष्टिसे वेदोंका कोई मूल्य नहीं, वे तो इतिहास-ग्रन्थ हैं ।'

इस प्रकारका विचार रखनेवाले लोग वास्तवमें वेदका कुछ भी ज्ञान नहीं रखते । यदि वे नासदीयादि पारमार्थिक सत्यका बोध करानेवाले सूक्त देखें तो उन्हें सहज ही अपनी गलती समझमें आ जाय । ईश्वर और सत्यका स्वरूप बतलानेवाले ज्ञानपूर्ण उपदेश, हृदयके विक्षेप-दोषका शमन करनेवाले उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डकी विधिको इतिहास कहना कितने आश्चर्यकी बात है ! वेदके रचयिता पूर्वपुरुष भोले और कम बुद्धिवाले थे—यह न मालूम उन्होंने

कैसे जान लिया। चाहे जो समझ लेने और कह डालनेकी तो कोई दवा ही नहीं है!

८—ऋतु-कालकी दृष्टिसे देशकी स्थितिका निरीक्षण करनेपर भी ईश्वरकी लीलाका अनुभव होता है। सब ऋतुओंका परिवर्तन नियमपूर्वक होता है। किसी भी ऋतुकी अनियमित प्रतीति नहीं होती। वर्षा ऋतुमें वृष्टि होनेके कारण अनेक छोटे-छोटे जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, जिनमेंसे बहुत-से इतने छोटे होते हैं कि बिना यन्त्रकी सहायतासे दिखायी भी नहीं पड़ते। इनमेंसे अनेक जातिके जन्तु मनुष्योंके आरोग्यके नाशक होते हैं। ऐसे जन्तुओंका नाश करनेके हेतु साथ-ही-साथ मक्खियाँ भी बहुत परिमाणमें उत्पन्न होती हैं। जब ये जन्तु कम हो जाते हैं, तब मक्खियोंको मारनेवाली मकड़ियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। कदाचित् कोई शङ्का करे कि ऐसे जन्तु—मक्खी, मकड़ी, मेढक, चूहे, साँप, बिल्ली इत्यादि सर्वज्ञ परमात्माने क्यों पैदा किये? किंतु यह शङ्का नासमझीकी है। परमात्माकी सृष्टिमें कुछ भी अनुपयोगी नहीं है; हम नहीं जानते, इससे क्या हुआ? फिर पूर्वजन्मोंके संस्कारके अनुसार शरीर मिलता है। प्राणिमात्रको पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। जबतक दुष्ट संस्कार रहेंगे, तबतक पारमार्थिक ज्ञान मिल नहीं सकेगा। दुष्ट संस्कारोंको जलानेके लिये, वासनाओंका नाश करनेके लिये, सहनशीलता बढ़ानेके लिये ऐसे अनेक जन्मोंकी आवश्यकता रहती है। दुःख भोगे बिना और प्रतिकूल परिस्थितिका सामना किये बिना वास्तविक सुख नहीं मिलता। जब बालक विद्याध्ययनमें प्रेमपूर्वक अधिक परिश्रम करेगा, खेलने-कूदनेमें विद्याध्ययनका उपयोगी समय

नहीं लगायेगा, तभी वह पण्डित बन सकेगा। जब किसान सूर्यकी गरमी, वृष्टि, ठंढी हवा इत्यादि सब बुद्धिपूर्वक सहन करते हुए खेतीमें परिश्रम करता है, तब उसको फसल मिलती है। बिना दुःख भोगे सुख नहीं मिलता—यही नियम है। इस विषयका विशेष समाधान 'कर्मवाद' पर विचार करते समय किया जा सकता है; क्योंकि इस शङ्काका सम्बन्ध कर्मवादसे ही है।

शरद् ऋतुमें जो-जो अन्न उत्पन्न होते हैं, वे सब प्रायः पित्तप्रकोप करनेवाले होते हैं। और इस पित्तप्रकोपको शमन करनेवाली पित्तपापड़ा आदि ओषधियाँ भी उसी शरद् ऋतुमें उत्पन्न हो जाती हैं। वसन्त ऋतुमें प्रायः कफका प्रकोप होता है। ऐसे समयपर कफशमनकारक कटु ओषधियाँ परमात्मा तैयार कर देते हैं। इन सब नियमोंको क्या प्रकृतिका स्वाभाविक कार्य कहा जायगा? नियममें ज्ञान चाहिये; प्रकृति तो जड है। इसलिये अन्तमें ईश्वर-शरणको स्वीकार किये बिना छुटकारा ही नहीं है।

९—मनुष्योंके और प्राणिमात्रके शरीरमें विचार करनेवाला मन है, यह सब जानते हैं। इस मनके बलका विचार करनेसे सर्वव्यापक ईश्वरकी सिद्धि होती है। किसी व्यक्तिका मन कमजोर है और किसीका बलवान्। परतन्त्र पशुओंके मनसे स्वतन्त्र पशुओंका मन प्रायः बलवान् होता है। मनुष्योंमें भी परतन्त्रका मन प्रायः कमजोर हो जाता है। इसी तरह अनैतिक मनुष्यका मन भी कमजोर हो जाता है। परतन्त्रता और अनीतिसे मनका बल घट जाता है। परंतु स्वतन्त्र रहकर प्रतिकूलताका सामना करनेसे और नीतिका

आग्रहपूर्वक पालन करनेसे मनोबल चढ़ जाता है। साथ-ही-साथ धैर्य, साहस, उत्साह आदि गुणोंका भी विकास होता है। अनेक मनुष्य त्राटक, ध्यान, उपासनादि क्रियासे अधिक परिमाणमें मनोबल प्राप्त कर लेते हैं। अनेक व्यक्तियोंमें जन्मसिद्ध मनोबल प्रतीत होता है। मनोबलवालोंका अन्य व्यक्तियोंपर प्रभाव पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानोंने मनोबल (Will-Power) विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। अपने देशमें प्राचीन योग और उपासनाके अनेक ग्रन्थ हैं और अर्वाचीन कालमें भी अनेक नये ग्रन्थ विद्वानोंने लिखे हैं। पाश्चात्य विद्वानोंके ग्रन्थोंमें मेस्मेरिज्म विद्याकी प्राप्तिके निमित्त अधिक प्रयत्न किया गया है। मेस्मेरिज्म सीखनेवालोंको पहले त्राटकका अभ्यास करना पड़ता है। त्राटक योगाभ्यासका एक छोटा-सा अङ्ग है। इस विद्याको जाननेवाले सब देशोंमें मनोबलके प्रयोग दिखाया करते हैं। ये लोग अनेक मनुष्योंके असाध्य रोगोंको भी संकल्पसे दूर कर देते हैं। ये मेस्मेराइज किये हुए व्यक्तिको चीनी कहकर अफीम खिला सकते हैं और खानेवालेको चीनीका ही स्वाद आता है और गुण भी चीनीका ही होता है। ऐसे-ऐसे अनेक प्रकारके प्रयोग मेस्मेरिज्म जाननेवाले दिखाते हैं। एक महावतका छोटा-सा लड़का हाथीको बदमाशी करते हुए देखकर जोरसे चिल्लाकर आवाज देता है, बस, तुरंत मदोन्मत्त हाथी कम्पित होकर आज्ञानुसार आचरण करने लगता है। लड़केकी अपेक्षा हाथीमें शरीर-बल अनेक गुना अधिक होनेपर भी केवल मनोबलकी कमीके कारण वह भयभीत हो जाता है। यह मनोबल कहाँसे मिलता है? प्रकृतिके परमाणुओंका रूपान्तर हो जानेसे सबके अंदर मनोबल बढ़ जाता है, ऐसा कोई भी नहीं कह

सकता । जब त्राटक और ध्यानद्वारा अथवा सादाचारका पालन करनेसे मनोबलकी वृद्धि होती है, तब यह नहीं माना जा सकता कि बाहरसे प्रकृतिके परमाणु शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं। यदि कोई यह कहे कि शरीरके भीतरके परमाणुओंमें स्वाभाविक परिवर्तन हो जानेसे मनोबल बढ़ जाता है तो यह भी ठीक नहीं मालूम होता; क्योंकि मनुष्यके शरीरसे हाथीका शरीर बहुत बड़ा और बलशाली होता है; किंतु उसमें मनोबल मनुष्यकी अपेक्षा बहुत कम होता है। इसलिये ऐसा कहना पड़ेगा कि यह मनोबल सर्वव्यापक चैतन्यकी शक्तिसे ही मिला है। यदि सर्वव्यापक चैतन्यका अभाव होता तो जगत्‌में ज्ञान, मनोबल, विभिन्न नियमित रचनाएँ आदि कोई भी चीज देखनेमें न आतीं। और अफीम खिलाकर चीनीके स्वादका भान करा दिया जाय, शरीरमें चीनीका ही गुण हो, अफीमका असर न हो—इससे भी सर्वज्ञकी संकल्पमयी सृष्टि सिद्ध होती है। संकल्पसे यदि सृष्टि न बनी होती तो मेस्मेरिज्म विद्या जाननेवालों अथवा योगियोंके संकल्पका प्रभाव अन्य व्यक्तियोंपर कुछ भी नहीं पड़ता। इस सत्यको विशेषरूपसे जाननेके लिये मानसशास्त्र (Psychology) और अध्यात्मशास्त्र (Philosophy) के अभ्यासकी आवश्यकता है।

अब अन्य रीतिसे मनका निरीक्षण करें। परस्पर व्यवहार करनेवाले मनुष्योंमें जबतक एक-दूसरेके प्रति पवित्र भाव रहता है, तबतक वे व्यवहार सरलतासे करते रहते हैं; परंतु जहाँ किसी व्यक्तिके हृदयमें किसी कारणसे परिवर्तन हुआ कि वही भाव तुरंत दूसरेके मनमें भी आने लगता है। फिर दोनों एक-दूसरेकी भावना

जान लेते हैं। परस्पर वार्तालापके समय भले ही शब्दोंसे वे मनोभाव छिपा लें; परंतु हृदयसे हृदयका भाव वे नहीं छिपा सकते। यदि आप बालकोंकी तरफ प्रेमभरी दृष्टिसे देखें तो वे भी अपनी प्रसन्नता दिखावेंगे और क्रोधसहित देखें तो उनके कोमल मनपर भयका असर हो जायगा। आप अप्रसन्नता दिखायँगे तो वे भी उदास हो जायँगे। ऐसी ही बातें पशुओंमें भी दिखायी देती हैं। जब वे किसीको मारनेके लिये आते हुए देखते हैं, तब कम्पित होकर भाग जाते हैं। जब कोई प्रेम करनेवाला आता है, तब वे भी अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। इन दृष्टान्तोंसे निश्चित होता है कि मनुष्य और प्राणिमात्रके भाव परस्पर समझमें आ जाते हैं। इसलिये हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि किसी सर्वज्ञके द्वारा ही परस्पर मनका सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक जोड़ा गया है।

किसीने अपना अथवा दूसरेका मन नेत्रोंद्वारा देखा नहीं है। किसी डाक्टरने भी यन्त्रद्वारा नहीं देखा है। फिर भी यह सबका अनुभव है कि प्रेमीके मनके साथ अपने मनका समागम होता रहता है। यहाँतक कि दूरदेशमें चले जानेपर भी अनेक बार एक ही समयपर एक-दूसरेका चिन्तन होता है और उसका असर शरीरपर भी पड़ता है, जिससे शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। किसी विरोधी विचारवाले व्यक्तिके मनके साथ अपना मन कभी नहीं मिलता। इस तरह जो स्वेच्छानुसार मनका संयोग-वियोग होता है, उसका आधार सर्वव्यापक पूर्ण सामर्थ्यवान् चैतन्य ही हो सकता है। यदि इसका हेतु प्रकृति होती तो यह संयोग-वियोग स्वाभाविक ही हुआ करता, स्वेच्छाका उसमें कोई स्थान न होता।

मन एक करण है। मनको प्रवृत्त करानेवाला कर्ता मनसे (करणसे) भिन्न होना चाहिये। मेरा मन दूसरी ओर था, इसलिये मैंने नहीं सुना; मेरा मन दूसरी ओर था, इसलिये मैंने नहीं देखा; ऐसा प्रायः सब लोग अक्सर कहा करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मन एक करण है। और जो करण है वह कदापि कर्ता नहीं हो सकता। कर्तारूप जीवात्मा मनसे भिन्न ही होगा। कर्ता अपनी इच्छासे ही ज्ञानपूर्वक क्रिया करता-कराता है। करणको क्रिया करनेमें कोई भी स्वतन्त्र नहीं कह सकता। यदि नास्तिक लोग विचार करके देखें तो वे भी स्पष्टरूपसे यह सत्य समझ सकेंगे कि केवल एक मनरूप करणका सम्यक् रूपसे विचार करनेपर देहली-दीपक-न्यायवत् प्रवर्तक आत्माका और दूसरेके मनके साथ सम्बन्ध होनेके लिये सर्वव्यापक परमात्माका बोध एक ही साथ हो जाता है।

१०—इतिहासका अध्ययन करनेसे भी रक्षक शक्तिका अनुभव होता है। जब यज्ञके बहाने भारतवर्षमें सर्वत्र भयंकर पशुसंहार होने लगा, तब गौतमबुद्ध उत्पन्न हुए, जिन्होंने बौद्ध-धर्मका प्रचार करके हिंसामय यज्ञ-यागादि क्रिया बंद करा दी। कालान्तरमें जब बौद्ध-सम्प्रदायमें वाममार्गकी तान्त्रिक क्रियाओंके नामपर भयंकर अनीतिपूर्ण क्रियाएँ होने लगीं, तब शङ्कराचार्यने सनातनधर्मका प्रचार करके बौद्ध-धर्मको दबा दिया। सनातनधर्मावलम्बियोंमें भी जब शुष्क ब्रह्मज्ञानकी वृद्धि हुई, तब रामानुजादि आचार्योंने समाजको भक्तिसुधाका पान कराया। ऐसे ही राजनीतिक इतिहासमें जब सत्रहवीं

सदीमें औरंगजेब धर्मके नामपर भयंकर जुल्म करने लगा, तब छत्रपति शिवाजी महाराज, गुरु गोविन्दसिंहजी, महाराणा राजसिंहजी और दुर्गादास राठौर—ये चार महारथी अलग-अलग प्रान्तोंमें पैदा हुए। यह नियम है कि आवश्यकता होनेपर अत्याचारका सामना करनेवाली शक्ति तैयार हो जाती है। ऐसा और भी अनेक समयोंमें प्राचीन कालमें हुआ है, यह इतिहाससे सब कोई सहज ही समझ सकते हैं। इस समय भी ऐसा ही हो रहा है। कहनेका मतलब कि सब समयमें सब देशोंमें प्रतिकूलताका सामना करनेके लिये तथा समाज और देशका रक्षण करनेके लिये एक अथवा अधिक व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं। इसे प्रकृतिका कार्य कहेंगे या ईश्वरकी अद्भुत लीला? यदि विपरीत भाव न रखकर थोड़ा भी विचार किया जाय तो सत्यकी झाँकी मिल सकती है।

११—संसारमें उन्नति और अवनति सब देशोंकी, सब सम्प्रदायोंकी और सब समाजोंकी होती रहती है। इसमें भी ईश्वरकृत नियमका अनुभव होता है। यह संसार चल है, किसीकी स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती। सूर्य, पृथ्वी आदि मण्डल चल हैं, वायु बहता ही रहता है, जल नीचेकी ओर बहता रहता है, ऋतुओंका क्रमशः परिवर्तन होता रहता है और शरीरमें बाल्य-यौवनादि अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। इसी तरह उन्नति और अवनति भी क्रमशः होती रहती है। एक समय जो जाति राज्य कर रही थी, वही आज परतन्त्रता भोग रही है; जो जाति किसी समय परतन्त्र थी, वही आज दूसरोंपर प्रभुत्व कर रही है। अपने ही देशको देखिये, एक समय यह कितनी उन्नति कर गया था। सरस्वती

और लक्ष्मी दोनों देवियोंकी इसपर पूर्ण कृपा थी। उस समय संसारभरमें इसका गुणगान हो रहा था; किंतु आखिरकार इसका सौभाग्य-सूर्य भी अस्ताचलकी ओर चल ही पड़ा और अन्तमें इसकी जो अवस्था हुई, उसका पता हम सबको है ही। अब पुनः हम अपनी अवस्थाको समझने लगे हैं और पतनके गर्तसे निकलकर ऊँचे चढ़नेका प्रयत्न करने लगे हैं। कौन कह सकता है कि हम इसी अवस्थामें पड़े रहेंगे और हमारी उन्नति होगी ही नहीं? क्या यह सब कार्य जड प्रकृतिका है? थोड़ा विचार करनेपर ही इसके अंदर भी ईश्वर-लीलाका दर्शन हो सकता है।

१२—संसारके सब जीवोंके कल्याणके लिये परमात्माने नियम बनाये हैं। प्राणिमात्रको परमात्मा सत्यके निकट पहुँचनेके लिये सामर्थ्य प्रदान करता है। यदि विपरीत बुद्धि छोड़कर, ईश्वरीय नियमानुसार निरीक्षण किया जाय तो यह बात सहज ही समझमें आ सकती है।

आस्तिकवादी इस संसारको अनादि मानते हैं। अनादिका अर्थ है आदि यानी उत्पत्तिरहित। किसकी उत्पत्ति नहीं, इस पृथ्वीकी अथवा पृथ्वीवासी मनुष्यादि प्राणियोंकी? इस पृथ्वीकी उत्पत्तिका निश्चित काल मालूम न होनेपर भी यह मानना ही पड़ेगा कि इसकी उत्पत्ति किसी अज्ञात भूतकालमें हुई थी। कारण, किसी भी कार्यको हम अनादि नहीं कह सकते और पृथ्वी भी एक कार्य ही है। वनस्पति, पशु, पक्षी और मनुष्यादि सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशका अनुभव तो हमें बराबर हो ही रहा है। तो फिर संसार अनादि

है, इसका क्या मतलब? जीवात्मा—जो परब्रह्मका अंश है—अनादि है और कार्यरूप विनाशी पृथ्वी, सूर्यादि मण्डल और प्राणिमात्रके शरीरका उपादानकारणरूप प्रकृति भी अनादि है; परंतु दोनोंमें अन्तर यह है कि जीवात्मा अपरिणामी नित्य है और प्रकृति परिणामी नित्य है। परिणामी तत्त्वको अपरिणामी तत्त्वका आधार होना चाहिये। नित्य, अविचल, अपरिणामी आधारके विना परिणामी प्रकृतिकी नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती। प्रकृतिके जिस परमाणुसमुदायसे इस ब्रह्माण्ड (सूर्यादि मण्डल, पृथ्वी और प्राणिमात्र) की उत्पत्ति हुई है, उसी परमाणु-समुदायसे इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिसे पहले अनन्त वार ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति और नाश हो चुका है। प्रकृतिमेंसे कोई भी सृष्टि पहली वार नहीं हुई। ऐसे कार्यरूप जगत्के अनन्त वार उत्पन्न होने और नष्ट हो जानेपर भी चैतन्य (ईश्वर और आत्मा) तथा कारणरूपा मूल प्रकृति अनादि होनेके कारण सृष्टिको अनादि माना है। कार्यरूपा सृष्टिको अनादि नहीं माना है। प्रवाहरूपसे तो सृष्टिको अनादि कह सकते हैं; किंतु केवल उत्पत्तिका अभाव कहकर वर्तमान सृष्टिको किसी भी विद्वान्ने अनादि नहीं माना है। और सृष्टिका जब-जब आरम्भ होता है, तब-तब नये-नये जीवात्माओंकी उत्पत्ति नहीं होती। परंतु पूर्वसृष्टिके अनुशयी (प्रकृतिका आश्रय करके सुप्तावस्थामें पड़े हुए) जीवात्माओंमेंसे जिन-जिनकी विश्रान्तिका समय पूर्ण हो जाता है और उनके जन्म लेनेका समय प्राप्त होता है, उन-उनकी उत्पत्ति पुनः-पुनः होती रहती है। वास्तविक दृष्टिसे यह उत्पत्ति नहीं वरं पुनरागमनमात्र है, और

जीवोंके पूर्व जन्मार्जित संस्कारोंके अनुसार उन्हें मनुष्ययोनि या इतर योनि, सुख-दुःख और ज्ञानकी न्यूनाधिकता प्राप्त होती रहती है।

प्राणिमात्र कर्म करनेमें स्वतन्त्र है; परंतु फल भोगनेमें परतन्त्र है। किये हुए कर्मोंका फल भोगे विना नष्ट नहीं हो सकता। इस कारण कर्मोंके अनुसार न्यूनाधिक सुख-दुःख प्रतीत होते हैं। सुख-दुःख भोगते-भोगते सबको दुःखसे छूटनेकी इच्छा भी हो जाती है; परंतु दुःख कैसे दूर हो, यह सब कोई नहीं जान सकते। केवल सदाचारी और पुण्यात्मा व्यक्तियोंको ही ईश्वरकी शरणमें जानेकी इच्छा होती है, जिससे वे सर्वदा ध्यानादि क्रिया करते हुए ईश्वरीय नियमके अनुसार सत्यकी ओर अग्रसर होते रहते हैं और अन्तमें सांसारिक दुःखोंसे छूट जाते हैं। जिस तरह सेवन करनेवालोंकी सर्दी दूर करने और भोजन पका देनेके लिये तथा सेवन न करनेवालोंकी सर्दी दूर न करने और भोजन न पका देनेके लिये हम अग्निको अन्यायी या पक्षपाती नहीं कह सकते, उसी तरह भक्ति, ध्यानादिके द्वारा सत्यका विशेष साक्षात् हो जाने तथा दुःखसे मुक्ति मिल जानेके कारण परमात्माको भी खुशामदपसंद नहीं कह सकते। जब कोई अधिकारी मनुष्य ज्ञानपूर्वक ध्यानादि क्रिया करके सत्यके अधिक निकट पहुँचता है, तब उसके हृदयसे राग-द्वेष, भय, क्रोध, ईर्ष्या, असत्य, अनीति, दुराचार और हिंसादि वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और दया, उदारता, क्षमा, प्रेम, भक्ति, धैर्य, शान्ति, सत्यपरायणता इत्यादि धार्मिक वृत्तियाँ बढ़ जाती हैं। इस तरह धीरे-धीरे दुष्ट वासनाओंका नाश हो जाता है, मन विषयसेवनसे

उपराम हो जाता है और सत्य अनुभवजन्य ज्ञान बढ़ जाता है। संसारमें इस तरहके अनेक व्यक्ति देखे जाते हैं किंतु कुवृत्तियोंका नाश, सद्वृत्तियोंका विकास, विषयासक्तिसे उपरामता और ज्ञानकी वृद्धि—यह सब एक ही जन्ममें मातृ-पितृ-प्रदत्त संस्कारके अनुसार नहीं हो जाता। यदि माता-पिताके गुण अथवा उपदेश ही पूर्णतः संततिमें आते, अथवा प्रकृतिके स्वभावसे सहज ही हृदयका विकास हो जाता तो कालिदास, शेक्सपियर, बालगङ्गाधर तिलक, छत्रपति शिवाजी, नेपोलियन बोनापार्ट, अकबर, औरंगजेब, महात्मा गान्धी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर इत्यादि व्यक्तियोंके समान ही उनकी संततिमें भी गुण देखे जाते अथवा अन्य समयोंमें भी ऐसे व्यक्ति संसारमें देखे जाते; किंतु ऐसा नहीं होता। क्या कारण है कि आजतक कालिदासके समान दूसरा कोई कवि नहीं हुआ; तिलक और गान्धीजीके सब पुत्रोंमें उनके समान ही गुण सर्वांशमें क्यों नहीं आये? छत्रपति शिवाजीके समान बल-पौरुष और चतुराई उनके पुत्रोंमें क्यों नहीं आयी? इसका कारण केवल यही कहा जायगा कि यह अन्तर उनके पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण ही देखा जाता है। इन पूर्व जन्मके दुष्ट संस्कारोंका क्रमशः नाश और शुभ संस्कारोंकी वृद्धि ईश्वरकी कृपा और भक्तिके बिना नहीं होती। जिसको हम महान् दुराचारी समझते हैं, वे भी किसी-न-किसी समय साधुवृत्तिवाले हो जाते हैं। वे इस जन्ममें अथवा भावी जन्ममें विषयोंसे उपराम होकर ईश्वरके मार्गमें लग जायँगे और उन्हें भगवान् आगे बढ़नेका सामर्थ्य देंगे—इसमें सन्देह नहीं। इन सब बातोंसे भगवान्‌की लीला सहज ही समझमें आ जाती है।

१२—पृथ्वीपर मनुष्योंके कल्याणके निमित्त सुवर्णादि धातु और नाना प्रकारकी वनौषधि आवश्यकतानुसार उत्पन्न की गयी हैं। इस सृष्टिमें अनेक प्रकारकी धातुओं और रत्नोंकी खानें हैं। इन सबकी उत्पत्ति उपयोगके अनुसार न्यूनाधिक परिमाणमें होती है। जैसे लोहेका उपयोग अत्यधिक परिमाणमें होता है, इसलिये उसकी उत्पत्ति भी अन्य सब धातुओंकी अपेक्षा अत्यधिक परिमाणमें होती है। यदि इतने अधिक परिमाणमें लोहेकी पैदाइश न होती, केवल सुवर्णके बराबर ही होती तो निर्धन मनुष्योंको जीवन-निर्वाह करनेमें बहुत कष्ट होता, और यदि लोहेकी उत्पत्ति बिल्कुल न होती और सुवर्ण अधिक परिमाणमें निकलता तो भी सुवर्ण मृदु धातु होनेके कारण लोहेके अभावमें उसका उपयोग करनेमें असुविधा ही होती।

दूसरी दृष्टिसे, धनिकवर्गके निमित्त आरोग्य-शास्त्रके अनुसार सुवर्ण राजयक्ष्मा, ज्ञानतन्तुओंकी विकृति, उष्णता और सन्निपातादि अनेक रोगोंका नाशक प्रथम श्रेणीका औषध माना गया है तथा मानसशास्त्रकी दृष्टिसे भी सुवर्ण दूषित विचारोंके असरसे रक्षा करता है। यदि शरीरपर विद्युत्पात होता हो तो वह शीघ्र सुवर्णमें आकर्षित हो जायगा और इस तरह शरीरकी रक्षा हो जायगी। इस तरह गुणाधिक्यके कारण परमात्माने सुवर्णको न्यून परिमाणमें उत्पन्न किया है। ऐसे ही हीरा तथा मणि-माणिक्यादि रत्नोंमें रासायनिक गुण सुवर्णादि सब धातुओंकी अपेक्षा विशेष परिमाणमें है तथा मानसशास्त्रकी दृष्टिसे उन्हें धारण करनेमात्रसे ही शरीरके अनेक रोगोंसे एवं प्रतिकूल ग्रहोंकी विद्युत्के सम्बन्धसे प्राणतत्त्वमें आनेवाली विकृतिसे रक्षा हो जाती है। इस तरह सुख-भोगके पदार्थ केवल

धनिकवर्गके लिये होनेके कारण कम परिमाणमें उत्पन्न किये गये हैं और सर्वसाधारण जनताकी जीवनरक्षाके लिये उपयोगी पदार्थ पृथ्वीके सब देशोंमें अधिक परिमाणमें स्रष्टाने पैदा किये हैं। प्याज, लहसुन आदि आरोग्यशास्त्रकी दृष्टिसे अधिक शारीरिक श्रम करनेवालोंके लिये बड़े महत्त्वकी ओषधियाँ हैं, इस हेतु ये बहुत अधिक उत्पन्न की गयी हैं, परंतु साथ-ही-साथ इनमें कामोत्तेजक और निद्रावर्द्धक गुण तथा उग्र दुर्गन्धकी योजना भी कर दी है, जिससे सत्त्वगुणी वृत्तिवाले इनका उपयोग कम करें और साधारण वर्गको इनकी प्राप्तिमें अधिक सहूलियत रहे। इस रीतिसे सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर यह सहज ही बोध हो जाता है कि सृष्टिकी रचना ज्ञानपूर्वक की गयी है।

१४—नास्तिक लोग ईश्वरके विरुद्ध एक दलील यह देते हैं कि पृथ्वीकी बनावटपर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब हमें बड़ी गड़बड़ी दिखायी पड़ती है। कहीं तो हिमालय-जैसा ऊँचा और बर्फसे ढका हुआ पहाड़ है; कहीं जैसलमेरका-सा जलशून्य रेगिस्तान। कहीं बड़ी-बड़ी झीलें भरी पड़ी हैं और कहीं लोग पानीके अभावमें प्यासे मरते हैं।' किंतु इन बातोंमें जो उन्हें दोष दिखायी पड़ता है, वह केवल इसलिये कि वे विपरीत दृष्टिसे ही देखते हैं। एक दृष्टिसे जो गुण मालूम होता है, वही अन्य दृष्टिसे दोष भी प्रतीत होने लगता है। जैसे शवको शीघ्र जला देना धर्म-शास्त्र, रूढ़ि और आरोग्य-शास्त्रकी दृष्टिसे अति हितकर माना जाता है; परंतु आयुर्वेद पढ़नेवाले विद्यार्थियोंके लिये शवको चीरकर प्रत्येक अवयवका ज्ञान सम्पादन करना हितकर है। इसलिये उनकी दृष्टिमें बिना चीर-फाड़ किये

शवको शीघ्र जला देना दोषरूप प्रतीत होता है। खादी पहनना भारतकी दीन दशा जाननेवाले देश-भक्तों और परोपकारी धर्मात्माओंकी दृष्टिमें महान् पुण्य कर्म है; परंतु इस रहस्यको न जाननेवाले, केवल विपरीत अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे देखनेवाले लोगोंको यह हानिकर प्रतीत होता है। ऐसे ही ये लोग विपरीत दृष्टिसे निरीक्षण करते हैं, ईश्वरीय नियमके अनुसार विचार नहीं करते। बिहारके भूकम्पके पश्चात् जगत्के बुद्धिमान् मनुष्योंकी समझमें यह बात आ गयी है कि इस पृथ्वीका अनेक ग्रहोंसे सम्बन्ध है; पृथ्वी और अन्य सब ग्रह विद्युत्के गोले हैं। वायरलेस, टेलीग्राम आदि विद्याने विद्युत्की सर्वव्यापकता सिद्ध कर दी है। इस विद्युत्का प्रभाव विशेषतः पर्वतोंके बर्फसे ढके हुए शिखरोंपर ही पड़े, नीचेके भागमें विद्युत्का आघात कम लगे, इसके लिये पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखर उपयोगी हैं। अनेक रोगग्रस्त व्यक्तियोंके लिये रेगिस्तानका शुष्क वातावरण लाभदायक है। संसारमें नाना प्रकारकी मनोवृत्तियाँ होनेसे बहुतोंके लिये जंगलका वास, बहुतोंके लिये पर्वतपर निवास करना हितकर है। मनका संयम करते हुए पारमार्थिक सत्यका अभ्यास करनेवालोंके लिये तथा आयुर्वेदका अध्ययन करनेवालोंके लिये पर्वतपर वास करना विशेष लाभदायक है। ऐसे-ऐसे अनेक लाभ विचार करनेपर मालूम हो सकते हैं और ऐसा भी हो सकता है कि वर्तमान समयमें अनेक लाभ हमारी समझमें न भी दीखें और कालान्तरमें संसारको ज्ञात हों अथवा सम्भव है मनुष्यकी बुद्धि मर्यादित होनेके कारण कभी भी समझमें न आवें। जब अनुकूल दृष्टिसे विचार किया जायगा, तब सब कार्योंमें ज्ञानमयी कृति प्रतीत होगी, प्रकृतिका मनगढ़ंत परिणाम नहीं

दिखायी देगा । इस पृथ्वीपर समुद्र, पर्वत, रेगिस्तान आदि सब कुछ हेतु सामने रखकर बनाये गये हैं, कुछ भी निरुपयोगी नहीं है । अतिवृष्टि अथवा दुष्कालसे जो ऐसे लोगोंको हानि प्रतीत होती है, वह भी एक भूल ही है । मनुष्य आलसी और परावलम्बी न बने, सृष्टिनियमको विशेषरूपसे जाननेके लिये तथा अपनी जीवनरक्षाके लिये प्रयत्न करे, इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा जो ईश्वरकृत प्रतिकूलताएँ हैं, वे सभी अति हितकर हैं । अतिवृष्टि और अनावृष्टिसे रक्षा पानेके निमित्त संसारमें ज्यौतिष और वायुशास्त्रका आविष्कार किया गया है । ऐसे ही अन्य अनेक प्रकारकी प्रतिकूल परिस्थितियोंके द्वारा अनेक सत्य-रहस्यका बोध जगत्‌को हुआ है ।

अनावृष्टि और अतिवृष्टिका सम्बन्ध व्यक्तिगत प्रारब्ध, देशकी उन्नति-अवनति और कालमहिमाके साथ है । व्यक्तिगत प्रारब्धके विषयमें फिर कभी विचार किया जा सकता है । देशकी उन्नति-अवनतिके विषयमें पहले विचार किया जा चुका है । देशकी उन्नतिके समय प्रायः अधिक अनुकूलता और अवनतिमें अधिक प्रतिकूलता होती है । कालमहिमाके विषयमें यहाँ संक्षेपमें विचार किया जा रहा है ।

कालमहिमाका प्रभाव प्रायः सबसे पहले राजाके हृदयपर पड़ता है, पश्चात् प्रजापर होता है । इसलिये शास्त्रकारोंने लिखा है कि—

सर्वे राजाश्रिता धर्मा राजा धर्मस्य धारकः ।

'राजाके आश्रित सब धर्म रहते हैं । राजा ही धर्मको धारण करता है ।' इस संसारमें जब अनुकूल काल आता है, तब राजा

प्रायः नीतिज्ञ होते हैं और प्रतिकूल समय आनेपर भयंकर जुल्म करनेवाले पैदा होने लगते हैं। साथ-ही-साथ पृथ्वी भी मन्दफला हो जाती है। जब राजाकी नीतिपर दुष्ट कालका असर होता है, तब देशपर अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आ जाती हैं। जिस साल धूमकेतु दिखायी देता है, उस साल राजालोगोंमें अधिक मरण, नाना प्रकारके रोग, लड़ाई या अन्य उपद्रव खड़े हो जाते हैं। १९१८ से पहले बरारकी जमीनमें अन्नादिकी जैसी उत्पत्ति होती थी, वैसी उसके बाद बहुत वर्ष बीतनेपर अभीतक नहीं हुई है। यह आँखों देखी हुई बात है; भावकी न्यूनता और टैक्सकी अधिकताके कारण, आर्थिक दृष्टिसे देखा जाय तो, जमीन-आसमानका अन्तर हो गया है। इसी तरह भारतके अनेक प्रान्तोंमें फसलकी पैदावार कम हो गयी है। कुछ समय पहले जगत्के सब देशोंके धनिकोंपर बहुत-सा धनमद चढ़ गया था। अब उसी स्थितिने पलटा खाया; प्रायः सभी राज्योंकी समाप्ति हो गयी और धनिकोंकी सम्पत्ति नष्ट हुई जा रही है। परस्पर लेन-देनमें अविश्वास बढ़ गया और जगत्में व्यापार पहलेकी अपेक्षा बहुत ही कम हो गया। इस तरह मनुष्यसमाजकी मनोवृत्तिमें जो परिवर्तन हुआ, यह कालमहिमा ही कही जायगी; यह प्रकृतिका स्वभाव नहीं है।

कुछ शताब्दी पहले भारतमें स्थान-स्थानपर बारंबार गृहकलहका दृश्य दिखायी पड़ता था। अब १९ वीं शताब्दीके आरम्भसे यह रोग यूरोपमें भी फैल गया है। जबतक शूद्रवर्गके रक्तशोषक साइंसका मटियामेट नहीं हो जाता तथा पाप-वृत्तिसे प्राप्त की हुई

लक्ष्मी विष्णु भगवान्‌के पास समुद्रमें नहीं चली जाती, तबतक यूरोपमें आन्तर-विग्रहका शमन नहीं होगा और न पुनः शान्ति ही स्थापित होगी। यह नियम संसार-रक्षक ईश्वररचित है। प्रकृति जड होनेके कारण उसमें नियमकी उत्पत्ति और रक्षणका ज्ञान नहीं है।

जीवात्माओंको सत्यकी ओर अग्रसर होनेके लिये सांसारिक प्रतिकूलताओंका सहन करके मनोबल प्राप्त करना चाहिये। प्रतिकूलताके सहारेके विना मनोबल नहीं प्राप्त हो सकता। यदि मनोबलकी प्राप्तिके लिये इतना कष्ट सहना भारी माल्रम होगा तो फिर भावी सुखसे हम वञ्चित हो जायँगे। जिस तरह मुसाफिरी करनेके समय यदि कोई आवश्यक सामग्री इस खयालसे साथ न ले कि उनकी देख-रेख कौन करेगा तो उसे रास्तेमें अन्य प्रकारकी प्रतिकूलताएँ सहन करनी पड़ेगी, उसी तरह यदि मनोबलकी प्राप्तिके लिये कष्ट नहीं उठाया जायगा तो आगे चलकर अधिक दुःख भोगना पड़ेगा। इस दृष्टिसे प्रतिकूलता जीवात्माके लिये लाभदायक प्रतीत होती है, प्रतिकूलता केवल दुःखका हेतु नहीं है। सब देशोंमें जो प्रतिकूलता और अनुकूलता मिली हुई दिखायी देती है, उससे भी जीवात्माओंका कल्याण होता है। केवल सांसारिक विचित्रताको देखकर ही, उसके मूल कारणका कुछ भी विचार न कर, यों ही अंट-संट धारणा बना लेना एक प्रकारकी मूर्खता ही है।

अकालके समय अनेक मनुष्य, पशु-पक्षी मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। जबतक इसका सत्य हेतु नहीं माल्रम होगा, तबतक अविवेकी लोग इसके लिये ईश्वरको दोषी ठहरायेंगे; किंतु सत्यका बोध हो जानेपर उनकी धारणा बदल जायगी। यहाँपर एक उदाहरण

लेकर विचार करें। दूर देशमें गये हुए एक धनिकको उसके घरसे आये हुए एक नौकरने यह समाचार कहा कि आपके पुत्रको विषम ज्वर आया था; वह बेचारा खानेके लिये बहुत ही रोता-चिल्लाता था; परंतु आपकी धर्मपत्नीने उसे तीन दिनोंतक कुछ भी खानेको नहीं दिया, वह केवल जल देती रही। चौथे रोजसे थोड़ा-थोड़ा दूध देना आरम्भ किया है। इस समाचारके साथ ही नौकरने अपनी ओरसे टिप्पणी की कि 'बच्चा विषम ज्वरसे तो दुखी था ही, साथ ही अन्न नहीं मिलनेसे वह और भी थक गया है। माता नाराज होकर अपने ही बच्चेके प्रति अपना हृदय इतना कठोर बना ले, यह तो मैंने आपके ही घरमें देखा।' अब हम विचार करें कि नौकरके इस विचारमें दोष है या नहीं? विषम ज्वरमें यदि माता बालकपर दया और प्रेम करके उसे खानेको दे देती तो विषम ज्वर सन्निपातका रूप धारण कर लेता और इस तरह उसके प्राण भी संकटमें पड़ जाते। अविवेकी नौकर अथवा अबोध बालक ऊपरी दया अथवा प्रेमका भयंकर परिणाम नहीं जाननेके कारण इसे माताका दोष मान सकता है; किंतु विवेकी सज्जन जो यह जानते हैं कि विषम ज्वरमें उपवास कराना लाभदायक है, कभी दोषारोपण नहीं करेंगे। ऐसे ही अकाल आदि आपत्तियोंसे जीवात्माओंकी नाना प्रकारकी दूषित वासनाएँ जल जाती हैं, मनोबल बढ़ता है और उनमें भक्ति करके पारमार्थिक मार्गमें अग्रसर होनेकी प्रवृत्ति पैदा होती है। आस्तिकवादके अनुसार शरीरनाशके साथ जीवात्माका निधन नहीं होता; चेतन तो अनादि है और अनुभव भी ऐसा ही होता है।

प्रकृति परिणामी है, उसमें सदा रूपान्तर होता रहता है; परंतु इस संसारमें कार्यमें भी पुनः कारण-भावकी प्राप्ति देखी जाती है। ऐसे परिवर्तनके लिये अपरिणामी नित्य आधारकी आवश्यकता है। आधारके विना स्वयं प्रकृतिका परिणाम या परिवर्तन नहीं हो सकता। जैसे एक वीज पृथ्वीमें वोया गया, तव वीजके भीतर निगूढ़ अवस्थामें वर्तमान चेतना-शक्तिने पञ्चभूतके कार्य-रूप मिट्टीमेंसे रूपान्तर कर, पोषक रसको आकर्षित कर वृक्ष-रूप शरीरकी रचना की। अनन्तर वृक्षके फलोंको मनुष्योंने खाया, जिससे आन्तर शक्तिने सूक्ष्म भाग लेकर उसका उपयोग शरीर-वृद्धिमें किया और स्थूल भागको मल-मूत्रके रूपमें वाहर निकाल फेंका। इस मल-मूत्रादि दूषित पदार्थको वायु, वर्षा और आतपादिने व्यापक चैतन्यशक्तिके वलसे पुनः पञ्चभूतका रूप दे दिया। यह परिवर्तन-रूप क्रिया चैतन्यके आधारपर हुई। अपरिणामी आधारके विना यह रूपान्तर नहीं हो सकता। पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओंने पहले सृष्टिका मूल उपादान-कारण सत्तर-वहत्तर एलीमेंट्सको माना था; परंतु अव वे भी एक ही तत्त्वको मानते हैं। उस तत्त्वका नाम उन्होंने 'प्रोटाइल' रक्खा है। हमारे प्राचीन शास्त्रकार संसारका मूल कारण प्रकृतिको मानते हैं। यह प्रकृति 'प्रोटाइल' का भी कारण है, या प्रकृति और प्रोटाइल एक ही चीज है, केवल नाममात्रका ही भेद है। इसका निश्चय भविष्य कालपर निर्भर करता है। अभी हम प्रकृति और प्रोटाइलको एक ही चीज मान सकते हैं। पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि वर्तमान सव ब्रह्माण्डोंका किसी-न-किसी समय भविष्यमें नाश होगा और वे

प्रोटाइल-अवस्थाको प्राप्त होंगे। इस कारण-भावकी प्राप्तिके लिये उन्होंने स्थिर आधाररूप चेतनको भी स्वीकार किया है। चेतनके आधारके विना मूल कारण-भावकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और पुनः प्रकृति-रूप कारणमें क्रिया होकर नियमपूर्वक सृष्टिरचना भी नहीं हो सकती।

नास्तिक लोग पाश्चात्त्य विद्वानोंके लेखोंपर मोहित होकर अक्सर भौतिक शास्त्रकी खूब बड़ाई गाते हैं; किंतु उन्हें जानना चाहिये कि भौतिक शास्त्रकी शोध अभीतक अपूर्ण ही है और भविष्यमें पूर्णता प्राप्त कर लेगी यह भी कहना असम्भव है; क्योंकि मनुष्यकी बुद्धि मर्यादित है। मर्यादित बुद्धि अमर्यादित अनन्त तत्त्वको कदापि नहीं जान सकती। हाँ, केवल इतना कह सकते हैं कि जितनी नयी-नयी शोधें हों और उनका सदुपयोग किया जाय तो जगत्को लाभ पहुँच सकता है। भौतिक शास्त्रकी अपूर्णताका एक दृष्टान्त हम यहाँ देते हैं। सहस्रपुटी अभ्रक-भस्मकी परीक्षा भौतिक रसायनशास्त्र (Chemistry) के अनुसार करनेपर उसमें और गोबर या लकड़ीकी राखमें कोई अन्तर दिखायी नहीं पड़ता, परंतु जीवन-रसायन-शास्त्रकी दृष्टिसे सहस्रपुटी अभ्रक-भस्म सैकड़ों रोग दूर करनेवाली एक दिव्य ओषधि है। सिंगरफ, द्विगुणगन्धकजारित रससिन्दूर और षोडश-गुणगन्धकजारित रससिन्दूर, इन सबको रसायन-शास्त्र एक समान ही बतलाता है; परंतु इनके गुणमें बहुत बड़ा अन्तर देखा जाता है। हिङ्गुलमेंसे निकले हुए पारदका और बुभुक्षित पारदका पूर्ण चन्द्रोदय-रस भौतिक शास्त्रकी दृष्टिसे एक होनेपर भी शरीरपर जो उनके परिणाम होते हैं, उनमें जमीन-आसमानका अन्तर हो जाता है।

ऐसे अपूर्ण शास्त्रपर विश्वास करके पारमार्थिक सत्य सिद्धान्तकी अवहेलना करना भूलके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ऐसे सज्जनोंसे, जो केवल इसी शास्त्रपर विश्वास करते हैं, मेरी प्रार्थना है कि वे एक वार कड़ुई दवा सेवन करनेकी तरह अध्यात्म-विद्याका भी अभ्यास करें और फिर सत्यासत्यका निर्णय करें ।

ईश्वरपर विश्वास न करनेवालोंका एक तर्क यह है कि 'मृत्युके सम्बन्धमें जब कोई नियम नहीं है, तब यह मान लेना कि इसका नियन्त्रण किसी शक्तिके हाथमें है, पागलपनके अतिरिक्त और क्या है ? यदि किसी साधारण शासकको भी मृत्युका नियन्त्रण प्राप्त होता तो वह कोई-न-कोई नियम अवश्य बना लेता । नियमका अभाव तथा प्लेग-हैजा आदिका एक ही स्थानपर टूट पड़ना यह सिद्ध करता है कि ईश्वर नामकी कोई चीज नहीं है ।'

प्लेग, हैजा अथवा अन्य रोगोंसे एक साथ ही अनेक लोगोंका मरना, भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वतके उद्गार, अग्नि-काण्ड और जलप्रवाहादिसे अनेक जीवोंका एक साथ नाश हो जाना, ग्रह टूट जानेसे करोड़ों प्राणियोंका विनाश हो जाना, सूर्यमण्डलका नाश हो जानेसे ग्रहोंसहित असंख्य प्राणियोंका जीवन खो बैठना, कभी बालक, कभी युवा और कभी वृद्धका स्वर्गवास हो जाना—यह सब अनियमित या अनायास हो जाता है, यह कहना प्रलापमात्र है । हम केवल यही कह सकते हैं कि हमें उस नियमका पूर्णरूपसे बोध नहीं है । समुद्रमें ज्वार-भाटा बराबर नियमपूर्वक होता रहता है । यह क्यों होता है और कैसे होता है, इसका पता न्यूटनने लगाया; किंतु इसके पहले जब जगत्‌को यह सब मालूम नहीं था, उस

समय भी ज्वार-भाटा तो नियमपूर्वक ही होता था। इसी तरह मरणके विषयमें आजतक हमें कोई नियम नहीं मालूम हुआ, इसलिये हम इसे नियमरहित नहीं कह सकते।

मृत्यु दो प्रकारकी होती है—(१) कालमृत्यु और (२) अकालमृत्यु। पूर्ण आयु भोगनेपर जो मृत्यु होती है, उसे कालमृत्यु और आयु शेष रहनेपर भी एकाएक कोई दुर्घटना या विघ्न उपस्थित हो जानेपर जो मृत्यु होती है, उसे अकालमृत्यु कहते हैं। जिस तरह कोई लालटेन बारह घंटेंतक जलने लायक तेल भरा रहनेपर भी अचानक तीक्ष्ण वायुका झोंका लग जानेपर पाँच-दस मिनटमें ही बुझ जाती है, उसी तरह किसी विशेष कारणसे अकालमृत्यु होती है। अनेक प्रकारकी अकालमृत्युओंसे बचनेके लिये ओषधि, मन्त्र, योगाभ्यास, भक्ति, दान, सदाचारादि अनेक साधन शास्त्रकारोंने बताये हैं। प्रलय (ग्रहमण्डलका नाश) या महाप्रलय आदिसे बचनेके साधन नहीं बताये गये हैं; परंतु इनसे भी जीवोंका कल्याण ही होता है। अनेक भूत-जन्मोंकी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। अन्य दृष्टिसे विचार करें तो अकालमृत्युसे जीवित व्यक्तियोंका कल्याण दिखायी देगा। इस तरह सब प्रकारकी मृत्युका कोई-न-कोई हेतु और नियम है; यदि पूर्णरूपसे नियमका बोध न भी हो तो भी हम इसे केवल प्रकृतिकी स्वच्छन्द वृत्ति नहीं कह सकते। सृष्टिकी समस्त क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक ही चल रही हैं।

सृष्टिकार्य नास्तिकोंकी दृष्टिसे प्रकृतिका स्वाभाविक परिणाम है और आस्तिक इसे ईश्वररचित कहते हैं। वास्तवमें सृष्टि प्रकृतिकी ही रचना है; परंतु चेतनके आधारपर बनी है। जैसे जीवित

मनुष्यके मनमें इच्छा होनेपर उसके हाथ-पैरमें नियमित क्रिया होती है, किंतु मृत शरीरमें न इच्छा होती है, न कोई नियमित क्रिया; वैसे ही चैतन्यके सम्बन्धके हेतुसे इच्छा उत्पन्न होकर पीछे सृष्टिकी रचना होती है। सृष्टिमें सब क्रियाएँ नियमित देखी जाती हैं, इसका विस्तृत वर्णन ऊपर हो चुका है। इसलिये हम इसे प्रकृतिका मनगढ़ंत परिणाम नहीं कह सकते।

नास्तिक लोग इस विषयपर कभी विचार नहीं करते कि जब ईश्वर कोई नहीं है, तब इस संसारमें अनेक प्रकारके वृक्ष-लतादि, अनेक जातिके प्राणी तथा मनुष्य कैसे उत्पन्न हुए। सम्भवतः वे लोग डार्विन और हक्सले आदिके जडाद्वैतके अनुसार विकासवादको मानते हैं। वे इस बातपर विश्वास करते हैं कि पहले छोटे-छोटे जन्तु उत्पन्न हुए, अनन्तर विकास होते-होते बन्दर और बन्दरसे मनुष्य बन गये। किंतु इसमें शङ्का यह होती है कि इधर इतिहासकालके प्रायः तीन-चार हजार वर्षोंमें उन बन्दरोंमेंसे कोई मनुष्य बना है या नहीं अथवा अन्य जन्तुओंमेंसे कोई बन्दर बना है या नहीं; अन्य किसी तरहके पशुओंमेंसे कोई दूसरी जातिका पशु बन गया है या नहीं ? वैसे ही मनुष्योंमेंसे विकसित होकर अन्य कोई प्राणी बना है या नहीं ? यदि इतने दिनोंके इतिहासकालमें ऐसा कोई परिवर्तन नहीं हुआ तो हम यह कैसे मान लें कि प्राचीन भूतकालमें ही ऐसा हुआ था ? यदि किसी समयमें ऐसा एकाध परिवर्तन हुआ भी हो तो इसी कारण हम उसको प्रकृतिका स्वाभाविक परिणाम नहीं कह सकते। यदि प्रकृतिका ऐसा स्वभाव हो तो जाति-परिवर्तन निरन्तर होते ही रहना चाहिये था। अतएव यदि

किसी समयमें एकाध परिवर्तन हुआ हो तो उसका कोई दूसरा ही कारण कहना पड़ेगा।

माता-पितासे भिन्न विचार रखनेवाले बालक अनेक समय उत्पन्न होते हैं; कभी न्यून बुद्धिवाले, कभी अधिक बुद्धिवाले और कभी विरोधी विचारवाले भी देखनेमें आते हैं। किसी समय किसी एक स्थानमें एकाध व्यक्ति ऐसे अद्भुत बुद्धिवाले उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके मुकाबलेके दूसरे आदमी सैकड़ों वर्षोंतक नहीं देखे जाते। पुनः इन महापुरुषोंकी संतति साधारण मनुष्योंके ही समान होती है। इसे क्या प्रकृतिका स्वभाव कहेंगे? प्रकृतिके स्वभावमें किसी एक समय अचानक परिवर्तन हो जाना, फिर नियमानुसार बन जाना, यह कैसे हो सकता है? सत्य तो यह है कि कर्मफलके अनुसार परमात्माके बनाये हुए नियमसे जीवात्माओंको शुभाशुभ योनि, ज्ञान, सुख, दुःख, अनुकूलता आदि प्राप्त होते हैं। भगवान् आपत्तिके समय संसारमें असाधारण व्यक्तिको भेजकर संसारकी मर्यादाका रक्षण करते हैं तथा मनुष्य-समाजको उन्नत बनाते हैं।

बहुतेरे लोग यह कह बैठते हैं कि 'जब हम-जैसे नास्तिक लोग भगवान्‌के अस्तित्वपर ही हमला करते हैं, तब वह किसी आसमानी विज्ञप्तिके द्वारा हमारे भ्रमोंका निराकरण क्यों नहीं करता? और 'यदि हम यह मान भी लें कि ईश्वर एक शासक है, जिसकी निगरानीमें संसारकी सारी व्यवस्था हो रही है तो विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि यदि कोई ऐसा अदृश्य शासक है, तो अवश्य ही अव्वल दर्जेका मूर्ख है। हम तो यही कहेंगे कि ईश्वरकी कल्पना अज्ञानके कारण हुई है और यह केवल धोखा देनेवाला ढोंग है।'

किंतु ऐसे लोगोंको यह समझना चाहिये कि इनके हमला करनेसे ही ईश्वरका अस्तित्व नष्ट नहीं हो जाता और भ्रम दूर करनेके लिये आसमानी विज्ञप्तिकी भी जरूरत नहीं; क्योंकि विचार परिवर्तनशील है। पाश्चात्त्य भौतिक विद्याके ग्रन्थोंको देखनेसे जैसे इन लोगोंके पहलेके विचारोंमें बहुत परिवर्तन हो गया है, उसी तरह पुनः जब सत्य तत्त्वका साक्षात्कार होगा, तब इनके ये नास्तिक विचार भी आप ही बदल जायँगे।

हाँ, जबतक सत्यका ग्रहण नहीं होगा और विपरीत भावना बनी रहेगी, तबतक ये स्वयं वैसे ही अपने आपको नुकसान पहुँचाते रहेंगे, जैसे सूर्यपर धूल फेंकनेवालोंकी आँखोंको उन्हींकी फेंकी हुई धूल नुकसान पहुँचाती है।

अब हम इस विषयका विचार करें कि ईश्वर मूर्ख है या पूर्ण ज्ञानी? पापियोंको तुरंत दण्ड नहीं मिलता और न उनके विचारोंमें परिवर्तन ही होता है, इसी बातको देखकर प्रायः ऐसे लोगोंके मनमें भ्रम पैदा होता है। इस संसारको देखनेके लिये दृष्टि तीन प्रकारकी है—(१) आरोपित दृष्टि, (२) कार्यरूपा दृष्टि और (३) कारण-रूपा दृष्टि। आरोपित दृष्टि ग्राह्य और त्याज्य अथवा विधि और निषेध-भेदसे दो प्रकारकी है। जैसे एक युवती स्त्री है; उसको पिता, बन्धु, पुत्र और पति क्रमसे पुत्री, भगिनी, माता और पत्नी-दृष्टिसे देखते हैं। और विपरीत बुद्धिवाले दुराचारी मनुष्य कुदृष्टिसे देखते हैं। स्त्री तो एक ही है; किंतु देखनेवाले अपने-अपने हृदयके भाव और सम्बन्धके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंका आरोप कर लेते हैं। कुटुम्बियों और सम्बन्धियोंके भाव भी आरोपित हैं; परंतु

व्यवहारमें वे उपादेय माने गये हैं। और दुष्टका आरोपी भाव व्यवहारमें निषिद्ध होनेके कारण हेय माना गया है। इसी तरह अन्य दृष्टिविषयक उदाहरणसे समझिये।

किसी एक धनी पुरुषने अपने पिताकी एक सोनेकी मूर्ति बनवायी। वह धनी अपनी आरोपित दृष्टिके कारण उस मूर्तिमें पिता-बुद्धि रखता है; स्वर्णकार उसे सुवर्णरूप (प्रकृतिकी कार्यरूपा) दृष्टिसे देखता है; और पदार्थ-तत्त्वज्ञानी तत्त्वदृष्टिसे उसे प्रकृतिरूप जानता है। आरोपित और कार्यरूपा दृष्टि व्यवहारोपयोगी हैं; परंतु तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अनुपयोगी है। और कारणरूपा तत्त्वदृष्टि तत्त्वज्ञानके लिये उपयोगी है। सृष्टिके मूल तत्त्वका विचार करनेके समय व्यावहारिक संकुचित दृष्टिका त्याग करके तत्त्वज्ञानोपयोगी कारणरूपा दृष्टि ग्रहण करनी चाहिये तथा भूत, वर्तमान और भविष्यकालके परस्पर सम्बन्ध, सृष्टिहेतु और नियमपर भी लक्ष्य रखना चाहिये। अब इस विषयपर उदाहरणोंद्वारा युक्तिसे विचार कीजिये। मान लीजिये कि किसी धनी मनुष्यके हाथमें फोड़ा हुआ है, जिससे उसे बड़ा कष्ट हो रहा है। वह फोड़ा चिरवानेके लिये एक अनुभवी सर्जनके पास जाता है। डाक्टरको भी उसकी व्यथा देखकर दुःख होता है; किंतु उस समय वह आपरेशन नहीं करता और कहता है अभी फोड़ेके पकनेमें तीन दिन और लगेंगे। जबतक फोड़ा पक नहीं जाता, तबतक आपरेशन नहीं हो सकता। अभी काट देनेसे जहर नाड़ियोंमें रह जायगा और पीछे उससे बड़ी भारी हानि होगी। रोगी चिल्लाकर कहता है कि 'साहब! रोग बढ़ रहा है; अभी आपरेशन नहीं होगा तो मेरा शरीर आधा हो जायगा। और व्यापारकी ओर ध्यान न दे सकनेके कारण तबतक आर्थिक हानि भी बहुत हो जायगी।'

परंतु डाक्टर अपनी रायपर कायम रहता है। अब हम विचार करें कि डाक्टरकी दृष्टिसे कार्य करनेमें रोगीका विशेष हित है या रोगीकी दृष्टिसे कार्य करनेमें ? दोनोंमेंसे किसकी दृष्टिको हम यथार्थ कहेंगे ? बुद्धिमान् मनुष्य तुरंत उत्तर देंगे कि डाक्टरकी ही सलाह उचित है और रोगीका कथन अविवेकपूर्ण है। इसी तरह अपक्व दुष्टवृत्तिको दबाकर मनका विकास होनेमें प्रतिबन्ध खड़ा करना ठीक नहीं है।

फोड़े अनेक प्रकारके होते हैं। कुछ फोड़े—व्रण (Ulcers) साधारण पीड़ा देनेवाले होते हैं और शरीरमें थोड़े परिमाणमें विकृति उत्पन्न कर देते हैं। अर्बुदों (Tumours) में रक्तार्बुद (Sarcoma) और मांसार्बुद (Cancers) दीर्घकालपर्यन्त भयंकर दुःख देते हैं और सारे शरीरमें अत्यधिक नुकसान पहुँचाते हैं। एक प्रकारका फोड़ा—चिप्प (Witblow) अँगुलीके नखके नीचे मांसमें कीलकी तरह उत्पन्न होता है। यह रोग साधारण माना जाता है और अधिक भागमें विकार भी नहीं पैदा करता; किंतु पकनेके समय यह असाधारण व्यथा पहुँचाता है। फोड़े शरीरके एक देशमें होनेपर भी अनेक भागोंमें अथवा सारे शरीरमें विकार और वेदना उत्पन्न करते हैं। किंतु सृष्टिके नियमानुसार ठीक फोड़ा निकलनेके समय ही शरीरके अन्य भागोंकी रक्षाके लिये स्वास्थ्यके लिये हितकारी रोग-निरोधक शक्ति (Immunity) रक्तमें उत्पन्न हो जाती है। बाहरसे इस क्रियाका पता नहीं चलता, फिर भी आयुर्वेद या शरीरशास्त्र (Anatomy) जाननेवाले लोग इस रोग-निरोधक शक्तिकी क्रियाके परिणामको अच्छी तरह जानते हैं। साथ ही रोगी भी शरीरके अन्य भागोंमें होनेवाली विक्रियाको दूर करनेवाली ओषधि

सेवन करता और ऊपरसे फोड़ेपर भी दवा लगाता है। डाक्टरके कथनमें विश्वास रखकर वह इस दृष्टिसे उपचार कराता रहता है कि थोड़े अधिक समयतक इसी सिलसिलेमें दर्द सहन करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं; परंतु भविष्यमें फिर कोई गड़बड़ी पैदा न हो। इसलिये वह रोगकी गति और अपनी शारीरिक शक्तिके अनुसार आवश्यक समयतक धीरे-धीरे दवा कराता रहता है। इसी तरह चोर, डाकू आदि अपने अधर्माचरणके कारण स्वयं शारीरिक और मानसिक दुःख भोगते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार संसारको भी त्रास पहुँचाते रहते हैं। जिस तरह फोड़ेके समय शरीरके अंदर रक्षिका-शक्ति उत्पन्न होती है, उसी तरह संसारकी जनता अनेक उपायोंका आश्रय लेकर ऐसे लोगोंसे अपनी तथा समाजकी रक्षाका यथाशक्ति प्रयत्न करती है और साथ ही औषध-सेवनके समान परमात्मा संसारके लोगोंको रक्षाके निमित्त मनोबल और बुद्धिबल प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त परमात्मा रोगके बाह्योपचारके अनुसार यथासमय सृष्टिसंरक्षणके लिये आवश्यक कर्तव्य भी करते हैं।

जिस तरह इस शरीरको हम अपना शरीर मानते हैं, उसी तरह यह संसार—ब्रह्माण्ड ईश्वरका शरीर है। ईश्वर इस ब्रह्माण्डरूप शरीरका शरीरी है और इस तरह हम ब्रह्माण्ड या सृष्टिको ईश्वरका ही स्वरूप कहेंगे। इस ब्रह्माण्डको हम समष्टि-शरीर भी कह सकते हैं; क्योंकि यह अनेक व्यष्टि-जीवसमुदायका संग्रह है। इस तरह व्यष्टि समष्टिका—भगवान्‌के शरीरका एक अंश है। इसलिये जिस तरह हम रोग दूर करनेके लिये प्रयत्न करते हैं, उसी तरह ईश्वर भी बराबर प्रयत्न करते रहते हैं और शनैः-शनैः यथोचित उपचार

करते हैं। आरम्भमें शरीरके परमाणु किसी निमित्तसे शल्यरूप बनकर अन्तमें फोड़ा हो जाता है; फिर अपनी स्वच्छन्द वृत्तिके अनुसार अपने स्थानमें दोष-संचय करता है और अन्तमें शरीरके अन्य भागोंमें भी विकार उत्पन्न कर देना शुरू कर देता है। इन सब बातोंको जानते हुए भी रोगी फोड़ेकी निष्ठुर वृत्तिको सहन करता रहता है, और उस स्थानकी शुद्धि और शरीररक्षाके निमित्त आन्तर-बाह्योपचार करता हुआ उस फोड़ेको परिपक्व स्थितिमें लाता है। उसके बाद सर्जनके द्वारा उसे कटवा डालता है। इस क्रमसे उसे फोड़ेके स्थानमें अधिक कष्ट पहुँचता है; परंतु भावी कल्याणके निमित्त यह आवश्यक कर्म करना ही पड़ता है। इस तरह थोड़ा नुकसान होता हुआ दिखायी देनेपर भी उसे वास्तविक लाभ ही माना जाता है। इसी तरह एक क्षुद्र परमाणुके समान पामर प्राणी किसी निमित्तको लेकर स्वच्छन्द बन जाते हैं और संसारके संरक्षणके नियममें विघ्न उपस्थित करते हैं, किंतु भगवान् भी बराबर उनकी गतिविधिपर दृष्टि रखता हुआ शनैः-शनैः उनकी दवा करता है। अनीतिमान् पुरुषोंको नीतिमान् बनाने और संसारकी मर्यादा कायम रखनेके लिये अनीतिमानोंको शनैः-शनैः कष्ट पहुँचाता है। जैसे आपरेशनसे रोगीका वास्तविक लाभ होता है, इसी प्रकार अनीतिमान्का कल्याण भी ईश्वरीय नियमानुसार कष्ट उठानेमें है। इस क्रियामें ईश्वरकी क्रूरता देखना बुद्धिका ही दोष है। भगवत्-क्रियाको समझे बिना भगवान्को अन्यायी आदि कहना अज्ञानता ही है।

एक दूसरे उदाहरणके द्वारा पुनः विचार करें। एक कुटुम्बमें चार भाई हैं और उनके सब मिलाकर छोटे-छोटे दस-बारह बालक हैं।

उनमें एक-दो वर्षका बालक अत्यन्त मधुरभाषी, प्रसन्नमुख और सुन्दर है, जिसपर सब लोगोंका असाधारण प्रेम है। दिनभर सब लड़के इस बालकके साथ प्रेमपूर्वक खेला करते हैं; परंतु यह बालक कभी-कभी नाराज होकर किसी बड़े लड़केको मार देता है। जब वह लड़का रोने लगता है, तब माता आकर बड़े लड़केको समझाकर शान्त कर देती है और उसे छोटेको न मारनेका उपदेश दे देती है। परंतु उसका उपदेश व्यर्थ ही होता-सा दिखायी देता है; क्योंकि वह बार-बार किसी-न-किसीको ठोंक देता है। माताको अन्य लड़कोंका कष्ट देखकर दुःख होता है, किंतु वह छोटे बच्चेपर एकाएक कड़ा शासन करना भी नहीं चाहती; क्योंकि वह जानती है कि अबोध बालककी कोमल मनोवृत्तियोंको बलात्कार दबा देना हानिकर है। मनोवृत्तिका पूर्ण विकास निर्भयताकी स्थितिमें ही होता है। यदि बाल्यावस्थामें ही भय दिखलाकर मनको निर्बल बना दिया जाय तो वह फिर जन्मभर निर्बल ही रह जाता है। संसारके महापुरुषोंका जीवनचरित्र देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि उनके माता-पिताओंने शैशवावस्थामें उन्हें बिल्कुल निर्भय और स्वतन्त्र रक्खा था; इसीसे वे इतने महान् हो सके थे। ऐसा सोचकर वह माता अपने छोटे बच्चेको दबानेकी चेष्टा नहीं करती; किंतु अनेक अज्ञानी मनुष्य उस मातापर इसके लिये दोषारोपण करते हैं तो इससे क्या बुद्धिमान् मनुष्य भी उसे दोषी कहेंगे? इसी तरह चोर, डाकू आदि मनुष्योंको भी दयालु परमात्मा तुरंत दण्ड नहीं देते।

यहाँपर सम्भवतः कोई यह शङ्का करे कि 'चोर, डाकू आदि तो आयुमें बड़े हैं, बालकके साथ उनकी समता कैसी?' परंतु यह

शङ्का, स्थूल दृष्टिसे ठीक होनेपर भी, अविचारपूर्ण है। ईश्वर और आत्मा अनादि हैं। जबतक जीवकी बुद्धिका पूर्ण विकास नहीं हो जाता, जबतक वह उस परमवस्तु, परमज्योतिका अनुभव नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक उम्र अधिक होनेपर भी उसका मन शैशवावस्थामें ही है। भगवान्के लिये वह निरा-नादान बालक ही है। और उसके द्वारा होनेवाला अन्याय और अनीति दुष्ट मनोवृत्तियाँ हैं, वृत्तियोंका परिपाक होनेपर इनका रूपान्तर हो जायगा और फिर वे ईश्वराभिमुखी हो जायँगी। हाँ, उसकी मनोवृत्तियोंका परिपाक चाहे एक जन्ममें ही हो जाय या अनेक जन्मोंमें हो। वे परिपक्व होकर रूपान्तरित अवश्य होंगी, यह निश्चित है। वर्तमान समयमें जो दुराचारी प्रतीत होते हैं, उनमेंसे कोई इसी जन्ममें सदाचारी बन जायँगे, कोई आगामी एक या अनेक जन्मोंमें बनेंगे। प्राणिमात्रको एक-न-एक दिन मनुष्य-योनिमें आकर, अनेक जन्म लेकर, सदाचारी बनकर, अन्तमें ईश्वराभिमुख होना होगा। जो जीव पशु-पक्षीकी योनिसे मनुष्ययोनिमें आते हैं, उन्हें आरम्भमें सदाचार और दुराचारके परिणामका उतना ज्ञान नहीं होता। धीरे-धीरे कई जन्मोंमें जब उनके मनका पूरा विकास हो जाता है, अनेक बार दुराचारका दुष्परिणाम भोग चुकते हैं, तब वे दुराचारसे दूर रहनेकी इच्छा करने लगते हैं। फिर धीरे-धीरे दुर्वृत्तिको छोड़कर अन्तमें महान् ईश्वरभक्त बन जाते हैं। हम आस्तिकलोग इस सत्यपर पूर्ण विश्वास करते हैं और इस कारण कभी हताश-निराश नहीं होते और न ईश्वरको दोष ही देते हैं!

फिर नास्तिकलोग भी इतना तो मान ही लेंगे कि जब अनाचारकी वृत्ति बढ़ती जाती है, तब साथ-ही-साथ अनेक मनुष्योंमें उसके प्रतीकारकी वृत्ति भी उतनी ही बलवान् होती जाती है और अन्तमें अत्याचारीका नाश भी हो जाता है। इसका प्रमाण इतिहासमें हमें हर युगमें देखनेको मिलता है।

यहाँपर कोई यह शङ्का कर सकता है कि 'दुष्ट मनोवृत्तिका रूपान्तर शुभवृत्तिमें कैसे हो सकता है ?' इसका समाधान हम एक उदाहरण देकर करेंगे। एक धनी आदमीके यहाँ एक सज्जन मेहमान आये। उस धनी व्यक्तिके बागके मालीने उस सज्जनसे कहा कि कुछ दिन बाद मैं इस बागके बड़े मीठे आम खिलाऊँगा। उन्होंने कहा—मुझे तो कल-परसों चला जाना है, यदि खिलाना हो तो अभी खिलाओ। बागवानने कहा—अभी तो आम कच्चे होनेके कारण खट्टे हैं, पकनेपर स्वादिष्ट होंगे। इसपर उन्होंने पूछा—वाह ! जो आम आज खट्टे हैं, वे थोड़े दिन बाद मीठे कैसे हो जायँगे ? अब आप सोचिये कि मालीका कहना ठीक है या मेहमानका ? आप सब अच्छी तरह जानते हैं कि अनेक फल कच्ची अवस्थामें खट्टे, कड़ुए या कसैले होते हैं; किंतु पक जानेपर उनमें मधुर रस पैदा हो जाता है। इसी तरह स्वतन्त्र या स्वच्छन्द वृत्ति परिपाक-कालमें कटु और खट्टे फलके मधुर रसके रूपमें रूपान्तर होनेकी तरह ईश्वरगामिनी हो जाती है।

इस संसारमें ईश्वरगामिनी वृत्ति स्वाभाविक है, अनादि है; वह मनुष्य-हृदयका विकार नहीं है। संसारके किसी भी देशको देखिये,

प्राचीन-से-प्राचीन भूतकालका निरीक्षण कीजिये; सहज ही यह सत्य आपकी समझमें आ जायगा। ब्राह्मणोंने अपने स्वार्थके लिये भारतमें ईश्वरका अस्तित्व माना है, यह कहना अविचारपूर्ण है। भारतके सिवा अन्य देशोंमें और ऐसे देशोंमें भी जिनका सम्बन्ध भारत या अन्य सभ्य देशोंसे नहीं था, ईश्वर और धर्मका अस्तित्व पाया गया है। वहाँपर हम किसे दोषी ठहरायेंगे? १४९२ ई० में जब कोलम्बसने अमेरिका-खण्डका पता लगाया, तब वहाँपर भी ईश्वर और धर्म मौजूद थे। अफ्रिकामें जब यूरोपियन पहले-पहल गये, तब वहाँ भी ईश्वर देखनेमें आया। आस्ट्रेलियामें जब अंग्रेज पहुँचे, उस समय उसका सम्बन्ध किसी देशसे नहीं था; किंतु वहाँ भी ईश्वरका साम्राज्य था। वास्तवमें यदि हम विचार करें तो पता चलेगा कि मनुष्योंमें ईश्वरकी कल्पना पीछे अज्ञानवश नहीं घुस पड़ी है; वरं वह मनुष्यमात्रमें जन्मसिद्ध है।

कोई मनुष्य यह कह सकता है कि 'वर्तमान समयमें चोर, डाकू इत्यादि जो हानि संसारको पहुँचा रहे हैं, वह उनकी वृत्तिके विकाससे होनेवाले भावी लाभकी अपेक्षा बहुत अधिक है। इसलिये उन्हें तुरंत दण्ड दे देना चाहिये अथवा उनकी वृत्ति अभी बदल देनी चाहिये।' किंतु यह शङ्का भी दीर्घदृष्टिसम्पन्न उच्च विचारवालोंकी नहीं है। संसार अनादि, अनन्त है। अनादि माननेका हेतु हम ऊपर समझा चुके हैं। इसी प्रकार इस संसारका अन्त भी नहीं है। कालान्तरमें अपनी इस पृथ्वीका नाश हो जायगा; परंतु पुनः उसी प्रकृतिके परमाणुओंमेंसे नयी रचना होकर सृष्टिका आरम्भ हो जायगा। इस तरह बार-बार सृष्टि और लय-रूप रूपान्तर होता रहेगा।

ऐसे अनादि-अनन्त संसारको देखनेकी दो प्रकारकी दृष्टि है—(१) व्यावहारिक वर्तमानकालीन व्यक्तिगत दृष्टि और (२) अनन्त युगोंवाली समष्टिदृष्टि। पहली दृष्टिसे हमें ऐसा माल्रम होता है कि चोरी, डकैती, खून तथा अन्यान्य दुष्कार्योंसे संसारकी हानि हो रही है। और ऐसे अधर्मोंसे अपनी, समाजकी और देशकी रक्षा करनेका प्रयत्न भी करना चाहिये; परंतु यह व्यक्तिगत दृष्टि व्यवहारमें जीवात्माके लिये उपयोगी है। यदि अनन्त युगवाली समदृष्टिसे हम तत्त्वतः विचार करें तो हमें माल्रम होगा कि ईश्वरको इन दुष्ट मनोवृत्तियोंको रोकनेके लिये प्रयत्न करनेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। भले ही व्यावहारिक दृष्टिसे जीव यथासाध्य रोकनेका प्रयत्न करें।

इस संसारके स्थूल और सूक्ष्म दो स्वरूप हैं। ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभवमें आता है, वह स्थूल स्वरूप है। व्यावहारिक दृष्टिवाले केवल इस स्थूल स्वरूपको ही सत्य मानते हैं। दूसरा मनोमय स्वरूप है, जो उन्नत मन (ज्ञान-नेत्र) द्वारा जाना जाता है। सूक्ष्म संसारमें अनेक विचारोंके संस्कार अनादि कालसे भरे पड़े हैं। सूक्ष्म संसार देखनेवाली दृष्टि—अनन्त युगवाली समष्टिदृष्टिके अनुसार यह संसार केवल मनोवृत्त-रूप है। अधिक मनोबल (Will Power) वाले मनुष्य अपने दृढ़ संकल्पानुसार संसारमें अन्य व्यक्तियोंको हानि-लाभ पहुँचा सकते हैं; यहाँतक कि प्राणियोंके अतिरिक्त जड जगत्पर भी, ईश्वरीय नियमसे अविरुद्ध, अपने संकल्पका असर पहुँचा सकते हैं। योगविद्या और मेस्मेरिज्मके द्वारा संसारको

यह सत्य मालूम हो गया है। अध्यात्मशास्त्र एक दम और आगे बढ़कर कहता है कि विचार अथवा संकल्पसे ही इस सृष्टिको स्थूल रूपकी प्राप्ति हुई है। सृष्टि संकल्परूप ही है और संकल्पके आधारपर ही ब्रह्माण्ड स्थित है। मनोविज्ञानके उपर्युक्त सत्य-सिद्धान्तके आधारपर यह निश्चय होता है कि भूतकालके जो विचार परिणामको नहीं प्राप्त हुए हैं, उनका वर्तमान समयके व्यक्तियोंके विचारोंके साथ सम्बन्ध है और जबतक विचार परिणामको नहीं प्राप्त हो जाते, तबतक उनका नाश नहीं होता। आकाशके वातावरणमें वे विचार संस्काररूपसे अदृश्यरूपमें वर्तमान रहते हैं। जब कोई अधिकारी मनुष्य उन विचारोंमेंसे किसी विचारके अनुकूल हृदयवाला बन जाता है, तब वह विचार उसके मस्तिष्कमें प्रवेश कर जाता है। यही कारण है कि किसी पवित्र स्थानमें जानेपर प्रायः पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और मन प्रसन्न हो जाता है; और किसी अपवित्र स्थानमें जानेपर इसके विपरीत अकारण ही मन उदास हो जाता है अथवा कुविचार मनमें उत्पन्न होते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् जो नयी शोध करते हैं, वह सृष्टिमें पहले-पहल आविष्कार होता है—ऐसी बात नहीं। वास्तवमें वह सत्य पहले कई बार संसारको मालूम हो चुका था। केवल हम उसे भूल गये थे। मान लीजिये कि अचानक भूकम्पके कारण यूरोप या अमेरिकाखण्ड पृथ्वीपरसे लोप हो जाय अथवा जल-प्रलयमें सारी पृथ्वी ही नष्ट हो जाय तो क्या साथ-साथ पृथ्वीपरकी सब विद्याएँ—सत्य रहस्य सब नष्ट हो जायँगे ? कदापि नहीं। स्थूलरूपसे उन विद्याओंका प्रचार संसारमें नहीं दिखायी पड़ेगा; किंतु उनके संस्कार वातावरणमें वर्तमान रहेंगे

और कालान्तरमें जब-जब उन सत्य सिद्धान्तोंको ग्रहण करने योग्य अधिकारी पुरुष पैदा होंगे, तब-तब उनके द्वारा पुनः उनका ज्ञान संसारको प्राप्त होता जायगा। इस अनन्त कालकी दृष्टिद्वारा सृष्टिका विचार करनेपर सर्वत्र प्राणिमात्रके प्रति परमात्माकी कृपाका अनुभव होगा; कहीं भी अंधाधुंधपना, अनियमितता, हानि, नाशादि नहीं प्रतीत होंगे। व्यक्तिगत व्यावहारिक दृष्टिसे देखनेपर दुष्कर्मोंसे जितनी हानि होती हुई मालूम होती है, उससे अनेक गुना अधिक लाभ अनन्तकालकी दृष्टिद्वारा मनका विकास होकर प्राचीन सत्यके संस्कारोंको वातावरणमेंसे ग्रहण करके संसारको देनेमें होगा। दुष्ट मनोवृत्तिका प्रवाह कालान्तरमें बदल जाता है और मन बलवान् होकर प्राचीन विद्याओंका साक्षात्कार करता है। इसलिये अन्तमें कहना पड़ेगा कि यदि ईश्वर वर्तमानकालीन तुच्छ दृष्टिका आश्रय लेकर चोर, डाकू आदि अनीतिमान् व्यक्तियोंको दण्ड दे देते तो जगत्में अधिक मात्रामें अपूर्णता रह जाती। माता आरम्भमें शिशुको गोदमें रखती है; किंतु बड़ा होनेपर भी यदि वह बच्चेको कभी चलने न दे, गिरनेके भयसे बराबर गोदमें ही रक्खे तो वह एकदम निर्बल हो जायगा और उसके अङ्गका विकास नहीं होगा। इसी तरह यदि ईश्वर सब समय क्षुद्र दृष्टिके अनुसार रक्षण करते रहें तो विरोधी वृत्तिका सामना करनेका बल संसारसे नष्ट हो जायगा और इस तरह एक प्रकारकी अपूर्णता ही रह जायगी।

कोई मनुष्य यह प्रश्न कर सकता है कि 'जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तब संसारमेंसे वह अज्ञान और दुःखको शीघ्र क्यों नहीं दूर कर देते?' किंतु ऐसा प्रश्न कोई समझदार व्यक्ति नहीं

कर सकता। एक उदाहरण लेकर इसपर भी विचार करें। एक वैरिस्टर साहबसे उनके पाँच-सात वर्षके लड़केने कहा—'पिताजी ! मुझे पढ़नेके लिये स्कूलमें भेजनेकी क्या जरूरत है ? दस-पंद्रह वर्षोंतक स्कूल-कालेज आदिमें जाने, धन खर्च करने और पढ़ने-लिखनेमें सिरपच्ची करनेसे क्या लाभ ? आप दो-चार दिन प्रयत्न करके मुझे वैरिस्टरी पढ़ा दीजिये; बस, मैं भी कमाने लगूँगा।' इसपर वैरिस्टर साहबने हँसकर उत्तर दिया—'बेटा ! तुम अभी इसे नहीं समझ सकते; क्योंकि तुम्हारी बुद्धिका विकास नहीं हुआ है। इसके लिये स्कूलमें जाकर क्रमसे विद्याध्ययन करना ही हितकर है। बुद्धि परिपक्व हुए बिना वैरिस्टरीका अभ्यास नहीं हो सकता। विद्याके जिन संस्कारोंका संग्रह पंद्रह वर्षमें होनेवाला है, वह दो-चार दिनोंमें कदापि नहीं हो सकता। सृष्टिके नियमके विरुद्ध कुछ भी नहीं हो सकता।' इसी तरह ईश्वर नियम-विरुद्ध अपरिपक्व मनोवृत्तिवाले अनधिकारी जीवोंको असमय पारमार्थिक सत्य नहीं दे सकते। सर्वशक्तिमान्‌का अर्थ नियमविरुद्ध कार्य करनेवाला नहीं है। ऐसी कल्पना कर लेना ही मूर्खता है।

इस रीतिसे अनुकूल युक्ति और तर्कद्वारा विचार करनेपर ईश्वरकी सिद्धि होती है। ईश्वर ढोंग नहीं है; वरं ऐसा विपरीत दर्शन होना बुद्धिका ही दोष है। हम विरुद्ध भावना रखनेवाले लोगोंसे अनुरोध करेंगे कि वे अपनी बुद्धिकी शुद्धि करें, जिससे उन्हें सत्यकी प्राप्ति हो।

स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज (२)

ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

(१)

यदि इसी प्रश्नको किसी आस्तिक सज्जनने अपने हितके लिये उठाया होता तो उनके समाधानमें इतना ही कथन पर्याप्त होता कि ईश्वरको माननेवालोंके अन्तःकरण शुद्ध बन जाते हैं और उनको ऐहिक तथा पारलौकिक सुखोंकी प्राप्ति हो जाती है; परंतु ये प्रश्न तो कुछ और ही महत्त्व रखते हैं।

जिस प्रकार, जिस समय कि धर्मक्षेत्रमें कौरव और पाण्डवोंकी सेना रणके निमित्त सुसज्जित होकर डट गयी थी। दोनों पक्षोंसे युद्धके प्रारम्भिक मङ्गलचिह्न शङ्खनादादि हो चुके थे। शस्त्रपातके लिये केवल सेनापतिकी आज्ञाकी राह देखी जा रही थी। उस समय परमात्माके संकल्पानुसार अर्जुन कर्तव्याकर्तव्यविमूढ़की तरह बन गये और उन्होंने भावी संसारके कल्याणार्थ भगवान् श्रीकृष्णसे धर्मविषयक प्रश्न किया; उसी प्रकार इस संसाररूपी कर्म-भूमिमें आस्तिकता और नास्तिकताके अंदर घनघोर युद्ध छिड़ा हुआ है। यद्यपि भूतकालमें भी इन दोनोंके अंदर समय-समयपर लड़ाई हो

चुकी है, तथा इस समय नास्तिकताने विशेषरूपसे अपनी शस्त्रास्त्रसम्पन्न चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आस्तिकताके धर्मरूपी किलेपर धावा बोल दिया है और बड़े वेगसे प्रहार करना भी आरम्भ कर दिया है। ऐसे विषम संकटके अवसरपर धर्मको आपद्ग्रस्त जानकर पुनः परमात्माकी प्रेरणा हुई है और आस्तिकताके सेनापतिने विह्वल होकर भावी संसारकी कल्याण-कामनासे लीलातनुधारी साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनाभावमें जनता-जनार्दनसे ही सविनय प्रश्न किया है। ऐसी अवस्थामें जिस तरह अर्जुनके प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंके साररूप भगवद्गीताको दिया था, उसी तरह उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर भी बिना शास्त्रप्रमाण, केवल शास्त्रानुकूल तर्कोंसे युक्त होना चाहिये जिससे आस्तिक जनताका संतोष और नास्तिक जनताकी शङ्काओंका समाधान हो जाय। यों तो अनेक संत-महात्मा और शास्त्रज्ञ विद्वानोंने इन प्रश्नोंका उत्तर दिया है और दे रहे हैं, तथापि जिस तरह गोवर्द्धन-धारणके समय भगवान् श्रीकृष्णके साथ अज्ञानी गोप-बालकोंने भी अपना कर्तव्य समझकर अपनी-अपनी लाठियोंका सहारा लगाया था, उसी तरह मैं भी अपनी अल्पमतिके अनुसार सेवाभावसे इन प्रश्नोंका यत्किञ्चित् उत्तर देनेका प्रयत्न करूँगा।

संसारके स्थूल-सूक्ष्म, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जितने पदार्थ हैं, वे सब भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंमें मूलतत्त्वके ही रूपान्तर थे, होंगे और हैं। आन्तर अथवा बाह्य ऐसा एक भी पदार्थ या क्रिया नहीं, जो मूलतत्त्वसे पृथक् हो। यह मूलतत्त्व ही निश्चित

नियमानुसार संसारका शासन करता है। अतएव आस्तिकोंने इसी मूलतत्त्वको ईश्वर माना है।

किसी अज्ञात मूल-उपादान कारणसे इस संसारकी उत्पत्ति हुई है, उसीमें यह स्थित है और उसीमें इसका लय भी हो जायगा।* इस बातको आस्तिक-नास्तिक—सभी स्वीकार तो करते हैं; परंतु नास्तिक उसे 'नैसर्गिक शक्ति' और आस्तिक 'ईश्वर' मानते हैं। अतः दोनोंकी भावनामें भेद होनेके कारण फलमें भी भेद हो जाता है; क्योंकि संसारमें यह निश्चित नियम है कि मनुष्य अपनी भावनाके अनुसार विचार, विचारके अनुसार निश्चय, निश्चयके अनुसार कर्म और कर्मके अनुसार फल प्राप्त करता है। †

अब विचारणीय विषय यह है कि आस्तिक और नास्तिक इन दो पक्षोंमें ईश्वरको माननेवाले आस्तिकोंको क्या-क्या लाभ होते हैं और उनके हेतु क्या हैं? परंतु इसके पहले मनका कार्य, मनकी शक्ति और मूलतत्त्वमें रहनेवाली सर्वव्यापिनी शक्ति, जो

---

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति॥ (तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली १)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।' (छान्दोग्योपनिषद् ३। १४। १)

'जन्माद्यस्य यतः।' (ब्रह्मसूत्र १। १। २)

† 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति; स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति; यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते; यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते॥' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ४। ५)

संसारका शासन करती है—इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसपर विचार कर लेना अच्छा होगा ।

मनुष्यमात्रके अंदर मन निवास करता है, जिसको क्रिया-भेदसे बुद्धि, चित्तवृत्ति और स्मृति आदि भी कहते हैं । उसीकी प्रेरणासे मनुष्य अपने जीवनमें जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाकी सम्पूर्ण क्रियाएँ करते हैं । यहाँतक कि मनकी ही प्रेरणासे शिशु हाथ-पैर हिलाते और रोते हैं; परंतु निरीक्षण करनेपर यह विदित होता है कि मनकी प्रेरणाद्वारा जबतक हमारी इन्द्रियोंको बोध होता है, उसके पहले ही शरीरके अन्तःप्रदेशमें विचार; संवेदना और इच्छा—ये तीन मानस व्यापार हो चुके रहते हैं ।

जैसे एक मच्छर काट रहा है । उस समय पहले तो मनमें संकल्पका स्फुरण होकर विचारका उदय होता है । पश्चात् दंशजनित प्रतिकूल संवेदना मस्तिष्क-प्रदेशमें पहुँचती है । फिर मनमें दुःखको दूर करनेकी इच्छा जाग्रत् होती है और इन तीन मानसिक क्रियाओंके हो जानेके बाद मच्छरको उड़ानेके लिये हस्तेन्द्रियको प्रेरणा होती है । तब वह बाह्य क्रियाओंको करता है । इस रीतिसे मनुष्यके सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्तव्य इन अवस्थात्रयीरूपी मानस-वाटिकामेंसे बाहर आनेके बाद ही संस्कारानुरूप स्थूलरूपको धारण करते हैं । अतः यह सिद्ध हुआ कि मानव-जीवनकी सब क्रियाओंका मूल कारण मन ही है ।*

मनमें जितनी शक्तियाँ—जैसे विचार, संवेदना, कर्तृत्व अर्थात् इच्छा और प्रेरणा आदि हैं, वे सब सृष्टिके मूलतत्त्वसे ही प्राप्त हुई

* 'अस्य संसारवृक्षस्य मनोमूलमिदं स्थितम् ॥' (मुक्तिकोपनिषद् २।३७)

हैं; क्योंकि यह न्यायशास्त्रानुमोदित अविचल और अकाट्य नियम है कि 'कारणगुणाः कार्ये संक्रामन्ति'—कारणमें रहनेवाले गुण-धर्म कार्यमें परिणत होते हैं। अतः इस नियमानुसार यह भी सिद्ध हुआ कि ईश्वरमें रहनेवाले गुण, धर्म या शक्तिका अवतरण 'मन' में भी होता है।

सृष्टिके मूलतत्त्वमें सत् (त्रिकालमें अबाधितरूपसे स्थिर रहनेवाली बलशक्ति), चित् (ज्ञान या संवित्-शक्ति) और आनन्द (ह्लादिनीशक्ति)—इन तीनका निवास स्वभावसिद्ध है और ये तीनों मनुष्यके मनमें उसके शुभाशुभ क्रमानुसार प्रवेश करते हैं। अतः मनकी विचार-शक्ति और ईश्वरकी ज्ञानशक्ति—चिदंश ये दोनों प्रकाशक होनेके कारण एक ही हुईं। इसी तरह संवेदना-शक्ति और ईश्वरमें रहनेवाले आनन्द-अंशमें एकता है; तथा इच्छा और प्रेरणाशक्तिसे बलशक्ति—सदंशका सम्बन्ध जान पड़ता है।

मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक अवस्थाके अनुसार उसके मनमें भावना तथा संस्कारकी उपज होती है। भावना और संस्कारके अनुसार विचार, संवेदना और कर्तृत्व शक्तियोंकी स्थिति होती है। और इन शक्तियोंके अनुरूप शुभाशुभ कर्ममें उसकी प्रवृत्ति होती है। अतएव मनुष्यमात्रको इन शक्तियोंका विकास करना चाहिये, जिससे उसका जीवन सुखमय बने और उसके द्वारा संसारको किसी तरहकी हानि न पहुँचे।

इन शक्तियोंका विकास मूल उपादानकारणमें निवास करनेवाली शक्तिसे सम्बन्ध रखनेपर होता है। उनसे इनका जितना ही अधिक सम्बन्ध होगा, उतना ही अधिक लाभ होगा।

मनुष्य यदि अपनी आन्तर शक्तिका आत्यन्तिक विकास करना चाहे तो उसकी सविस्तर विधि धर्मशास्त्रकारोंने बतलायी है । उसके अनुसार आचरण करके प्राचीन तथा अर्वाचीन कालके अनेक ऋषि, मुनि और भक्तोंने अपने मनका विकास किया है ।

उपर्युक्त तीनों शक्तियोंमें विचारशक्ति प्राणिमात्रके जीवनका दीपक है । जिस प्रकार चित्-शक्ति विश्वका प्रकाश करती है, उसी प्रकार इसके द्वारा मनुष्यका कर्तव्य-पथ प्रकाशित होता है । किसी भी प्रश्नके सत्यासत्यका निर्णय विचारशक्तिके ही द्वारा होता है । अतएव इस शक्तिका जितना ही अधिक विकास होगा, सत्यासत्यके ज्ञानकी उतनी ही वृद्धि होगी । चित्-शक्तिके साथ सम्बन्ध रखनेपर इसका विकास होता है ।

जिस तरह आस्तिक प्राणी शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार आचरण करके अपनी विचारशक्तिका विकास करते हैं, उसी तरह नास्तिक प्राणी भी करते हैं; परंतु नास्तिकताके विषपूर्ण संस्कारके कारण उनकी विचारशक्तिका सामञ्जस्य संवेदनाशक्तिके साथ नहीं हो पाता है । अतएव वे अपने तथा संसार दोनोंके लिये हानिकर कल्पनाएँ करने लगते हैं; जैसे—मुझको इस पदार्थ अथवा स्त्रीकी प्राप्ति हो गयी, अब मैं अपना मनोरथ पूरा करूँगा । इतना धन मेरे पास है, इस (प्रपञ्चपूर्ण) कर्मके द्वारा इतना धन और भी मिल जायगा । आज मैंने इस शत्रुको मार डाला, धीरे-धीरे औरोंको भी मार डालूँगा । मैं समर्थ हूँ । मैं सम्पूर्ण विषयोंका भोक्ता, सिद्ध, बलवान्, सुखी, धनवान् और कुटुम्बी हूँ । मेरे समान इस संसारमें

दूसरा है ही कौन ?* इस रीतिसे उनकी विचारशक्तिका विकास 'विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।' के अनुसार संसारके सच्चे उपकारक धर्मशास्त्रोंको कपोलकल्पित बतलानेके लिये ही होता है। उनकी विद्या, बुद्धि, बल, पद, अधिकार, मर्यादा आदि सभी शक्तियाँ नास्तिकताके संस्कारके कारण दूसरोंको दुःख पहुँचानेवाली और संसारका सत्यानाश करनेवाली होती हैं। आजके जगत्‌की वर्तमान स्थिति इस बातका साक्ष्य दे रही है।

इसके विपरीत जब आस्तिकोंकी विचारशक्तिका विकास होता है, तब वे अपनी संवेदना और कर्तृत्व-शक्तिका सामञ्जस्य रखते हुए अन्य मानस शक्तियोंका भी विकास करने लगते हैं और एक दिन अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका आत्यन्तिक विकास करके वे संसारके सारे प्राणियोंमें अपनी आत्माका साक्षात्कार करते हैं। उस अवस्थामें किसीकी निन्दा उन्हें अच्छी नहीं लगती और वे किसीका द्वेष नहीं चाहते हैं। उनको संसारके सब जीवोंमें एक आत्मा—परब्रह्मका ही अनुभव होता है। भला, ऐसी अवस्थामें उन्हें मोह-शोकादि कैसे

---

* इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

(गीता १६। १३-१५)

सता पावेंगे ?*

विचारशक्तिका आत्यन्तिक विकास करके सब आस्तिक पूर्णावस्थाकी प्राप्ति कर लेते हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता; परंतु इसमें शास्त्रविधिका कोई दोष नहीं है । प्रत्युत उनके प्रयत्नोंकी न्यूनता है । अनेक आस्तिक जो स्वार्थवश नीति-मार्गका परित्याग करके अधर्म और अनीतिका आश्रय ले लेते हैं, इसमें भी शास्त्रका कोई अपराध नहीं है; क्योंकि वे अपने मनकी निर्बलताके कारण ही अपनी प्रगतिमें अन्तराय उत्पन्न कर लेते हैं; परंतु इतना होनेपर भी इन आस्तिकोंके मनमें इस बातका भय अवश्य बना रहता है कि उनको उनके किये हुए कर्मोंका फल निस्संदेह भोगना पड़ेगा । वे नास्तिकोंके समान बिल्कुल निर्भय होकर पापकार्योंमें रत नहीं होते । उनमें पापकर्मोंसे पराङ्मुख करानेवाली वृत्ति स्वभावतः ही रहती है । अतएव वे पापकर्मोंसे कुछ-न-कुछ अंशोंमें अवश्य बच जाते हैं । इतना लाभ तो इस तरहके निम्न-से-निम्न कोटिके अर्थात् सामान्य आस्तिकोंको हो जाता है । विवेकी आस्तिकोंको तो विचारशक्तिके विकासद्वारा ईश्वरका स्वरूपतक प्राप्त हो जाता है । अस्तु, इस दृष्टिसे भी ईश्वरको मानना मङ्गलदायक है ।

संवेदना-शक्तिके द्वारा प्राणियोंको अनुकूल और प्रतिकूल-

---

* यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ईशोपनिषद् ६,७)

का ज्ञान होता है। इसका सम्बन्ध ईश्वरकी ह्लादिनीशक्तिके साथ जितना अधिक होता है, उतना ही विकास होता है और जितना ही अधिक इसका विकास होता है, उतना ही मनुष्य-जीवन आनन्दमय बनता है। अतएव इस शक्तिका विकास करना आस्तिक और नास्तिक दोनोंके लिये हितकर है; परंतु नास्तिक इसके यथार्थ लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं।

श्रद्धा, दया, प्रीति, भक्ति, क्षमा, शान्ति आदि दैवी वृत्तियाँ और इनकी विरोधिनी काम, क्रोधादि आसुर वृत्तियाँ—ये दोनों संवेदना-शक्तिके अन्तर्गत होती हैं। इनमेंसे निकृष्ट काम-क्रोधादि आसुरी वृत्तियोंका जब विकास होता है, तब सबमें अकर्मण्यता आ जाती है; परंतु जब दैवी सम्पत्तिरूप श्रद्धा-दया आदि वृत्तियोंका विकास होता है, तब कदापि अकर्मण्यता नहीं आती। दिन-प्रति-दिन मानस सामर्थ्य एवं आनन्दकी वृद्धि होती जाती है।

विषय-सेवनसे संसारके समस्त विषयलोलुपोंको कदापि तृप्तिका अनुभव नहीं होता। उन्हें सर्वदा नये-नये पदार्थोंके उपभोगकी वासना बढ़ती ही जाती है। आसुरी वृत्तियोंका विकास हो जाता है और उनका मन सदैव चिन्तातुर तथा दुखी बना रहता है; किंतु दया आदि दैवी वृत्तियोंका विकास चाहे अधिक-से-अधिक अंशमें क्यों न हो जाय, वह जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त किसीको दुःखदायी नहीं होता, बल्कि आनन्दप्रद होता है।

दया, भक्ति और प्रीतिका यथावत् विकास तभी होता है, जब इन तीनों वृत्तियोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हो। जैसे जो व्यक्ति

ईश्वरकी भक्ति करता है, वह प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें एक ईश्वरका ही निवास मानकर सबसे प्रेम-भाव रखता है और वही व्यक्ति दूसरोंके दुःखोंसे दयान्वित होकर उनके दुःखोंको दूर करनेमें तत्पर होता है। अतएव ईश्वरभक्तिसे प्रीतिवृत्ति और दयावृत्तिकी पुष्टि होती है। इसी प्रकार प्रीतिवृत्ति उत्पन्न होनेपर मनुष्य भक्ति और दयाकी ओर प्रवृत्त होता है, एवं दयाका संचार होनेपर भक्ति और प्रीतिकी वृत्तियाँ पुष्ट होती हैं। इन तीनोंमें अविनाभाव-सम्बन्ध है। यदि इनमेंसे एकका भी त्याग कर दिया जाय तो शेष दोका भी अभाव हो जायगा। अस्तु, इन तीनों वृत्तियोंका समन्वय होनेपर ही संवेदनाशक्तिका यथोचित विकास होता है।

ईश्वर-भक्तिका अभाव होनेपर संवेदनाशक्तिका विकास एकदेशी और सीमाबद्ध हो जाता है। नास्तिकोंमें जो बन्धु-बान्धवों, स्नेही-सम्बन्धियों अथवा देशके प्रति प्रेम प्रतीत होता है, वह प्रेम नहीं, मोह है या स्वार्थभावनासे उत्पन्न हुआ नकली प्रेम है। दूसरा मेरे प्रति अच्छा बर्ताव करे या न करे, मुझे अपने धर्मका पालन करना है; अतः मैं अपने बन्धुपर प्रेम करूँगा ही,—यह भावना हो, वही सच्चा प्रेम है; किंतु नास्तिकोंमें ऐसी भावना कभी नहीं आ सकती; क्योंकि वे ईश्वर और परलोकपर अश्रद्धा करके चित्तशुद्धि करनेवाली निःस्वार्थ भावनाको निरुपयोगी बना देते हैं। उनके मनमें यही भावना रहती है कि 'उसने मेरा कार्य किया है, अतः मुझको भी उसकी सहायता करनी चाहिये। यदि हमलोग परस्पर एक दूसरेका कार्य और सहायता करते रहेंगे तो हमलोगोंमें मेल रहेगा, हमारी व्यावहारिक स्थिति सुखमयी

रहेगी और संसारमें भी हमारी कीर्ति फैल जायगी' आदि। किंतु ऐसा सम्बन्ध स्वार्थमय होनेसे, थोड़ा-सा विरोध या प्रतिकूल वर्ताव होनेपर भी शीघ्र टूट जाता है, नकली प्रेमका रूपान्तर द्वेषमें हो जाता है। अतएव इस परिवर्तनशील प्रेमको शास्त्रकारोंने मोहकी संज्ञा दी है।

इसी प्रकार नास्तिक, जो स्वदेशके प्रति प्रेम-वृत्ति रखते हैं, वह भी किसी परम्पराप्राप्त स्वार्थके कारण ही होती है; क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि स्वदेशके सुखसे हमें सुख मिलेगा। देशके दुखी तथा परतन्त्र होनेपर हमको कदापि सुख नहीं मिल सकता। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि देशके लिये हम सप्रेम कष्ट सहन करें—आदि। यद्यपि यह स्वदेश-प्रेम बिल्कुल निरर्थक नहीं, बल्कि आस्तिक और नास्तिक सबके लिये हितावह है; तथापि दूषितभावनापूर्ण होनेके कारण यह निन्दनीय ही माना गया है; क्योंकि इसके कारण नास्तिक विश्ववात्सल्यके पथपर नहीं पहुँच पाते और इस दुराग्रही प्रेमके फलस्वरूप उन्हें समीचीन सुखसे वञ्चित ही रह जाना पड़ता है। इसके सिवा इस तरहका एक-देशी प्रेम रखनेवाले अन्य देशोंके लिये महाघातक सिद्ध होते हैं। अतः जबतक 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—सम्पूर्ण सृष्टिके प्राणी अपने कुटुम्ब हैं, इस विश्ववात्सल्यके भावसे रहित स्वदेश-प्रेम ऐसा ही सीमाबद्ध रहेगा, तबतक विश्वमें शान्तिके साम्राज्यकी कदापि स्थापना नहीं हो सकेगी। इसी बातको समझकर सर्वज्ञ शास्त्रकारोंने समस्त समाजको प्राणिमात्रमें सुदृढ़ श्रद्धापूर्वक प्रीति एवं दया रखने और इससे स्वभावतः सबमें निवास करनेवाले ईश्वरकी भक्ति करनेके

लिये उपदेश दिया है। अतः इससे यह निश्चय हुआ कि संसारकी व्यवस्था सुस्थिर रखनेके लिये भी ईश्वरको मानना चाहिये।

पवित्रभावनापूर्वक ईश्वरकी भक्ति होनेसे संवेदना-शक्तिका आत्यन्तिक विकास होता है और इसका जब निस्सीम विकास हो जाता है, तभी ईश्वरके साथ ऐक्यका अनुभव होता है, बुद्धिकी संकीर्णता और स्वार्थान्धताका विनाश होता है एवं प्राणिमात्रमें एक ही आत्माका परिचय प्राप्त होता है। अतः इस शक्तिका आत्यन्तिक विकास करना प्राणिमात्रके लिये हितावह है; किंतु यह लाभ ईश्वरको माननेवाले आस्तिक प्राणियोंको ही मिलता है। अतएव इस हेतुसे भी ईश्वरको मानना परमावश्यक ठहरता है।

विचारशक्ति और संवेदना-शक्तिके समान इच्छा और प्रेरणा-शक्तिके विकासकी भी आवश्यकता है। इन दोनोंका कर्तृत्वशक्तिमें समावेश किया गया है। कर्तृत्वशक्तिका सम्बन्ध ईश्वरकी बलशक्तिके साथ है। अतः इसको मनोबल भी कहते हैं, मनोबलके बिना मनुष्यमें इच्छा, प्रेरणा या क्रिया—किसी भी शक्तिका संचार नहीं होता। अतएव उसकी सबको आवश्यकता रहती है, परंतु वह संसारके मूल उपादान कारण ईश्वरसे ही मिलता है।

आस्तिक और नास्तिक—सभी प्रतिकूल संवेदनीय विषयके त्याग तथा अनुकूल संवेदनीय विषयकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं; क्योंकि सुख सबको प्यारा है, दुःख कोई नहीं चाहता। परंतु बहुतोंमें विचार-शक्तिका समुचित विकास न होनेसे सम्यक् आकारवाले सुखके लिये अनुकूल विचारोंका उद्भव ही नहीं हो पाता, अतः वे अपने हिताहितका यथार्थ निश्चय नहीं कर पाते। उनमें इसी कारणसे

कर्तृत्व-शक्तिका विकास भी नहीं हो पाता और वे अपने भावी जीवनको वैसे ही दुःखमय बना डालते हैं, जैसे कृपण मनुष्य अर्थव्यय करनेसे दुःख भोगते हैं।

कितने विलासी, शराबी और व्यभिचारी मनुष्य अपनी इच्छा-वृत्तिको स्वच्छन्द बनाकर अपना अधःपतन कर लेते हैं और कितने ही अपनी प्रेरणाशक्तिका यथोचित विकास न करके आजीवन दुखी बने रहते हैं। वे नहीं जानते कि प्रेरणाशक्तिका उपयोग अपने शरीर और इन्द्रियोंके अलावा अन्य मनुष्यों और पशु-पक्षी आदिपर भी किया जा सकता है। यों कभी-कभी प्रत्यक्षरूपसे मनुष्य या पशु-पक्षीको प्रेरणा नहीं भी होती; परंतु उनकी आन्तरिक शक्तियोंतक प्रेरणाका प्रभाव अवश्य पड़ जाता है। यहाँतक कि कभी-कभी सृष्टिके शासनकर्ता परमेश्वरसे भी प्रार्थनाद्वारा प्रेरणा की जाती है।

शरीर-इन्द्रिय, स्नेही-सम्बन्धी एवं अश्वादि स्वामिभक्त पशुओंको प्रेरणा करनेका अवसर प्रायः सबको मिलता है। इनसे यथावसर प्रेरणाशक्तिके विकासद्वारा ही आज्ञापालन कराया जाता है।

जिन्होंने इस शक्तिका विधिवत् विकास करके उसका अभ्यास कर लिया है, ऐसे 'मेस्मेरिज्म' और 'हिपनाटिज्म' विद्यावाले जिस तरह आये दिन अनेक मनुष्योंको अचेत बनाकर उनकी आन्तरिक शक्तियोंको सूचना देते हैं, यहाँतक कि वे अपनी इन विद्याओंद्वारा पशु-पक्षी और वृक्षोंकी भी आन्तरिक शक्तिको प्रेरित करते हैं; उसी तरह भक्तजन भी अपने कार्यकी सिद्धिके लिये प्रार्थनाद्वारा परमात्मामें प्रेरणा करते हैं। प्राचीन और अर्वाचीन कालमें अनेक

भक्त और योगियोंने 'ईश्वरभक्ति'के बलसे परमात्मामें निवास करनेवाली 'बलशक्ति' से ऐक्य करके अपने कार्योंकी सिद्धि की है, किं बहुना संसारको नैसर्गिक दिव्य-बलकी प्राप्तिका परिचय भी कराया है।

मनुष्यकी मानस कर्तृत्व-शक्तिका जितना ही अधिक विकास होता है, वह उतना ही अधिक अपने व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक कार्योंमें सफलता प्राप्त करता है। जैसे प्रतिभाशाली न्यायाधीशको देखकर तो अपराधी कम्पित होकर शीघ्र ही अपने अपराधको स्वीकार कर लेता है; परंतु कर्तृत्वशक्तिके विकाससे रहित न्यायाधीशके सामने वही झूठी आरोपित बातें कहकर अपना बचाव कर लेता है। अथवा धारा (न्याय) शास्त्रकी पुस्तकोंको पढ़कर बहुत-से लोग प्लीडर, एडवोकेट, सोलीसीटर या बैरिस्टरकी उपाधियोंसे विभूषित तो हो जाते हैं; परंतु इनमेंसे बहुतोंको, कर्तृत्व-शक्तिका विकास न होनेके कारण यथेच्छ धन, कीर्ति, सुख और शान्ति नहीं मिलती। वे अपने सदाचरण और सत्यको भी खो देते हैं। इससे यह सिद्ध है कि कर्तृत्वशक्तिके विकासके अनुरूप ही कार्य-सिद्धि होती है।

कर्तृत्वशक्तिका विकास आस्तिक और नास्तिक दोनों ही कर सकते हैं; परंतु नास्तिकोंको परलोकका भय नहीं होता। वे नीति-अनीति और समस्त संसारकी लाभ-हानिके विचारको तिलाञ्जलि देकर अपने क्षुद्र या दीर्घदर्शी स्वार्थमात्रके निमित्त प्रयत्न करते रहते हैं और आस्तिक ईश्वर और कर्म-फलमें श्रद्धा रखकर बार-बार नीति-अनीति और सम्पूर्ण संसारके हिताहितकी बात सोचते रहते हैं। अतः दोनोंके भावोंमें भेद होनेके कारण परिणाममें महान् भेद हो जाता है। यद्यपि अनेक निम्नकोटिके आस्तिकोंने भी स्वार्थवश

अधर्माश्रित होकर कर्तृत्व-शक्तिका दुरुपयोग किया है और अब भी करते होंगे, तथापि उनकी जो कर्म-फलके भोगमें निष्ठा होती है, उससे वे, जैसा कि पहले भी बतलाया गया है, बिल्कुल निर्भय होकर पापकर्म नहीं करते। नास्तिकोंकी अपेक्षा उनकी पापप्रवृत्ति न्यून ही होती है। यहाँ भी ईश्वर और धर्मका दोष नहीं कहा जा सकता, उनके मनकी निर्बलता ही कही जायगी।

कर्तृत्वशक्तिका उपयोग क्रूरता, शौर्य, प्रीति, दया आदि अनेक प्रकारकी परस्परविरोधी या समान वृत्तियोंद्वारा किया जाता है। पाशवी प्रकृतिवाले क्रूर नराधम, जिनमें अधिकांश क्या सर्वांश नास्तिक ही होते हैं; अपनी क्रूरताकी वृत्तिद्वारा दूसरोंको दुःख देनेके लिये ही अपनी कर्तृत्वशक्तिका उपयोग करते हैं; परंतु आस्तिक नहीं। जैसे पितामह भीष्म और अर्जुन आदि प्राचीन युगके आस्तिक महारथी और महाराणा प्रताप सिंह, गुरुगोविन्दसिंह और शिवाजी महाराज आदि अर्वाचीन युगके आस्तिक वीरवरोंने अपनी कर्तृत्वशक्तिका उपयोग धर्मकी रक्षाके निमित्त शौर्य दिखानेमें ही किया था। इसके अलावा प्रह्लाद, अम्बरीषादि नृपतिगण, जो आदर्श भक्त हो चुके हैं, उन्होंने प्रीति-वृत्तिको बढ़ाने अर्थात् संवेदना-शक्तिकी उन्नतिके लिये ही अपनी कर्तृत्वशक्तिका उपयोग किया था। भगवान् रामचन्द्र, भगवान् श्रीकृष्ण, महर्षि व्यासदेव और श्रीशंकराचार्यादिने, जिन्होंने अपने जीवनको निःस्वार्थभावसे सृष्टिके हितचिन्तनमें ही समर्पण किया था, अपनी विचारशक्ति, संवेदना-शक्ति और कर्तृत्वशक्तिका सामञ्जस्य रखकर उनका आत्यन्तिक विकास किया था। उनकी कर्तृत्वशक्तिका साक्षात्कार

विश्वप्रेम, परोपकार और शौर्यादि वृत्तियोंमें होता है। उनकी सम्पूर्ण मानस वृत्तियोंका निस्सीम विकास होनेके कारण ही आज समाजमें उनका पूजन होता है। इसी तरह वर्तमान कालमें भी जो अपनी मानस शक्तियोंका पूर्ण विकास करके निष्काम भावसे धर्मरक्षा और विश्वसेवामें अपना जीवन लगा देंगे, उनका भी संसारमें अवश्य सम्मान होगा और इस विचारसे ईश्वरको मानना अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्यकी मानस कर्तृत्वशक्तिका विकास कहाँतक हो सकता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं है; क्योंकि ब्रह्ममें अमर्यादित शक्तिका निवास है और उसकी शक्तिसे कर्तृत्वशक्तिकी जितनी ही एकता होगी, उतने ही अंशमें इसकी प्रगति होगी। हम आश्चर्य और कौतूहल पैदा करनेवाले जिन कार्योंको विना विचारे झूठा या गप्प कहकर हँसीमें ही उड़ा देते हैं, उनको यदि कर्तृत्वशक्तिके उत्कर्षका विचार करके देखें तो निश्चय ही वे पूर्ण सत्य जान पड़ेंगे। अनेक भक्तों और योगियोंके जीवनकी जो आश्चर्यजनक घटनाएँ सुननेमें आती हैं, वे सब उनकी कर्तृत्वशक्तिके उत्थानके प्रभाव हैं। इसी तरह भगवान् रामचन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णादिमें जिस विचित्र मानस शक्तिका दर्शन होता है, वह मानव मानस शक्तिके विकास क्रमका परम प्राप्तव्य है।

मनुष्य जन्मतः श्रद्धामय है। वह अपने अन्तरमें रहनेवाली विचार, संवेदना और कर्तृत्व—इन तीन मानस शक्तियोंको जैसे-जैसे स्वरूपकी प्राप्ति कराता है, उसके अनुसार वह ईश्वरमें श्रद्धावान् (आस्तिक) या प्रकृतिमें श्रद्धावान् (नास्तिक) बन जाता है। *

* सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(गीता १७। ३)

फिर उसी भावनाके अनुसार शारीरिक और मानसिक क्रियाएँ करता है और इन तीन मानस शक्तियोंके विकासानुसार ही अपने कार्यमें सफलता, निष्फलता एवं सुख-दु:ख पाता है। अतएव मनुष्यको ऐसे पथका अनुसरण करना चाहिये, जिसमें उसका और संसारका कल्याण हो। ऐसा पथ केवल ईश्वरकी ही शरणमें हो जाना है। नैसर्गिक शक्ति माननेसे मानस वृत्तियोंका यथोचित विकास नहीं होता है और संसारमें स्वार्थ एवं वैमनस्यादि आसुरी वृत्तियोंका प्राबल्य होनेके कारण सुख नहीं मिलता। उसके कारण समस्त समाज भी सतत चिन्ताग्निसे जलता रहता है। अस्तु।

उपर्युक्त विवेचनोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके मनमें निवास करनेवाली शक्ति और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंका शासन करनेवाली सर्वव्यापिका शक्ति—दोनों एक ही हैं। इनमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं। अत: हम सबको अपनी मानस शक्तिका निरवधि विकास करनेके लिये जन्मसिद्ध अधिकार है, किंतु जबतक हम सृष्टिके शासक महेश्वरको कर्मफलदाता न मानेंगे, उनकी उपासना करके उनको प्रसन्न नहीं करेंगे, तबतक हमारी चित्तशुद्धि असम्भव है। चित्त-शुद्धिके अभावमें हमारी विचार-शक्ति, संवेदनाशक्ति और कर्तृत्वशक्तिका न समन्वय होगा और न समुचित विकास ही। और इन मानस शक्तियोंके विकासके बिना हमारा जीवन चिन्तामग्न रहेगा। पापकृत्योंमें हमारी रति होगी। संसारको हम त्रास पहुँचावेंगे। हमारा पारलौकिक जीवन भी दु:खमय बन जायगा। निष्कर्ष यह कि हम इहलोक और परलोक दोनोंको नष्ट कर देंगे; परंतु यदि हम ईश्वरपर श्रद्धा रक्खेंगे,

शास्त्रानुकूल विधियोंसे उपासना करके उनको प्रसन्न करेंगे तो उससे हमारी चित्तशुद्धि होगी और फिर मानस शक्तियोंके विकासद्वारा हमारा यह जीवन और परलोकका जीवन भी सुखमय बन जायगा। साथ ही हम संसारको भी यथार्थ उन्नतिका पाठ सिखला सकेंगे।

असत् (विषय-वासनाके जाल)से मुक्त होकर सत् (आत्मस्वरूप) और तम (अज्ञानान्धकार) से निकलकर ज्योति (अविचल ज्ञानस्वरूप ईश्वर) की प्राप्ति करने तथा मृत्यु (जन्म-मरणरूप भवचक्र) से छूटकर अमृतत्व (निरतिशय आनन्दरूप परब्रह्म) में मिल जानेके लिये अथवा जीवनके शोक-मोह-संतापादि सम्पूर्ण आधि-व्याधियोंका मूलोच्छेद करके निरतिशय शान्ति और आनन्दको पानेके लिये उपर्युक्त मानस शक्तियोंका विकास ही एकमात्र सच्चा साधन है। इसका अनुभव वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने इन मानस शक्तियोंका निस्सीम विकास करके अविचल सत्यके प्रकाश और अमृतत्वके प्रकाशका सम्पादन किया है। जबतक हमारी आँखोंसे सत्यका प्रकाश ओझल रहेगा, तबतक हमारे अन्तःकरणमें अनेकविध क्लेशोंकी आग निरन्तर प्रज्वलित रहेगी। अतः इस क्लेशाग्निको बुझानेका एकमात्र उपाय ईश्वर-शरण है। ईश्वर-शरणके बिना न तो क्लेशाग्निका शमन होगा और न शान्ति ही मिल सकेगी। अतएव असत्-अन्धकार और मृत्युसे रक्षा पानेके लिये हमें ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये। समस्त मानव-समाजके कल्याणार्थ ही निम्नलिखित यजुर्मन्त्रमें स्पष्ट कहा गया है---

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय।

(बृहदारण्यकोपनिषद् १। ३। २८)

(२) ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?

इसका भी सीधा-सादा समाधान यह हो सकता था कि ईश्वरको मानकर उसपर श्रद्धा करनेसे जो-जो लाभ मिलते हैं, वे ईश्वरको न माननेवाले नास्तिकोंको नहीं मिलते तथा उनको निरन्तर जन्म-मरणरूपी भवचक्रमें आना-जाना पड़ता है; परंतु यह प्रश्न भी पूर्वप्रश्नके अनुसार ही गम्भीर है। अतएव अपनी अल्प शक्तिसे तदनुरूप विचार किया जाता है।

जिस प्रकार भारतवर्षके द्वारा समस्त संसारको सब तरहकी भौतिक विद्याएँ मिलीं, उसी प्रकार ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान और नास्तिकता भी यहींसे प्राप्त हुई। पहले जगत्‌के अन्य देशोंमें जन्मतः श्रद्धाके कारण ईश्वरका अस्तित्व मानकर साधारणरूपसे उपासना होती थी। ईश्वरके अस्तित्व-नास्तित्वके सम्बन्धमें किसी अन्य देशने दार्शनिक अथवा आन्तर-दृष्टिसे विशेष शोध नहीं किया था। परमेश्वरके अनुग्रहसे सबसे पहले इस देशने ही इस पारमार्थिक सत्यके तत्त्वको समझा। यौगिक और दार्शनिक दृष्टियोंसे उसका निर्णय किया और फिर अनेक शास्त्रोंकी रचना करके उनके विचारोंको अपने जीवनमें ओत-प्रोत कर लिया।

साथ ही संसारके इस अविचल नियमानुसार कि विघ्न अथवा प्रतिबन्धक परिस्थिति उत्पन्न हुए बिना प्रगति पैदा करनेवाले विचारोंका उद्भव नहीं होता—प्रतिकूलता आनेपर ही विशेषरूपसे सावधानी रक्खी जाती है। ईश्वरके अस्तित्वको सुदृढ़ करनेके लिये इस अपने देशमें बार-बार नास्तिकोंका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहा; परंतु जैसे चोरी और डाके आदि निषिद्ध कर्म होते रहनेसे व्यक्ति

और समाज सर्वदा सतर्क रहते हैं और अपने अनुयायियोंको भी सावधानताका पाठ पढ़ाते हैं, वैसे ही नास्तिकोंके बार-बार आघात पहुँचानेपर भी—थोड़े समयके लिये समाजमें विक्षेप उत्पन्न हो जानेपर भी—हमारे पूर्व-पुरुषोंका ईश्वर-प्रेम अविचल बना रहा और उनकी ईश्वर-सम्बन्धी भावना अधिकाधिक सुदृढ़ होती गयी। धार्मिक साहित्य और इतिहासको पढ़नेसे यह भलीभाँति विदित हो जाता है। अतः वर्तमानकालमें भी नास्तिकोंके आक्रमणसे जो थोड़ा-सा विक्षेप दिखायी देता है, उससे हानिकी सम्भावना नहीं, वरं लाभ-ही-लाभ है।

भारतमें पहले ईश्वर और जीवोंके अस्तित्वको न माननेवाला चार्वाकवाद था। उसका वचन मिलता है—'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?' उस वादके अनुयायी धर्मशास्त्रोंपर श्रद्धा नहीं रखते थे। भोग-विलास ही उनके जीवनका ध्येय था। उसीकी प्राप्तिसे वे अपने जीवनको कृतकृत्य समझते थे।

पश्चिमीय देशोंमें भी पहले इसीसे मिलती-जुलती नास्तिकता थी। उनका कथन था कि "दूसरोंको अनुकूलता दिये बिना सुखकी प्राप्ति अशक्य है। अपने सुखके लिये दूसरोंके सुखकी ओर भी देखना चाहिये। दान, दया, मैत्री, प्रीति, क्षमा, नम्रता, कृतज्ञता और अहिंसा आदि जो सद्वृत्तियाँ हममें प्रतीत होती हैं, उनके मूल कारणका निरीक्षण करनेपर विदित होता है कि वे सब अपने सुखके लिये अथवा संकट-निवारणार्थ हैं; क्योंकि जब हम दूसरोंकी सहायता करते हैं, प्रेम करते हैं, तब दूसरे भी हमारी सहायता और

हमसे प्रेम करते हैं और जब हम दूसरोंको मारते हैं, तब दूसरे भी हमको मारते हैं। अतः स्पष्ट शब्दोंमें समस्त संसारके सारे प्रयत्न स्वार्थके लिये ही होते हैं। 'परोपकार' शब्द नितान्त भ्रममूलक है। यहाँतक कि माता भी अपने शिशुको जो स्तन-पान कराती है, वह शिशु-प्रेमके लिये नहीं, अपितु स्तनके भारसे होनेवाली प्रतिकूल संवेदनाके शमनके लिये।''

इस मतका खण्डन करनेवाले आधुनिक नास्तिक कहते हैं कि 'जब व्याघ्री-जैसी क्रूर मादा भी विपत्ति आनेपर अपने बच्चोंकी रक्षाके निमित्त अपने प्राणोंको समर्पण कर देती है, तब क्या मनुष्य उस हिंसक पशुसे भी अधिक स्वार्थवृत्ति रखता है? स्वार्थके समान परार्थवृत्ति भी प्राणिमात्रमें नैसर्गिक ही है। दोनों जन्मजात हैं।' इस उक्तिसे पहलेकी नास्तिकताका विनाश और आपातरमणीय आधुनिक नास्तिकताका जन्म हुआ है, परंतु यह भी तो आखिर नास्तिकता ही है।

इन नास्तिकोंका और भी कहना है कि 'सामाजिक नीति-नियमके अनुसार स्वार्थके समान परार्थपर भी दृष्टि रखना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। अन्यथा नीतिके नियमोंका पालन न करनेसे सामाजिक व्यवस्थाका लोप हो जायगा और संसारमें अंधाधुंध मच जायगा।' यह कथन अवश्य कुछ समीचीन भासता है, परंतु इस भावके अनुसार ईश्वर और परलोकका अभाव होनेसे जब स्वार्थ और परार्थ-वृत्तियोंमें परस्पर विग्रह उत्पन्न होगा, तब क्या परार्थवृत्तिका सत्कार नास्तिक लोग कर सकेंगे? जैसे सत्यपालन, शरणागतरक्षण, परोपकार और शीलसंरक्षणके निमित्त अनेक आस्तिक स्त्री-पुरुषोंने

प्रसंग आनेपर अपने प्राणोंका भी बलिदान दे दिया है और अब भी दे रहे हैं। ऐसी कसौटीके समय सामाजिक नीति और परार्थवृत्ति दोनोंको बराबर सम्मान देनेवाले नास्तिक क्या विश्वकल्याणके लिये अपने प्राणोंका समर्पण कर सकेंगे ? इन प्रश्नोंका संतोषजनक समाधान नहीं होता।

नास्तिक लोग प्रायः कहा करते हैं कि 'स्वार्थ और परार्थमें समयानुरूप तारतम्य है। अतएव हम स्वबुद्धि-बलसे हितकी तुल्ना करके अपने मार्गको निश्चित कर लेते हैं।' परंतु इस कथनमात्रसे दुष्कर प्रसंगोंमें निर्वाह होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। ईश्वर और धर्मरूपी लगाम न होनेसे मनरूपी घोड़ा शरीररूपी रथको स्वार्थकी ओर बलात् खींच ले जायगा और 'सामाजिक व्यवस्थाको सुदृढ़ रखनेके लिये परार्थवृत्तिको भी समुचित सम्मान देना चाहिये।' यह कथन उनकी वाणीमें ही स्थित रह जायगा। यदि कहीं सौभाग्यवश वाणीका असर मनपर हो गया तो मनमें विचारोंका उद्भव होगा, विचारोंके अनुसार स्वार्थका संकोचन करनेवाली मनोवृत्ति होगी। तब कहीं इन तीन सोपानोंसे गुजरकर वे परार्थवृत्तिके चौथे सोपानतक पहुँच सकेंगे। अतः इस तरहकी सभी कल्पनाएँ नास्तिकोंके लिये व्यर्थ हैं। अस्तु।

शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक—इनमेंसे किसी भी विषयमें उत्कर्षकी वाञ्छा रखनेवाले प्रत्येक मनुष्यको अपनी दृष्टिके सामने सदैव उत्कृष्ट लक्ष्य रखना चाहिये। मनुष्य अपने आदर्शके समान ही बनता है। इसी दृष्टिसे आस्तिक प्राणी दयासिन्धु, भक्तवत्सल, आनन्दघन, नीतिसागर, सत्य-धर्म-परायण आदि अखिल

शुभगुण-निधान परमेश्वरको लक्ष्यमें रखकर उन्हींके समान बननेका प्रयत्न करते हैं और ऐसा करनेसे अनायास ही उनमें सत्य, सदाचार, नीति, मनोनिग्रह, इन्द्रियदमन आदि हितावह गुण आ जाते हैं; परंतु नास्तिकोंका लक्ष्य कुछ और ही होनेके कारण उनको उपर्युक्त गुणोंसे वञ्चित रहना पड़ता है। उनका लक्ष्य 'ऐश्वर्यकी प्राप्ति' अथवा 'मौज उड़ाना' होता है। अतएव वे वासना-जालमें बेतरह फँस जाते हैं। मनके वशीभूत होकर नीति-अनीतिके विचारोंको भी छोड़ देते हैं। यहाँतक कि अन्तमें मानवशरीरधारी राक्षस बनकर समस्त संसारको कष्ट पहुँचाते हैं।

यह दृश्य संसार दुःखमय है; क्योंकि सुख-प्राप्तिके लिये परिश्रम उठानेपर भी बार-बार असफलता मिलती है। प्रकृतिको जो संसारमें सर्वत्र व्याप्त है, यहाँतक कि प्रत्येक जीव-शरीरके अन्तर्गत ओत-प्रोत है, मनुष्यके सुखोंसे प्रतिस्पर्धा रहती है। मानव जीवनभर उसके साथ युद्ध करता है; परंतु मनुष्यबलकी अपेक्षा प्रकृतिबल अनन्तगुना अधिक है, इसलिये उसे प्रकृतिसे बार-बार पराजित होना पड़ता है। यदि कहीं प्रकृतिके किसी क्षुद्र अंशपर विजय हो जाती है तो उसीसे मनुष्यको थोड़े-से सुखकी प्राप्ति हो जाती है, परंतु मनुष्य जितने सुखकी कामना करता है उसका शतांश भी नहीं पाता। इसलिये मनुष्यजीवनको भी क्लेशमय कहा गया है।*

क्लेशमय जीवनको रूपान्तरित करके सुखमय बनानेकी प्रत्येक

---

* सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ॥

(म० भा० शा० प० २०५ । ६)

मनुष्य इच्छा रखता है; परंतु उसका उपाय उसे नहीं सूझता। इसका उपाय हमारे शास्त्रकारोंने मानवसमाजके कल्याणार्थ पूर्ण अनुभवके पश्चात् निष्काम भावनापूर्वक बतलाया है। उस उपायका नाम 'चित्त-शोधन' है।

चित्तमें दैवी और आसुरी—दो तरहकी वृत्तियाँ हैं। * अभय, दया, दान, अहिंसा, क्षमा, सत्य, सरलता, शान्ति, धैर्य, पवित्रता इत्यादि वृत्तियाँ दैवी सम्पत्ति कहलाती हैं। काम, क्रोध, क्रूरता, दम्भ, अभिमान, असत्य, अज्ञान, अहंता-ममता, राग-द्वेष आदि वृत्तियाँ आसुरी सम्पत्ति कहलाती हैं। इस तरह चित्तकी गति पुण्य और पाप—दोनों पथोंपर होती है।†

आसुरी वृत्तियोंका दुरुपयोग करके किसीको कष्ट न पहुँचाना, अपनी हानि न करना और उनपर अङ्कुश लगाकर उनकी गतिको विपरीत दिशामें मोड़ देना अर्थात् बाह्य जगत्से हटाकर अन्तरात्माकी ओर कर देना ही 'चित्तशोधन' है। इससे आसुरी वृत्तियाँ स्वयमेव रूपान्तरित होकर दैवी बन जाती हैं और दैवी वृत्तियोंका योग्य विकास होने लगता है। फिर यह दुःखपूर्ण संसार सुखका केन्द्र बन जाता है, किंतु नास्तिक ईश्वर और आत्माकी नित्यताके विषयमें अश्रद्धालु होनेसे चित्तशोधनकी इस क्रियाको निरर्थक समझकर उससे दूर रहते हैं। परिणामतः उनको हानियाँ उठानी पड़ती हैं। उनकी

---

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिका विशेष वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १६ में देखें।

† चित्तनदी उभयतः वाहिनी वहति कल्याणाय, वहति पापाय वा। (योगभाष्य)

वृत्ति स्वच्छन्द हो जाती है, जिससे उनको विषयभोगमें अति आसक्ति हो जाती है। मनका अधःपतन हो जाता है और लगातार कटु क्लेशोंका अनुभव करना पड़ता है।

मनुष्य अपनी कामनाके अनुसार विचार करता है, विचारके अनुसार निश्चय करता है, निश्चयके अनुसार व्यवहार करता है और व्यवहारके अनुसार फलकी प्राप्ति करता है। * इस तरह विचार, निश्चय, कर्म और कर्मफल—सबका मूल कामना होनेके कारण उसकी शुद्धि करना आस्तिक-नास्तिक—दोनोंहीको अत्यावश्यक और हितावह है।

क्योंकि संसारके किसी भी विषयकी आलोचना करनेपर उसका स्वरूप मनमें रहनेवाली कामनाके अनुसार ही होता है। भक्ति, प्रीति, मोह, द्वेष या अभिमानद्वारा जिन-जिन विषयोंका मनमें गुप्तरूपसे स्मरण किया जाता है, उसीके वशीभूत होकर मन वर्ताव करने लगता है। यही कारण है कि स्वप्नावस्थामें भी प्रायः जाग्रद-वस्थाके अनुरूप ही चेष्टाएँ होती हैं। मद्य या गाँजा आदिके नशेमें संस्कारानुरूप ही क्रियाएँ होती हैं। त्रिदोष (सन्निपात) के रोगीकी चेष्टाएँ भी स्वाभाविक संस्कारानुरूप होती हैं, यहाँतक कि त्रिदोष या बेहोशीके समय अनेक गुप्त कर्तव्योंका परिस्फोट हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि शुभाशुभ संस्कारानुरूप क्रियाएँ होती हैं और तदनुसार मनकी उन्नति या अवनति होती है।

---

* अथो खल्वाहुः—काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। (बृह० उ० ४।४।५)

जिस प्रकार सफेद वस्त्रपर रंग, मैल अथवा तेल आदिका दाग पड़ जाता है, उसी प्रकार मनपर शुभाशुभ कर्तव्योंके संस्कार जम जाते हैं। यद्यपि इन संस्कारोंको बाहरसे कोई नहीं देख पाता है, परंतु इनके कारण मानसिक उन्नति या अवनति अवश्य हो जाती है। मलिन वस्त्र पहननेके अभ्यासियोंको मैले वस्त्रकी दुर्गन्धसे घृणा नहीं होती—दुर्गन्धयुक्त गंदे स्थानमें भी रहनेसे उनको दुःख नहीं होता; परंतु अन्तमें उनकी परीक्षाशक्तिका लोप हो जाता है। इसी तरह मलिन मनवालोंको पापकार्यसे, पापी पुरुषोंके सहवास-से या पापपूर्ण विचारोंसे पहले तो घृणा नहीं होती है; किंतु जब अन्तमें उनकी विचार-शक्तिका अधःपतन हो जाता है, तब पछताना पड़ता है।

उदाहरणमें एक ब्राह्मणको लीजिये। वह अपने समाज और कुटुम्बसे छिपाकर शराब पीता है। पहले तो उसके उत्साहकी वृद्धि होती है और नास्तिकोंके सम्पर्कसे उसके मनमें पाप-पुण्यका विचार भी नहीं आता; परंतु जब बार-बारके मद्यपान और दुष्टोंके कुसङ्गके कारण वह युगपत् मांसाहार, व्यभिचार, चोरी, छल, प्रपञ्चादि निषिद्ध कर्म करने लगता है, तब धन-हानि, लोक-निन्दा, बुद्धिकी मलिनता, विचारोंकी अशुद्धि, मानसिक निर्बलता, पुनः-पुनः शराब पीनेकी वासना एवं शरीरके फुफ्फुस, हृदय, मस्तिष्क और आँतमें रोगोंकी उत्पत्तिका अनुभव होता है। अतः प्रारम्भमें समीचीनता-असमीचीनताविषयक विचारोंको न लानेसे कितने अशुभ-संस्कारोंकी उत्पत्ति होती है और मनुष्यजीवन कितना पतित होता है, इसको विचारशील सज्जन अच्छी तरह समझ सकते हैं।

जिस प्रकार इत्र अथवा कस्तूरीका सम्पर्क होनेसे सुगन्धकी उत्पत्ति होती है और उससे मन प्रसन्न होता है, वैसे ही पुण्यकर्मोंसे मनमें शुभ संस्कार उपजते हैं और पुनः-पुनः परोपकारादि कर्म करनेकी प्रेरणा होती है। मन भी आनन्दमग्न रहता है और जैसे साफ-सुथरे व्यक्तिको मैले-कुचैले पुरुषके सहवासमें रहना असह्य होता है, वैसे ही पुण्यात्मा अर्थात् ईश्वरको माननेवाले आस्तिकको पापी विचार या पापात्मासे सम्बन्ध होना दुःखदायी प्रतीत होता है। अतः जो ईश्वरको मानकर, कर्मफलके भयसे नीति-अनीतिका विचारकर, संसारमें अपना व्यवसाय करता रहता है, वह अधःपतनसे बच जाता है तथा अपना उत्थान भी कर लेता है।

विषयासक्त प्राणी अपने संस्कारानुरूप भावी फलाफलका विचार किये बिना अनुकूल विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, जिससे उनकी दुष्ट कामनाएँ, उनकी इच्छा न रहते हुए भी बलवती हो जाती हैं। फिर कामनाओंसे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे स्मृति-विभ्रम, स्मृति-विभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वस्वका नाश हो जाता है।*

यह सब तो हुआ; अब नास्तिकोंके अधःपतनके सम्बन्धमें दूसरी युक्तियोंसे विचार कीजिये।

---

* ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

संसारमें प्रतीत होनेवाले सभी पदार्थ अनित्य हैं और इनसे प्राप्त होनेवाला आनन्द भी अस्थिर, अपूर्ण और अनित्य है। फिर भी सभी प्राणी उन क्षणिक सुखोंकी टोहमें भगीरथ-प्रयत्न करते रहते हैं। उनकी सारी इन्द्रियाँ अनुकूल संवेदनावाले विषयोंपर स्वभावसे ही मुग्ध रहती हैं। यही मोहजाल है; किंतु विवेकी सज्जन भावी कल्याणका खयाल करके इस मोहजालमें नहीं फँसते। केवल अविवेकी ही स्वेच्छापूर्वक उसमें घुसकर अपना विनाश करते हैं।

मान लीजिये कि स्वादिष्ट भोजनकी इच्छावाला एक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार व्यञ्जन बनाकर भोजन कर रहा है। मनोहर पकवानोंके आहारसे उसकी उदर-तृप्ति तो हो चुकी है; किंतु तृष्णाकी प्रबलताके कारण उसका मन अभी नहीं भरा है। वह चाहता है कि थोड़ी-सी और मिठाई खा लें। उस समय उसके शरीरके आन्तर प्रदेशमें मन और बुद्धिका संग्राम होने लगता है। बुद्धि कहती है कि पेट भर गया, अब यदि अधिक आहार करोगे तो उसका पाचन नहीं हो सकेगा, आलस्यका संचार होगा, पाचनक्रिया विकृत हो जायगी और अजीर्ण, प्रतिश्याय (जुकाम), ज्वर, अतिसार, उदर आदि अनेक दुर्घट रोग उत्पन्न हो जायँगे। मानसिक निर्बलता हो जायगी और उससे बुरे संस्कारोंका प्राबल्य हो जायगा; परंतु बुद्धिके इस यथार्थ विचारको मूढ़ मनुष्यका स्वच्छन्द मन कदापि ग्रहण नहीं करता। वह मनमानी ही करता है। इसी तरह वह शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध आदि अन्य विषयोंके लिये भी शठता करता है। फलतः सम्पूर्ण विषयोंका अनुचिन्तन

करते रहनेसे लंपटता आ जाती है और उससे मनुष्य पतित बन जाता है। सारा शरीर व्याधि-मन्दिर हो जाता है।* इसी कारण आस्तिक ईश्वरमें श्रद्धा रखकर इन्द्रिय-दमन करनेका प्रयत्न करते हैं।

प्रायः प्रत्येक शरीरधारीको किसी-न-किसी व्याधिसे परिचय होता ही है। शरीरमें रोगोत्पत्ति कब हो जाय—इसका कोई निश्चय नहीं। असंयमी मनुष्योंको बहुत शीघ्र रोगोंका शिकार होना पड़ता है। वृद्धावस्थामें भी अनेक प्रकारके संकटोंके उत्पन्न होनेका भय होता है। अतः व्याधि और जरावस्थामें शरीरके अन्य सभी अवयव तो शिथिल हो जाते हैं, परंतु तृष्णा दिन-प्रति-दिन तरुण ही होती जाती है। नीतिकारोंने कहा है कि 'जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः। चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका तरुणायते ॥' अस्तु, नैसर्गिक नियमानुसार व्याधियोंके शिकार नास्तिक-आस्तिक—दोनों ही बनते हैं; परंतु वैद्य या डाक्टरद्वारा बतलाया गया आहार-विहारसम्बन्धी संयम नास्तिकोंसे नहीं हो पाता; क्योंकि उनका मन पहलेसे ही स्वच्छन्द बना रहता है। वह परवशता कैसे स्वीकार करे? यदि लाचारीसे उनको इन्द्रिय-दमनके लिये कहा जाता है तो उनका मन विपत्तिके सागरमें डूब जाता है। उन्हें क्रोध हो जाता है और परिणामतः उनको व्याधियोंसे मुक्ति नहीं मिलती।

---

* इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
(गीता २। ६७)

इन्द्रिय-दमन न करनेवालोंका मिजाज बड़ा तेज होता है। उनसे कोई भ्रमवश दो शब्द भी कह देता है अथवा किसी बातका उलाहना दे देता है तो उनका खून १२० डिग्रीतक गरम हो जाता है। मिजाज सातवें आसमानपर चढ़ जाता है, शरीर प्रकम्पित हो उठता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहाँतक कि वे अपनेको सम्हालनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं। फलतः यदि बात कहनेवाले या उलाहना देनेवाले पूज्य या सम्मान्य भी क्यों न हों उनका वे अपमान किये बिना नहीं रहते। यदि समान स्थिति-वाले हुए तब तो गाली-गलौज और मार-पीट हो जानेके बाद ही शान्ति मिलती है। इससे भी आगे बढ़ते हैं तो हत्यातककी नौबत आ जाती है। यद्यपि इस तरहके क्षणिक क्रोधावेशमें आकर अनेक क्षुद्र हृदयवाले आस्तिक भी दूसरोंको नुकसान पहुँचाते हैं, परंतु वे अपने अनौचित्यको अन्तःकरणसे स्वीकार कर लेते हैं। वे समझते हैं कि उनके पापका फल उन्हें मिलेगा। इसी कारण बहुधा वे गुप्त पापोंसे भी बच जाते हैं।

यों तो संसारमें सम्पत्ति और ऐश्वर्यविषयक मोह न्यूनाधिक परिमाणमें आस्तिक-नास्तिक सबको होता है; परंतु आस्तिक ईश्वरके भयसे किसी समुचित रीतिसे उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं और नास्तिक अनुकूल मौका पानेकी ही राह देखते रहते हैं। यदि जरा भी मौका मिल जाता है तो वे नीति-अनीतिको ताकपर रखकर बुरे-से-बुरे उद्यमसे भी बाज नहीं आते। उस समय उनको सांसारिक व्यवस्थाको ठीक रखनेके लिये सामाजिक नीति-नियमोंका पालन करना भूल जाता है और अपनी तृष्णाकी

पूर्तिके लिये वे छल-प्रपञ्च, धूर्तता, चालबाजी आदिमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

कहाँतक कहा जाय, नास्तिकोंको ईश्वर और मरणके पश्चात् आत्माके अस्तित्वपर विश्वास न होनेके कारण असत्य, विश्वासघात, व्यभिचारादि दुराचारोंसे कोई भय नहीं होता। उनकी संख्या जिस देशमें बढ़ जाती है, वह सारा-का-सारा देश अव्यवस्थित और आतङ्क-पूर्ण हो जाता है। उस समय समाजकी तो बात ही क्या, यदि उस देशकी सबसे बड़ी शक्ति 'गवर्नमेंट' भी उन्हें दबाना चाहे तो नहीं दबा सकती। आजकल जो कई देशोंमें विश्वासघात, धूर्तता, द्वेष-बुद्धि, व्यभिचारादि पाप प्रचुर परिमाणमें फैले हुए हैं, वे नास्तिकताके कारण ही हैं। इसको वहाँकी आन्तर स्थितिको सत्य-सदाचारादि नैतिक दृष्टियोंसे निरीक्षण करनेवाले प्रायः सभी लोग जानते हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टिसे नास्तिकोंकी मानस स्थितिका अवलोकन करनेपर उन्हें नर-राक्षस ही कहना पड़ेगा। भर्तृहरिजीने कहा है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

जो अपने स्वार्थको तिलाञ्जलि देकर परहित अथवा विश्वहितके लिये प्रयत्न करते हैं, वे सत्पुरुष कहलाते हैं। जो अपने स्वार्थका विरोध न आनेतक परहित करते हैं, वे सामान्य पुरुष कहलाते हैं और जो स्वार्थके लिये परहितका विनाश करते हैं, वे नर-राक्षस कहे जाते हैं; किंतु इसके सिवा जो व्यर्थ

ही दूसरोंके हितोंपर आघात पहुँचाते हैं, वे कौन हैं ? उनको हम नहीं जानते ।'

अस्तु, यहाँतक तो बहिरङ्ग-दृष्टिसे विचार हुआ, अब अन्तरङ्ग-दृष्टिसे विचार कीजिये ।

प्रीतिकर भोजन करने, पुष्प-गन्ध लेने, खेल-तमाशा देखने, संगीत सुनने आदिसे जो आनन्द मिलता है, वह कुछ मिनटों-तक ही रहता है । शरणागतोंकी रक्षा, दीनोंपर दया, पीड़ितोंकी शुश्रूषा, स्वदेशकी सेवा, भगवान्‌का भजन आदि करनेसे जो आनन्द मिलता है, वह घंटोंतक रहता है और परमार्थमें मन लगानेवाले शास्त्रोंके मनन एवं विश्व-वात्सल्यादिसे जो आनन्द मिलता है, वह दिनभर रहता है । शरणागतोंकी रक्षासे लेकर विश्व-वात्सल्यादितकके कार्य सकाम और निष्काम दो भावोंसे किये जाते हैं, सकाम भावसे पैदा होनेवाले सुखको 'मानस-सुख' और निष्काम भावसे पैदा होनेवाले सुखको 'बुद्धिग्राह्य' माना जाता है । बुद्धिग्राह्य सुख ही सच्चा सुख है ।* प्लेटो नामक ग्रीक तत्त्वज्ञानीने भी सुखकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'शारीरिक सुखकी अपेक्षा मानसिक सुख अच्छा है और मानसिक सुखकी अपेक्षा बुद्धिग्राह्य सुख श्रेष्ठ है ।' भगवान् मनु भी कहते हैं कि 'संसारके अचेतन प्राणियोंमें चेतन, चेतनमें बुद्धिमान्, बुद्धिमानोंमें मनुष्य, मनुष्योंमें विद्वान्, विद्वानोंमें चरित्रवान्

* 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।' (गीता ६ । २१) 'तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।' (गीता १८ । ३७)

चरित्रवानोंमें सम्पूर्ण मानस शक्तियों—विचार, संवेदना और कर्तृत्व आदिका विकास करनेवाले श्रेष्ठ तथा सुखी हैं। *

अतः विवेकीजन तुच्छ विषयोंके क्षणिक आनन्दका त्याग करके अधिकाधिक श्रेष्ठ कोटिके आनन्दकी जिज्ञासा करते हैं; किंतु नास्तिकोंकी दृष्टिमें तो संसार कामनापूर्ण रहता है। अतएव उनकी बुद्धिमें निष्काम अथवा निःस्वार्थ भावसे कर्म करनेका विचार आता ही नहीं और वे सच्चे आनन्दसे बिल्कुल वञ्चित ही रह जाते हैं।

नास्तिक लोग सत्यासत्यका निर्णय भी स्वार्थदृष्टिसे ही करते हैं, इससे संसारको बहुत बड़ी हानि पहुँचती है। जैसे अफ्रीकन डाकू जब किसी धनीके घरमें घुसते हैं, तब पहले उस घरमें रहनेवालोंको कत्ल कर देते हैं, पीछे घरको लूटते हैं। यदि उनसे कोई घरवाला कहता है कि 'इच्छानुसार धन ले लो, किंतु प्राण न लो' तो उत्तर मिलता है कि 'क्या हम नमकहराम हैं जो बिना परिश्रम धन ले लें? पहले हम हलाल करेंगे, तब धन लेंगे।' मतलब यह है कि उनको मनुष्य-वधमें ही न्याय और धर्म प्रतीत होता है। इसी प्रकार यूरोपके अनेकों देशोंके व्यापारियोंने अफ्रीकाके न जाने कितने मनुष्योंको बन्दूकके बल

---

* भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
(मनुस्मृति १। ९६-९७)

पकड़कर गुलामीके लिये अमेरिकामें बेचा है। इस कार्यमें उन्होंने बहुतोंकी हत्याएँ भी की हैं; परंतु यह अन्याय उनकी बुद्धिमें अन्याय नहीं प्रतीत होता। गत महायुद्धको ही लीजिये, उससे संसारके समस्त राष्ट्रोंको भयंकर हानियाँ उठानी पड़ीं। अगणित मनुष्योंका संहार हुआ; परंतु इसका कोई परिणाम धर्मकी दृष्टिसे उनके विचारमें नहीं हुआ। नहीं तो, वे ही राष्ट्र आज फिर संघर्षके लिये क्यों तैयार होते? अस्तु, यह निश्चय है कि जितने अंशोंमें ईश्वर और धर्मसे दूर हटकर स्वार्थ और नास्तिकतासे सत्यासत्यका निर्णय किया जायगा, उतनी ही हानियाँ उठानी पड़ेंगी। उतना ही पतित होना पड़ेगा।

ईश्वर और धर्मको न माननेसे जैसे व्यक्तिगत अधःपतन होता है, वैसे ही समाज तथा राष्ट्रकी भी अवनति होती है। एक समाज अथवा राष्ट्र दूसरेको निर्बल समझकर और कोई झूठमूठ बहाना निकालकर हड़प लेनेका प्रयत्न करता है। यदि कमजोर हुआ तो अपनी रक्षाके ही लिये भयंकर युद्ध-सामग्रियोंको तैयार करता रहता है। फलतः उसकी प्रजा करोंसे लद जाती है। अतः नास्तिकताकी प्रभुतासे क्या निर्बल और क्या सबल—सब राष्ट्रोंको सशङ्क होकर कमर कसे ही रहना पड़ता है। शान्ति कभी नहीं मिलती।

तात्पर्य यह कि ईश्वरमें अश्रद्धा रखनेवाले नास्तिक अपने मन और इन्द्रियोंको स्वच्छन्दी बनाकर निरन्तर चिन्तातुर रहते हैं। इस लोकका सच्चा सुख और पारलौकिक कल्याण दोनों ही उन्हें अप्राप्य हो जाते हैं, उनके द्वारा सारा समाज विपत्तिमें पड़कर पीड़ित

बन जाता है और अपने कर्तव्यका कटु फल तो उन्हें निस्सन्देह भोगना ही पड़ता है। ऐसे ही कटु फल भोगनेवाले नास्तिकोंपर दया करके महाभारतके अन्तमें महर्षि व्यासदेवने उनसे जोरदार शब्दोंमें कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

'ओ मानव! मैं अपनी दोनों भुजाओंको उठाकर पुकार रहा हूँ, फिर भी कोई मेरी बात नहीं सुनता। अरे! धर्मसे ही सच्ची शान्ति देनेवाले अर्थ, काम और मोक्ष आदिकी प्राप्ति होती है। अतः तुम ऐसे मङ्गलमय धर्मका सेवन क्यों नहीं करते?'

नास्तिकोंकी एक दलील यह भी है कि 'क्या ईश्वरको न माननेसे जीवन नहीं रह सकता?' इसका उत्तर यह है कि 'हाँ, रह सकता है; परंतु मानव-जीवन नहीं, पशु-जीवन।' उस समय वन्य पशुओंके समान जो बलवान् या बदमाश होगा, वही बादशाह बनेगा। फिर उससे भी कोई सबल होगा तो उसे पदच्युत कर देगा। इस प्रकार समस्त राष्ट्र या संसारमें अधर्म और निरङ्कुशता फैल जायगी। अतएव उचित तो यह है कि यदि नास्तिकोंकी तत्त्वदृष्टिमें ईश्वर-दर्शन न होता हो तो भी वे कम-से-कम सामाजिक प्रगति और सामाजिक व्यवस्थाको ठीक रखनेके लिये ही ईश्वरको मानें; क्योंकि इसके लिये भी ईश्वरकी बड़ी आवश्यकता है। जिन-जिन देशोंने नास्तिकताके कारण ईश्वरका बहिष्कार किया है, उनकी वर्तमान अवस्थासे दस वर्ष पहलेकी अवस्थाका मिलान कीजिये। उनकी सामाजिक शिथिलताका स्पष्टरूपसे पता चल जायगा।

भारतवर्षमें ३५ करोड़ मनुष्योंकी आबादी है, जो सम्पूर्ण सृष्टिकी आबादीका छठा हिस्सा है। फिर भी आज हम दीन-हीन हो रहे हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि हम भी नास्तिकोंकी तरह आत्मविद्रोही, अकर्मण्य और अधर्मी बन गये हैं। अतः इस दुःखद परिस्थितिको सुधारनेके लिये हम सबको तीव्र जिज्ञासा होनी चाहिये। हमें अपने नत मस्तकोंको ऊपर उठानेमें अनेक तरहकी भयंकर प्रतिकूलताओंका सामना करना पड़ेगा; परंतु इससे क्या आज तीन हजार वर्षोंसे ही हमपर आपत्तिके बादल छा रहे हैं। हमारे पूर्वपुरुषोंने बड़े साहस और धैर्यके साथ उनका मुकाबला किया है। हम भी उन्हींके आशीर्वाद और बलसे सामना कर सकेंगे। यदि ऐसी परीक्षाके अवसरपर हम हतोत्साह, कर्तव्यविमुख निराश या मूढ़ होकर बैठ जायँगे तो हमारी प्राचीन संस्कृतिका दिव्य प्रासाद नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। इतिहासवेत्ता हमारी अपकीर्तिका अक्षय गान प्रलयकालतक गाते रहेंगे; परंतु यदि हमने नास्तिकतारूपी भीषण आपत्तिसे अपना, अपने देश या समस्त संसारका उद्धार कर लिया तो पहलेकी ही तरह आज भी हम संसारके लिये पथप्रदर्शक और गौरवशील बने रहेंगे। इसलिये समस्त हिंदू-समाजको संघटित होकर, ईश्वरमें दृढ़ श्रद्धा रखकर खूब प्रयत्न करना चाहिये। यदि हममेंसे प्रत्येकने अपनी शक्ति, स्थिति और मतिके अनुसार पूरी चेष्टा की तो अवश्य सफलता मिलेगी।

महात्मा गाँधी

१—ईश्वरको मानना चाहिये; क्योंकि हम अपनेको मानते हैं, जीवकी हस्ती है, तो जीवमात्रका समुदाय ईश्वर ही है और यही मेरी दृष्टिमें प्रबल प्रमाण है।

२—ईश्वरको न माननेसे सबसे बड़ी हानि वही है,जो अपनेको न माननेसे हो सकती है। अर्थात् ईश्वरको न मानना आत्महत्या-सा है। बात यह है कि ईश्वरको मानना एक वस्तु है और ईश्वरको हृदयगत करना और उसके अनुकूल आचरण रखना यह दूसरी वस्तु है। सचमुच नास्तिक इस जगत्में कोई है ही नहीं। नास्तिकता आडम्बरमात्र है।

३—ईश्वरका साक्षात्कार रागद्वेषादिसे सर्वथा मुक्त होनेसे ही हो सकता है अन्यथा कभी नहीं। जो मनुष्य साक्षात्कार हुआ है— यह कहता है, उसको साक्षात्कार नहीं हुआ है, ऐसा मेरा मन्तव्य है। यह वस्तु अनुभवगम्य है; परंतु अनिर्वचनीय है। इसमें मुझको संदेह नहीं है।

४—ईश्वरमें विश्वास रखनेसे ही मैं जिंदा रह सकता हूँ। मेरे जीवनमें ऐसी किसी वस्तुका मुझको स्मरण नहीं है, जिससे मैं यह कह सकता हूँ कि उस समय ईश्वरकी सत्ता और दयामें मेरा विश्वास जम गया। थोड़ा ही समय था। जब विश्वास खो बैठा था या यों कहिये कि मैं सशङ्क था, उसके बाद दिन-प्रति-दिन विश्वास बढ़ता ही गया है और बढ़ रहा है। बढ़ रहा है इसलिये कहता हूँ कि बुद्धिके लिये तो कोई प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है; परंतु जबतक हृदयमें थोड़ा-सा भी विकार भरा है वहाँतक पूर्ण विश्वासका दावा नहीं किया जा सकता।

स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

प्रत्येक मनुष्यको सुखकी इच्छा रहती है और वह यह समझता है कि यदि हम दूसरोंको सुख पहुँचायेंगे तो उसके बदलेमें न्यायकर्ता ईश्वरकी ओरसे हमको अगले जन्ममें सुख मिलेगा और इस जन्ममें भी हम सुखी रहेंगे। वास्तवमें, ईश्वरको न्याय करनेवाला और सर्वज्ञ माननेसे मनुष्यमें सहज ही दूसरोंको सुख देनेकी रुचि उत्पन्न हो जाती है और जो दूसरोंको सुख पहुँचाते हैं, वे धर्मात्मा समझे जाते हैं—संसारभरमें उनकी कीर्तिकी गन्ध फैल जाती है। आगे चलकर उनका

स्वभाव ही दूसरोंको सुखी बनानेका हो जाता है, फिर अपने परोपकारी स्वभावसे वे जिनको सुखी बनाते हैं, वे भी 'तुख्म तासीर सुहबते असर' के अनुसार दूसरोंको सुख पहुँचाने लगते हैं और इस तरह समस्त संसारका कल्याण हो जाता है।

पूर्वजन्मोंके कर्मानुसार ही ईश्वर हमको धनी या दरिद्रके घरमें जन्म देता है; अंधा, कोढ़ी या पंगु बनाता है। यदि हमारे पुण्य अधिक होते हैं तो हम अगले जन्ममें सुखी होते हैं और यदि पाप अधिक होते हैं तो दुखी बनते हैं। इससे यह सिद्ध है कि हमारे ऊपर न्यायकर्ता ईश्वर अवश्य है, उसको हमें अवश्य मानना चाहिये। उसको माननेसे हम पापोंसे डरेंगे और हममें स्वाभाविक ही पुण्यकर्म करनेकी रुचि हो जायगी।

२—ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?

ईश्वरको न माननेसे संसारमें भयंकर कुकर्म होने लगेंगे—नास्तिकों-को किसी भी पापसे भय न रहेगा। वे एकान्तमें परस्त्रीके साथ गमन करेंगे—फलतः उपदंश आदि वीभत्स व्याधियोंके शिकार होकर उन्हें सड़ना पड़ेगा। दो-चार रुपयोंके लोभसे भी पथिकोंकी हत्या होने लगेगी। थोड़े-से भी स्वार्थके लिये असत्य भाषण करनेमें किसी प्रकारका संकोच न होगा। खुदगर्जी फैल जायगी। सारा समाज आसुरी (राक्षसी) सम्पदावाला बन जायगा। 'किसी भी पुण्यकर्मका बदला देनेवाला कोई है ही नहीं' यह मूर्खतापूर्ण विचार लोगोंके मस्तिष्कमें घर कर जायगा। परिणाम यह होगा कि कोई भी पुण्य-

कर्म, जैसे—यज्ञ, दान, अन्नक्षेत्र, विद्यादान, कुआँ-तालाव खुदवाना आदि न हो सकेंगे। इस प्रकार ईश्वरको न माननेवाला मनुष्य, समाज या देश अवगुणों और पापोंका केन्द्र बन जायगा।

३–ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं ?

ज्योतिषशास्त्रके विद्वान् दस-दस, बीस-बीस वर्षोंके पञ्चाङ्ग पहले ही बना डालते हैं और उनमें बुध, गुरु, शुक्र आदि नक्षत्रोंके उदयास्तकी जो तिथियाँ लिख देते हैं, उनमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रत्यक्ष प्रमाणसे यही सिद्ध होता है कि इन ग्रहों-उपग्रहोंको नियमित-रूपसे संचालित करनेवाला कोई सर्वज्ञ चेतन अवश्य है, तभी तो हजारों-लाखों वर्षोंसे इनका नियमितरूपसे संचालन हो रहा है। नहीं तो, उन जड पदार्थोंको अपने और परायेका भी ज्ञान नहीं है। यदि कोई कहे कि प्रकृति (नेचर) ही इन ग्रहोंका संचालन करती है, तो यह कथन असत्य है; क्योंकि प्रकृति भी तो उसी प्रकार जड है—उसमें भी किसी तरहका ज्ञान नहीं है। परंतु यदि कोई प्रकृति-वादी प्रकृतिको 'चेतन' मानता हो तो उसी चेतनको हम अपने शब्दोंमें 'सर्वज्ञ ईश्वर' मानते हैं। ग्रहोंकी चालोंको देखकर पृथ्वीभरके चतुर विद्वान् 'सर्वज्ञ चेतन' की सत्ता निःसंशय स्वीकार करेंगे।

बालक माताके गर्भमें रहता है—उस समय उसके शरीरके अवयवों—जैसे फेफड़ा, हृदय, नेत्र, यकृत, आँत आदिको कौन बनाता है ? उसके माता-पिता ? उन बेचारे अल्पज्ञोंको तो इन अवयवों-का ज्ञान भी नहीं होता कि कौन कहाँ स्थित रहता है ! अतः

मनुष्यके अवयवोंकी चमत्कारपूर्ण बनावट देखकर भी ईश्वरकी सत्ता, परम चतुरता और सर्वज्ञता सिद्ध होती है । यदि इसपर भी हम विचार करें तो ईश्वरका अस्तित्व निःसन्देह समझमें आ जायगा ।

प्रत्येक जीव परतन्त्र है, स्वतन्त्र कोई नहीं है । सभी मनुष्य यह चाहते हैं कि हम सौ वर्ष जीवित रहें, कभी रोगी न हों और हमारे पुत्र ही हो, कन्या कभी न हो, परंतु उनकी ये कामनाएँ कभी पूरी नहीं होतीं । मनुष्य चाहता कुछ है, प्रयत्न कुछ करता है और पाता कुछ और ही है । इससे सिद्ध होता है कि उसके भाग्यका निर्णय करनेवाला और उसे कर्मानुसार फल देनेवाला उसका शासक कोई और है । उस सर्वनियन्त्री सर्वशक्तिमती सत्ताका ही नाम ईश्वर है ।

परंतु हम अपने पूर्वजन्मके पाप और ज्ञानकी कमीके कारण यों ही ईश्वरके अस्तित्वपर संदेह करते हैं । जिन महात्माओंने योगबलसे ईश्वरकी सत्ताको देखा है, उनके अनुभव निम्नलिखित शब्दोंमें पढ़िये—

ऐसा तो रंगरेज ना ऐसा छीपी नाँह ।
ऐसा कारीगर नहीं था दुनियाके माँह ॥
बाजीगर बाजी रची सब गति पूरन साज ।
किये तमासे बहुत ही तोहि दिखावन काज ॥
बहुत प्यार तो पै करैं तू नहि जानत सार ।
वाहि भुलायो ही फिरै नेक न करे सँभार ॥
देखि देखि देखत रहो स्तुति ही मुखसूँ भाख ।
बाकी चतुराई सबै लेकर मनमहँ राख ॥

कबहूँ जग प्रगटित करे, कबहूँ करे अलोप।
नाना विधि बाजी करै, आप रहत है गोप॥
अजब अजब अचरज किये, अद्भुत अधिक अपार।
जल थल पवन अकासमें, देखो दृष्टि उघार॥

बिजली नेत्रोंसे नहीं दिखायी देती है, इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि बिजली है ही नहीं, प्रत्युत रसायन-शालामें जाकर विद्युत्-शास्त्रके किसी धुरन्धर विद्वान्द्वारा बिजलीका पता लगाया जा सकता है। उसी तरह किसी ज्ञानपूर्ण योगाभ्यासी महात्माके पास रहकर उसके बतलाये हुए साधनोंद्वारा ईश्वरका अस्तित्व भी थोड़े समयमें ही जाना जा सकता है, परंतु इसके विपरीत यदि कोई चाहे कि हम तर्कोंसे उसका पता लगा लेंगे तो यह असम्भव है। उसको तो केवल योगाभ्यास और ज्ञानचक्षुसे ही देखा जा सकता है। जिस प्रकार दो लकड़ियोंका घर्षण होनेसे आग पैदा हो जाती है, उसी प्रकार परमात्माके मानसिक नामजप और शरीरका घर्षण होनेसे ब्रह्मरूपी अग्निका साक्षात्कार हो जाता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। नीचेके श्लोकोंमें देखिये—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् १। १४)

यस्तु द्वादशसाहस्रं नित्यं प्रणवमभ्यसेत्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परब्रह्म प्रकाशते॥
(यतिधर्मप्रकाश)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३। २४)

नासा ध्यान दृष्टि भृकुटीमें सुरति श्वासके माहिं।
ईश्वर देख्यो जात है यामें संशय नाहिं॥

(शुकदेवोक्ति)

ऊपरके पहले श्लोकका अर्थ यह है कि यदि तुम अपने शरीर-को नीचेकी लकड़ी और 'ॐ' को अर्थात् भगवन्नामके मानसिक जपको ऊपरकी लकड़ी बनाकर गुरुनिर्दिष्ट मार्गानुसार घर्षण करोगे तो गुप्त रहनेवाले देवको ज्ञानचक्षुद्वारा देख लोगे। दूसरे श्लोकका भाव यह है कि जो साधक एक वर्षतक नित्य बारह हजारके हिसाबसे 'ॐ' का जप करता है, उसको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। श्रीकृष्ण भगवान्‌का भी कथन है कि 'यदि ब्रह्मको ज्ञानचक्षुसे देखने-की इच्छा हो तो ध्यान करो, सांख्ययोग साधो या निष्काम कर्मयोगका साधन करो।'

ईश्वरके अस्तित्वमें संदेह करनेवाले नास्तिकोंसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि वे किसी योगाभ्यासी धुरन्धर महात्माके पास जाकर कम-से-कम एक वर्षतक भी योगाभ्यास करें। सच्चे साधनोंसे अवश्य ही सफलता मिलेगी। ज्ञानचक्षुसे ईश्वरका दर्शन हो जायगा। याज्ञवल्क्य-संहितामें लिखा है कि 'योगात् संजायते ज्ञानम्'—योगसे ही ईश्वरका ज्ञान होता है। अतः जिसने योगाभ्यास नहीं किया, उसको ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ कहनेका अधिकार ही नहीं है। जिस तरह

जन्मान्धको सूर्यका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार नास्तिकको केवल उसकी मूर्खतासे ईश्वर नहीं दिखायी देता।

मुझको ईश्वरमें अटल विश्वास कबसे और कैसे हुआ, इसकी कथा सुनिये---

मैं पहले सी० पी० (मध्यप्रान्त) के एक छोटे-से गाँवमें रहता था। बाल्यावस्थासे ही मुझको ईश्वरसे प्रेम था, अतएव साक्षर होनेके बादसे नित्य ही मैं श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ करके भोजन करता था। जब मेरी अवस्था सोलह वर्षकी हुई, एक रातको मैंने स्वप्न देखा कि एक तेजस्वी वृद्ध महात्मा तपस्वी-वेषमें मेरे सामने खड़े हैं और मुझसे कह रहे हैं कि 'जिनके नामोंका तू नित्य पाठ करता है, वह विष्णु मैं ही हूँ। मैं सदा अपने भक्तोंकी रक्षा करता हूँ। आज अभी दो घंटेके बाद तुम्हारे गाँवमें आग लगेगी। तुम जल्दीसे अपना माल-असबाब एक बैलगाड़ीपर लाद लो और गाँवके बाहर चले जाओ।' इतनेमें मेरी नींद टूट गयी। ऐसी बातोंपर पहलेसे विश्वास था ही, अतएव मुझको बड़ी प्रसन्नता हुई कि प्रभुने दर्शन देकर विपत्तिसे बचा लिया। मैंने झटपट अपना माल-असबाब बैलगाड़ीपर लादा तथा गाँवके बाहर ले गया। इस बातको मैंने गाँवके अन्य भाइयोंसे भी कहा, परंतु किसीने मेरी नहीं सुनी। थोड़ी देर बाद सचमुच धाँय-धाँय करके गाँव जल उठा। आगकी लपटें आकाशको छूने लगीं। हाहाकार मच गया! आग बुझानेका बहुत प्रयत्न हुआ, लेकिन हवाके जोरसे सब व्यर्थ रहा। उस समय मेरी आँखोंमें आँसू थे, परंतु भगवान्‌की कृपाका स्मरण करके मैं फूले भी न समाता था।

स्वामीजी श्रीकेशवानन्दजी अवधूत

१—पिताको क्यों मानना चाहिये ? यदि पिताको हम नहीं मानेंगे तो वर्णसंकर कहे जायँगे। जो पिताकी रुचि देखकर वेदविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, वह सुपूत है और जो पिताके कहनेसे कार्यमें प्रवृत्त होता है, वह पूत है। भगवान् रामचन्द्रजी सुपूत हैं और नचिकेता पूत हैं और जो पिताकी आज्ञाको भी नहीं मानते वे कुपूत हैं, जैसे राजा ययातिके पुत्र।

अव्याकृत माया जिसके अधीन है, जो शुद्ध सत्त्व-गुणवाला, सबका ज्ञाता और अन्तर्यामी है, जो प्रपञ्चकी वासना एवं संस्कारोंका आश्रय अर्थात् प्रेरणा करनेवाला है, जो सम्पूर्ण जगत्का उपादान और निमित्त-कारण है, जो हिरण्यगर्भ और विराट्का भी कारण है तथा व्यष्टि-समष्टि सबका अन्तर्यामी है, ऐसे प्रकाशस्वरूप सबके पिता, सबके प्रेरक, अन्तर्यामी ईश्वरको क्यों नहीं मानना चाहिये ? वृक्ष, पत्थर, पृथ्वी, लता—सबमें उसी एक ईश्वरकी ज्योति झलमला रही है, ऐसे ईश्वरको क्यों नहीं मानना चाहिये ? जो ऐसे ईश्वरको नहीं मानते, वे वर्णसंकर हैं।

२—ईश्वरको न माननेवालेका जन्म लेना वृथा है, उससे पृथ्वीका भार बढ़ता है, उसको प्रत्यवायकी प्राप्ति होती है। जो पिताको न मानेगा, पिताकी आज्ञाको न मानेगा, वह (एक प्रकारसे) वर्णसंकर कहलायेगा। ईश्वर सबका पिता है, वीर्यरूप भी वही है, जीवनरूप भी वही है। जिसके अधीन जीवन है, उसको न मानकर

सुखकी इच्छा करना वृथा है, क्योंकि सुखका कारण (उद्गमस्थान) तो ईश्वर ही है। शास्त्रमें भी कहा है—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
महद्भयपरित्राणं विप्राणामुपजायते॥

सगुण-निर्गुण दोनों रूप ईश्वरके ही हैं, ईश्वरके बिना 'मैं' और 'तू' कोई नहीं है। नाम-रूप मिथ्या हैं। अस्ति, भाति, प्रिय ईश्वरका स्वरूप है। वह सच्चिदानन्द ईश्वर ही सत्य है, नाम-रूप जंजाल हैं। जो नाम-रूपमें फँसे हुए हैं, उनको सुख कहाँ है?

३—वेद स्वतः प्रमाण हैं, इसलिये ईश्वर स्वतः सिद्ध प्रमाण है, और सब परतः प्रमाण हैं, ईश्वरके अस्तित्वके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही क्या है? १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान (शब्द), ३ उपमान, ४ अर्थापत्ति, ५ अनुपलब्धि—ये सब स्थूल वस्तुको ही प्रमाणित करते हैं। ईश्वर अव्याकृत है। शुद्ध सत्त्वगुण ही प्रमाण है, वह निर्विकार है। ईश्वर अपने स्वरूपको कभी विस्मृत नहीं हुआ, इसलिये उसके लिये प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। वैसे तो वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि सब शास्त्र ईश्वरका ही प्रतिपादन करते हैं।

४—चक्रवर्ती राजा है, यौवन दृढ़ है, सब विद्याओंसे पूर्ण है, शत्रुओंसे रहित है, सब उससे भयभीत होते हैं, सुन्दरी स्त्रियाँ उसके पीछे खड़ी होकर चँवर डुला रही हैं, देह नीरोग है, पुष्ट और स्थूल शरीर है, यह पुरुष-सुख है। इससे सौगुना सुख मानव-गन्धर्वको है, उससे सौगुना सुख देव-गन्धर्वको है, उससे सौगुना सुख अजान-देवको है, उससे सौगुना सुख कर्मदेवको है, उससे सौगुना सुख मुख्य देवोंको है—११ रुद्र, १२ सूर्य, ८ वसु—ये मुख्य देव

हैं—इनसे सौगुना सुख इन्द्रको है, इन्द्रसे सौगुना सुख बृहस्पतिको है, बृहस्पतिसे सौगुना सुख प्रजापतिको है, प्रजापतिसे सौगुना सुख हिरण्यगर्भको है, हिरण्यगर्भसे अनन्तगुना सुख ब्रह्मवेत्ताको है। ऐसा सुख जिन्होंने निष्काम कर्मके द्वारा अपने स्वरूपकी प्राप्ति की है, उनको प्राप्त है। वे स्फुरणारहित वृत्तिमें खेल रहे हैं; क्योंकि बुद्धिका कारण हिरण्यगर्भ है और हिरण्यगर्भ भी त्रिगुणोंके अंदर है, किंतु जो ईश्वरको प्राप्त हो गया है, वह तो गुणातीत है। वहाँ निर्गुण-सगुणका भेद नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता अपने सुखकी महिमा अपने मुखसे वर्णन नहीं कर सकता; क्योंकि उस सुखकी महिमा अकथनीय और उससे अभिन्न है।

मैंने अपने जीवनमें बहुत कुछ अनुभव किये हैं। सर्प भी मेरे हाथोंपर खेले हैं, भालू, शेर आदि हिंसक जन्तु भी मेरे समीप बैठे हैं। एक बार मैं तीन दिनतक जलके अंदर पड़ा रहा, वहाँ भी अपने पिताकी गोदमें खेलते हुए मुझको कोई भय नहीं हुआ। जोशी-मठमें एक गुफाके अंदर दिनके १२ बजे श्रीशङ्कराचार्यजीने मुझे दर्शन दिये थे। झाड़ियोंमें श्यामरूपके दर्शन हुए थे, अब तो उनकी कृपासे मैं केवल उन्हींके नूरको सब समय सब जगह देखता हूँ। वास्तवमें इस विषयमें कहना-सुनना कुछ भी नहीं बनता।

यदि देव-पूजा नहीं करोगे, ठाकुरद्वारे, महात्माओंके पास तथा तीर्थोंमें नहीं जाओगे तो चरण और देह पवित्र कैसे होंगे? एक गङ्गाजी, दूसरे अवतारोंकी कथा, तीसरा साधु-सङ्ग—ये तीनों संसारके जीवोंको तारनेके लिये हैं। जो इनका सेवन नहीं करते, वे मनुष्य अधम हैं। जो श्रीराम-कृष्ण आदि अवतारोंकी निन्दा

करते हैं, वे वर्णसंकर हैं। एक रोमकी भी निन्दा नहीं की जा सकती। कौन-सा ऐसा रोम है, जिसमें वे पूर्ण नहीं हैं? क्या बनकर किसकी निन्दा करते हो? उस ब्रह्मसे भिन्न अपना रूप तो हमें बताओ? परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु हो, तब तो निन्दा की जा सके। वह तो रोम-रोममें भरा हुआ है। कारण-कार्य सब वही है। जो उसको नहीं जानते, वे ही निन्दा करते हैं। अपने पेटके लिये जो श्रुति-स्मृतिका उल्टा अर्थ करते हैं, वे शठ कहलाते हैं। उनका न भला होगा और न इस लोक तथा परलोकमें उन्हें सुख ही मिलेगा। उनकी युग-युगान्तरोंमें दुर्गति ही होगी। वे लोग भविष्यको नहीं विचारते। बुद्धिमान् वही है, जो पहले कर्मका फल विचारे और फिर उसमें प्रवृत्त हो। जो ईश्वर-शरणमें आ पड़ते हैं, वे जन्म-मरणके दुःखमें कभी नहीं पड़ते। जो ईश्वर-शरणमें आते हैं, वे मूलसे सब दुःख गँवा देते हैं। जो अहंता-ममताको छोड़ ईश्वर-शरणमें आते हैं, वे अपने स्वामीको हृदयमें पाते हैं, द्वैत-कल्पनाका मूल गँवाते हैं, एक ही अखण्ड नजर पाते हैं, सत्यमें सत्यरूप मिलाते हैं, फिर गर्भमें नहीं आते हैं। जो ईश्वरके गुण गाते हैं, वे हरदम अखण्ड सुख पाते हैं, वे ईश्वररूप हो जाते हैं। जो सुखकी महिमा गाते हैं, वे दुःखमें कभी नहीं आते हैं। अन्तर-बाहर आप समाना, सत्त पुरुष पूरण परमाना। सब बस्ती सब ठौरमें, एकहि ब्रह्म पिछाना। अन्तर बाहिर आप समाया, सब जगत जिन आप उपाया। जन्म-मरणका फिर मूल न थाया, ऐसा ईश्वर जिसने हृदयमें गाया, संकट कटे परम पद पाया।

स्वामी श्रीहरिबाबाजी महाराज

चारों प्रश्नोंको पूछनेपर आप बोले—

मैं तो क्या कहूँ ? मुझे तो न किसी प्रकारका अनुभव है, न कोई ऐसी विशेष बात है। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि भक्तजन मुझपर प्रेम करते हैं, मुझे अपना मानते हैं। इसे ही मैं भगवत्की अपने ऊपर बड़ी कृपा मानता हूँ।

भगवान्के सम्बन्धकी बात तो क्या कहूँ। साधु-संन्यासियोंमें कहीं-कहीं वह बात नहीं मिलती, जो छोटे-छोटे बालकोंमें मिल जाती है। भगवद्-सम्बन्धी बात इन बालकोंसे पूछो (दैवयोगसे उसी समय

कहींसे चार-पाँच बालक भी वहाँ आ गये)। श्रीस्वामीजीने उनसे पंजाबी (भाषा) में कहा, 'बालको ! भगवान्‌को तुमलोग जानते हो तो कहो।' कई बार पूछनेपर और तो सब चुप रहे, परंतु उनमेंसे एक बच्चा बोला, 'परमेश्वर सब जगह है।' स्वामीजी बोले, 'सब जगह है, तुमने लोगोंसे सुना है या देखा भी है ?' इसपर सब बालक कुछ चुप-से ही रहे। तब स्वामीजी महाराजने एक गुरुका उदाहरण देते हुए कहा कि 'दो शिष्य थे, उनसे गुरुजीने भगवान्‌का—ईश्वरका स्वरूप पूछा, एकने अनेक शास्त्रसम्मत बातें बतायीं, उसके रूपका विविध प्रकारसे वर्णन किया, दूसरेसे पूछा गया तो वह कुछ भी नहीं बोला, केवल चुप रहा।'

ईश्वरको जो देखता है, वह कुछ कह नहीं सकता। उसके लिये जब कुछ कहना होता है, तब उससे नीचेकी स्थितिमें उतरकर ही कहना होता है। ईश्वरका सच्चा वर्णन मौन है, ईश्वरको यदि देखनेकी इच्छा हो तो जाकर भगवान्‌के भक्तोंके दर्शन करो। वही ईश्वरका रूप है। संसारके उदाहरणसे ईश्वरको क्या सिद्ध करना है। भगवान्‌के भक्तोंके पास जानेसे स्वाभाविक ही सुख और शान्तिका अनुभव होता है। संसारके पाप-ताप नष्ट होते हैं। यही उसका प्रत्यक्ष रूप है, इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।

(पुनः प्रार्थना करनेपर निम्नलिखित पत्र आपने भेजा।)

ॐ श्रीहरिः श्रीगुरवे नमः।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

महान् पुरुषोंका सङ्ग और सामीप्य ही श्रीभगवान्‌की सत्ता और उनके आनन्दको प्रत्यक्ष दिखलाते हैं। पूज्यपाद श्रीगुरुदेवकी समीपतामें बिना किसी साधन या प्रयत्नके ही मुझे श्रीभगवान्‌की स्फूर्ति प्रायः निरन्तर रहती थी और यदि कभी स्वप्नमें भी संकट या भय होता तो अपने-आप उसी अवस्थामें श्रीभगवान्‌द्वारा वह हट जाता था। श्रीगुरुदेवके वाक्यामृत इस समय स्मरण आते हैं। अकबरने बीरबलसे पूछा—

१—तुम्हारा खुदा कहाँ रहता है? २—क्या करता है? ३—क्या खाता है और ४—संकल्पद्वारा ही सब कुछ करनेमें समर्थ होनेपर भी अवतार क्यों धारण करता है? बीरबलने तीन प्रश्नोंका उत्तर दिया—

१—रहता तो सर्वत्र ही है, पर प्रत्यक्ष प्रकट संतोंके हृदयमें होता है। यदि मिलना चाहो तो वहीं मिलेगा।

२—काजियोंको पाजी और पाजियोंको काजी (अनवच्छिन्न परिवर्तन)।

३—जीवाभिमान।

चौथे प्रश्नके उत्तरके लिये बीरबलने कुछ मुहलत माँगी और इसी बीचमें अकबरके छोटे शाहजादेके समान एक नकली बालक बनवाया जो ठीक वैसा ही दीख पड़ता था। बच्चेको खेलानेवाली दासीको समझा दिया कि 'जब आज सायंकाल बादशाह बाहरसे आकर जलाशयके पास बैठें और तुम्हें पुकारकर बच्चा माँगें, तब असली बच्चेको दूसरेके पास छिपाकर नकली बच्चा देते समय पाँव फिसल

जानेका बहाना करके गिर पड़ना और साथ ही नकली बच्चेको जलाशयमें गिरा देना।' शामको अकबरके बाहरसे आकर बैठने और बच्चेके लिये पुकारनेपर दासीने वैसा ही किया। बच्चेको पानीमें गिरते देख बादशाह घबराकर स्वयं जलमें कूदनेको तैयार हो गये, इतनेमें ही बीरबलने झट् असली बच्चा लाकर कहा, 'सरकार! घबराइये नहीं, शाहजादा तो यह मौजूद है।' अकबरको बीरबलकी ऐसी चेष्टापर क्रोध आया और उसने बीरबलको दण्डका हुक्म दिया। बीरबलने कहा, 'हजूर, मैंने तो आपके प्रश्नका उत्तर दिया है। हम आपके सैकड़ों नौकर-चाकर मौजूद थे, जो आपकी आज्ञापर प्राणतक देनेको तैयार थे, तो भी बच्चेपर आपका इतना स्नेह था कि आप स्वयं जलमें कूदनेको विवश हो गये। इसी प्रकार संकल्पमात्रसे ही सब कुछ करनेमें समर्थ होनेपर भी श्रीभगवान्को अपने भक्त इतने प्यारे हैं कि वे उनके लिये प्रेमविवश होकर स्वयं प्रकट होते हैं।'

(क) श्रीश्रीगुरुदेवको श्रीवृन्दावनमें प्रकट दर्शन

श्रीमहाराजजी (श्रीगुरुदेव) को यह जानकर कि अब भी श्रीवृन्दावनके श्रीसेवा-कुञ्जमें श्रीश्यामसुन्दर पूर्ववत् लीला करते हैं, दर्शनकी बड़ी इच्छा हुई। श्रीसेवाकुञ्जमें रातको कोई रहने नहीं पाता, इसलिये श्रीमहाराजजी आधी रातके समय जाकर कुञ्जकी दीवारपर चढ़कर बैठ जाते और भगवत्-स्मरण करते रहते, फिर चार बजेके करीब उतरकर आ जाते। इसी प्रकार करते-करते जितने दिनोंका मनमें संकल्प किया था, उनमें केवल एक ही दिन शेष रह गया, पर दर्शन नहीं हुए। अन्तकी रात्रि आ गयी। मन आशा

और निराशा दोनोंसे भरा था कि अकस्मात् सामने रासमण्डल प्रकट हुआ। एक सखीने कहा, 'यहाँ तो कोई मनुष्य है।' श्रीश्यामसुन्दर बोले, 'नहीं वह तो मेरे परम भक्त हैं।' रास आरम्भ हुआ, चारों ओर प्रेमानन्द छा गया। उस परमोत्कृष्ट रसको पानकर श्रीमहाराजजी प्रेमानन्दमें निमग्न हो गये, इतनेमें श्रीश्यामसुन्दरने आकर श्रीमहाराजजीके कंधेपर अपना करकमल रक्खा और कहा, 'मैं प्रसन्न हूँ, वर मागो।' श्रीमहाराजजीने कहा, 'आपके दर्शनसे परे और क्या है? बस, ऐसा ही आपके चरणोंमें प्रेम बना रहे।' श्रीश्यामसुन्दर 'तथास्तु' कहकर मण्डलसहित अन्तर्धान हो गये। श्रीमहाराजजी भी मस्तीमें झूमते-झूमते वहाँसे आ गये। श्रीमहाराजजीके मुखारविन्दसे जीवनभरमें एक बार एकान्तमें यह प्रसंग सुना था। सुनाते समय श्रीमहाराजजीके रोम-रोमसे दिव्यानन्द प्रकट हो रहा था और वही स्मृति मेरे जीवनका साधन है और साधन रहेगी।

(ख) 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'

श्रीमहाराजजी विद्याध्ययन-काल (संन्यस्त अवस्था) में श्रीकाशीजीमें निवास करते थे। एक बार अनध्यायमें एक दूसरे वृद्ध ब्राह्मण पण्डितजीके साथ वे बाहर वनभ्रमण और एकान्तसेवनको गये। वे सर्वत्र आनन्दपूर्वक प्रत्यक्ष श्रीभगवान्‌के प्रकाशका अनुभव करते और घूमते-घूमते दोपहरको जंगलमें एक टूटे हुए मन्दिरपर पहुँचे। धूप अधिक थी, विश्रामके निमित्त वहीं बैठ गये। दोनोंको भूख भी खूब लग गयी थी, परंतु भिक्षाके निमित्त पास कोई बस्ती नहीं। पण्डितजी बोले, 'अब क्या किया जाय?' श्रीमहाराजजीने

कहा, 'गोविन्द-भजन करो, स्मर्तव्यः सदा विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।' इतनेमें ही एक विलक्षण पुरुष वनमें आया, उसके हाथमें एक दोना, जिसमें पाँच पेड़े थे, श्रीमहाराजजीके सामने प्रसाद रख प्रणाम कर वह चला गया । कुछ बात-चीत नहीं हुई । पण्डित-जीने पूछा, 'कोई आपका भक्त था क्या ?' श्रीमहाराजजीने मुसकराकर कहा, 'हाँ, भक्त ही था (क्योंकि चिरकालसे भक्तोंके सच्चे भक्त श्रीभगवान् ही हैं) ।' अब महाराजजी पण्डितजीसे और पण्डितजी महाराजजीसे आग्रह करने लगे कि 'इससे जलपान कर लें, आपको बहुत भूख लगी है ।' एक दूसरेको ऐसा कहते, पर संकोचवश उन पेड़ोंको ग्रहण कोई न करते । इतनेमें मन्दिरकी छतपरसे उसी पुरुषकी आवाज आयी कि 'संकोच मत करो, दोनों ग्रहण करो ।' आश्चर्य और आनन्दके साथ दोनोंने एक-एक करके पेड़ा उठाना आरम्भ किया । दोनों रुचिपूर्वक पेड़े खाते जायँ, पर दोनेमें वही पाँच-के-पाँच । दोनोंने पेटभर प्रसाद पाया, पर दोनेके पाँच पेड़े बच ही रहे (अनन्त श्रीभगवान्के सम्बन्धका सभी कुछ अनन्त है) । श्रीभगवत्-लीलाको देखकर दोनों आनन्द-उत्साहसे भर गये । सायंकाल काशीजी आकर सबको उसमेंसे प्रसाद दिया । फिर भी दोनेके पेड़े पाँच-के-पाँच । तब श्रीमहाराजजीने उस दोनेको प्रसाद-सहित श्रीभागीरथीजीके अर्पण कर दिया ।

ऐसी श्रीमहाराजजीके सम्बन्धकी बीसियों अलौकिक घटनाएँ स्मरण आ रही हैं, संकोचवश लिखनेका साहस नहीं । हरिः ॐ ।

श्रीजयदयालजी गोयन्दका

ईश्वरके विषयमें जो प्रश्न किये गये हैं, उनको सुनकर मुझको आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि यह विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है। आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिये कि जो ईश्वरको मानते हुए भी नहीं मानते। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दघन है। इस प्रकार वे ईश्वरके स्वरूपको बतलाते हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे पुरुषोंका मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्योंकी मूर्खताका यह फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें संदेह किया जाता है। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा वचनमात्रसे ईश्वरके माननेवालोंको उत्तम समझता हुआ भी मैं उनकी निन्दा इसलिये करता हूँ कि ऐसे अश्रद्धालु मनुष्य ही अनीश्वरवादके प्रचारमें एक प्रधान कारण हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है; क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है, उसके आचरण परमेश्वरकी मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते,

प्रत्युत उसीके आचरण प्रमाणभूत और आदरणीय होते हैं। भगवान् कहते हैं—

> यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
> स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
>
> (गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उसीके अनुसार वर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं।' ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं, मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ। यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि ~~[illegible]~~ पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके सङ्ग और अपने विचारसे उत्पन्न हुए भावोंका कुछ अंश अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार उनकी सेवामें रखता हूँ। सज्जनगण मुझे बालक समझकर मेरी त्रुटियोंको क्षमा करेंगे। ईश्वरका विषय बड़ा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी मोहित हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है।

१—(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानना कर्तव्य है और कर्तव्य पालन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

(ख) ईश्वरको बिना माने उसके तत्त्वकी खोज नहीं हो सकती और उसकी खोज हुए बिना उसके तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता और ईश्वर-ज्ञानके बिना कल्याण होना सम्भव नहीं।

(ग) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(घ) अच्छी प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं। झूठे ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(ङ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे जय होती आयी है। ध्रुव-प्रह्लादादि-जैसे अनेकों ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है।

(च) सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है; क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे अनन्त लाभ है।

२—(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृङ्खलता बढ़ती है। उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसादि पाप-कर्मोंकी

एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है, जिसके परिणाममें वह और अधिक दुखी बन जाता है।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके विना आत्माका कल्याण नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतघ्नताका दोष आ जाता है; क्योंकि जो पुरुष सर्व संसारके उत्पन्न तथा पालन करनेवाले सबके सुहृद् उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वे यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको न मानें तो क्या आश्चर्य है? और जन्मसे उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न है।

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है। संसारमें जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

इसी प्रकार ईश्वरको न माननेमें अन्य अनेकों महान् हानियाँ हैं, पर विस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखा गया।

३—ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आश्चर्यजनक बात या बुद्धिमत्ता नहीं है। इस विषयमें प्रश्न करना साधारण है। स्थूलबुद्धिसे न समझमें आनेवाले विषयमें समझदार पुरुषको भी शङ्का हो जाती है, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? परंतु

विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतःप्रमाण है और जिस परमात्मासे ही सबका प्रमाण सिद्ध होता है, उसके विषयमें प्रमाण पूछना एक प्रकारका बालकपन है, जैसे किसी मनुष्यका अपने ही सम्बन्धमें शङ्का करना कि 'मैं हूँ या नहीं' व्यर्थ है, वैसे ही ईश्वरके विषयमें पूछना भी है । यदि कहो कि मैं तो प्रत्यक्ष हूँ, ईश्वर तो ऐसा नहीं है । यह कहा जा सकता है, परंतु असल बात तो यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष है । कोई पूछे कि 'हमसे बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे ?' इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पदार्थ और शरीर जाग्रत-अवस्थामें नहीं रहते, इसी बातको लेकर यह शङ्का हो सकती है कि यह जाग्रत्-अवस्थामें दीखनेवाले पदार्थ और शरीर भी किसीका स्वप्न हो; क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत्-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, परंतु जिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आधार और अधिष्ठान है, उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्वकी अपेक्षा बहुत विशेष है, पर इस प्रकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है कि जिनकी महिमा सब शास्त्र गाते हैं । जो सूक्ष्मदर्शी हैं, वे ही सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं । इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं । जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी इच्छा हो, वे भी श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके

लिये प्रयत्न करनेसे परमात्माको प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्तिप्रमाण भी हैं। कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्तिप्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका संचालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका संचालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है, उसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहो, 'बिना कर्ताके प्रकृतिसे ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं, इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे—वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं, ठीक है, किंतु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी? यदि वृक्षकी कहो तो वृक्ष कहाँसे आया और बीजकी कहो तो बीज कहाँसे आया? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहो तो किसके द्वारा किससे हुई? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिससे और जिसके द्वारा बीज, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है, वही परमात्मा है।

दूसरा प्रश्न होता है कि यह प्रकृति जड है या चेतन। यदि जड कहो तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और संचालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन कहो तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं, क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिनके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी

सत्ता विना इस संसारका संचालन भी नियमानुसार नहीं हो सकता। विना यन्त्रीके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी संचालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका संचालन हो, विना संचालकके वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, अतएव जिससे इस संसारका नियमानुसार संचालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमात्माके विना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है, यदि कहो 'कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है, तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि कर्म जड होनेके कारण उनमें क्रियाओंके अनुसार फल-विभाग करनेकी शक्ति नहीं है और चेतन जीव बुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। चोर चोरी करता है और चोरीके अनुसार राजा उसे दण्ड देता है, परंतु न तो वह चोर जेलखानेमें स्वयं जाता है और न वह चोरीरूप कर्म ही उसे जेल पहुँचा सकता है। राजाकी आज्ञासे नियत किये हुए अधिकारी लोग ही चोरीके अपराधके अनुसार उसे जेलका दण्ड देते हैं, इसी प्रकार पापकर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पाप-कर्मोंका दुःखरूप दण्ड देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए सुकृत कर्मोंका फलरूप सुख भोगनेमें भी असमर्थ है। जैसे कोई राजाके कानूनके अनुसार चलनेवाले व्यक्तिको राजा या उसके नियत किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकार सुकृत या सत्कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उनके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है। अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण

जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ताके नहीं हो सकती।

ऊपरके विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न संचालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मफलका यथायोग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्रयोजन सृष्टि हो सकती है।

उपर्युक्त प्रमाण तो तर्कानुकूल दिये गये हैं, वस्तुतः ईश्वर 'स्वतःप्रमाण' प्रसिद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण हैं। सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं।

यजुर्वेद—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

'इस जगत्में जो कुछ भी है, वह सब-का-सब ईश्वरसे ही व्याप्त है।'

ब्रह्मसूत्र—

'जन्माद्यस्य यतः', 'शास्त्रयोनित्वात्।'

'जिससे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेसे अर्थात् जो शास्त्रका उत्पादक है तथा शास्त्रद्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।'

गीता—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥
(१५।१५)

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८।६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सबके हृदयमें स्थित है।'

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(१३।१७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेयोग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है ।'

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(१५ । १७)

'उन (क्षर, अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है ।'

योगदर्शन—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।
(समाधिपाद २४—२६)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरणभय)—इन पाँच क्लेशोंसे, पाप-पुण्य आदि कर्मोंसे, सुख-दुःखादि भोगोंसे और सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित पुरुषविशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है । उस परमेश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञता है । वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिक्षक है तथा कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता ।'

उपनिषद्—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व ।
(तैत्तिरीय० ३ । १)

'जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीते हैं, नाश होकर जिसमें लीन होते हैं, उसको तू जान, वह ब्रह्म है ।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेताश्वतर उ० ६ । ११)

'एक ही देव (परमात्मा) सब भूतोंके अन्तस्तलमें विराजमान है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है । वही कर्मोंका अध्यक्ष, सब भूतोंका निवासस्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है ।'

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

(४ । ७ । ५०-५१)

'हे ब्राह्मण ! मैं ही ब्रह्मा हूँ, शिव हूँ और जगत्का परम कारण हूँ । मैं ही आत्मा और ईश्वर हूँ, अन्तर्यामी हूँ, स्वयं द्रष्टा हूँ तथा निर्गुण हूँ । मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता हूँ ।'

महाभारत—अनुशासनपर्वके १४९ वें अध्यायमें कहा है—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद् भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद् ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥१०॥

'उस अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्यक्षकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको लाँघ जाता है।' 'जो परम ब्रह्मण्य, सब धर्मोंको जाननेवाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेवाले महान् भूत हैं।' 'जो तेजके परम और महान् पुञ्ज हैं, जो बड़े-से-बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और आश्रयके परमधाम हैं।' 'जो पवित्र है, जो मङ्गलोंका मङ्गलरूप है, जो देवताओंका परम देवता है और जो प्राणिमात्रका अविनाशी पिता है।'

वाल्मीकीय रामायण—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव ।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥

(युद्धकाण्ड ११७ । ६-१५)

ब्रह्मा कहते हैं—'हे देव ! आप समस्त लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं । आप ही सब लोकोंके आदि, मध्य, अन्तमें विराजित

अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परम-धर्म विष्वक्सेन चतुर्भुज हरि हैं ।'

जैन, बौद्ध और चार्वाक आदि कतिपय मतोंको छोड़कर ऐसा कोई भी वेद-शास्त्र नहीं है, जिसमें ईश्वरका प्रतिपादन न किया गया हो। यहाँतक कि मुसलमान, ईसाई आदि भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। यथा—

कुरान—पूर्व और पश्चिम सब खुदाके ही हैं। तुम जिधर भी अपना मुँह घुमाओगे, उधर ही खुदाका मुख रहेगा। खुदा वास्तवमें अत्यन्त ही उदार है, सर्वशक्तिमान् है।

ईसाने कहा है—जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा जो भगवान्‌की शक्तिका आश्रित है, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।

४—मनुष्य यदि विचारदृष्टिसे देखे तो उसे न्यायकारी और परम दयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदपर परिचय मिलता है। प्राचीन और अर्वाचीन बहुत-से महात्माओंकी जीवनियोंमें इस प्रकारकी घटनाओंके अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं। मैं अपने सम्बन्धमें इस विषयपर क्या लिखूँ? अवश्य ही मैं यह विनय कर सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उसके फलस्वरूप होनेवाली महात्माओंकी जीवन-घटनाओंपर विश्वास करनेसे अवश्य लाभ होता है।

महामहोपाध्याय डा० पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

सम्पादक महोदयने व्यक्तिगत भावसे चार प्रश्न उत्तरके लिये मेरे पास भेजे हैं; परंतु मैं इन्हें व्यक्तिगतरूपमें न लेकर कुछ अंशोंमें व्यापकरूपमें ही ग्रहण करता हूँ। यद्यपि ये प्रश्न सम्पादक-की ओरसे ही आये हैं, तथापि वस्तुतः ये किसी आध्यात्मिक तत्त्व-जिज्ञासुके ही स्वाभाविक प्रश्न हैं। अतः इनका उत्तर व्यक्तिगतरूपसे देना समीचीन नहीं मालूम होता। इसके दो विशेष कारण भी हैं—

(क) यदि ये प्रश्न केवल व्यक्तिविशेषके प्रश्न होते, अर्थात् यदि वे जिज्ञासु होकर प्रतिनिधिरूपसे प्रश्न न उठाते तो मेरा उत्तर भी ठीक-ठीक व्यक्तिगत होता, क्योंकि इन प्रश्नोंके किसी-किसी अंशका उत्तर देते समय अपने जीवनकी कुछ ऐसी आभ्यन्तरीय और बाह्य घटनाओंका उल्लेख करना आवश्यक है, जो अन्तरङ्गरूपसे व्यक्तिविशेषके प्रति ही किया जा सकता है। पर जिसका प्रकाश्यरूपमें, लोक-समाजमें कोई भी अनुभवी व्यक्ति उल्लेख करना नहीं चाहेगा।

(ख) साधन-जगत्का जो निगूढ़ रहस्य है, जिसकी प्राप्तिके लिये दीर्घकालतक सत्यस्वरूप सद्गुरुकी कृपाका अवलम्बनकर तीव्र पुरुषार्थका प्रयोग करना पड़ता है, तार्किक-प्रकृति-विशिष्ट तथा

साधनहीन पुरुषोंके सामने उस रहस्यकी आलोचना करना उचित नहीं है। वहाँ इस आलोचनाका यथार्थ फल उत्पन्न नहीं हो सकता।

इन्हीं दो बातोंको सामने रखकर मैं यथासम्भव संक्षेपमें अथच विशदरूपमें इन चारों प्रश्नोंकी आलोचना करनेमें प्रवृत्त होता हूँ।

(१)

पहला प्रश्न यह है कि—'हम ईश्वरमें विश्वास क्यों करें ?' इसका उत्तर देनेके पूर्व मेरा कहना है कि जिन सब वस्तुओंकी सत्ता तथा क्रियाको हम अनेकों कारणोंसे लौकिक दृष्टिसे स्वीकार करनेके लिये बाध्य होते हैं, उनके विषयमें हमारे हृदयमें विश्वासकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यहाँ 'विश्वास' शब्दसे प्रश्नकर्ताका क्या उद्देश्य है, यह वही जानें; परंतु यह निश्चित है कि जिसे विश्वास कहा जाता है उसकी दो विशेष अवस्थाएँ हैं। इन्हीं दोनों अवस्थाओंका विश्लेषण करनेसे ही विश्वासके कारणके सम्बन्धकी धारणा बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगी। आप्त पुरुषोंके मुखसे कोई बात सुनकर एवं उसके विचार करनेकी शक्ति न रहनेपर अथवा उसके सम्बन्धमें कोई प्रवृत्ति न होनेपर, वह आप्त-वाक्य सत्य है, ऐसी धारणा स्वभावतः ही मनमें उत्पन्न होती है। बाल्यकालमें जब बूढ़ी दादी या दादाजीके मुखसे अनोखी-अनोखी कहानियाँ सुनता था, जब हृदय सरल था तथा सांसारिक संस्कार विशेषरूपसे चित्तमें संचित नहीं हुए थे; उस समय कल्पनाके बलसे मनश्चक्षुके सामने उन सारी कहानियोंमें वर्णन किये हुए दृश्य मानो जीवितरूपमें आँखोंके सामने आ जाते थे। उस समय लौकिक ज्ञान तथा युक्तिका विकास वैसा न होनेके कारण सम्भव या असम्भवका निर्णय नहीं

कर पाता था । फलतः कोई भी बात मनमें असम्भव नहीं जान पड़ती थी । जब दादी कहती—अमुक वृक्षपर भूत रहता है, उसे सुनकर सचमुच ही संध्याके समय अथवा शून्य रात्रिमें उस स्थानके पास होकर जानेमें शरीर काँप उठता था; भूत है इस बातको सुनते ही सचमुच ही भूतकी सत्तामें विश्वास उत्पन्न हो जाता, युक्तिकी आवश्यकता अपेक्षित न होती और न मनमें वैसी प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती । बहुतेरे इसे अन्धविश्वासके नामसे पुकारेंगे; परंतु मेरा कथन यह है कि उपर्युक्त दोनों दृष्टान्तोंसे यही बात समझमें आती है कि मनुष्यकी ऐसी एक अवस्था है, जब शब्द-श्रवण करते ही अर्थबोधके साथ-साथ शब्दके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें मनमें दृढ विश्वास उत्पन्न हो जाता है । यह विषय बहुत ही जटिल है; यहाँतक कि अन्तर्दृष्टिसम्पन्न मनस्तत्त्ववेत्ताओंको भी यह सहज ही हृदयङ्गम होनेका नहीं । तथापि सभी इस बातको भलीभाँति जानते हैं कि इसको समझनेमें किसीको कोई कष्ट नहीं होता । यह जो सरल और स्वच्छ हृदयकी बात कही गयी है, इसका उत्कर्ष किसी व्यक्तिविशेषमें इतना अधिक रह सकता है कि किसी विषयमें वाक्य-उच्चारणके साथ-ही-साथ उसके चित्तमें उसी विषयका दृश्यरूपमें तत्काल ही आविर्भाव हो जाता है । कृत्रिम नख-दर्पणादि-प्रक्रियामें, बालककी दृष्टिके सामने शुद्ध शब्द उच्चारण करके इच्छानुसार दृश्य या वस्तु प्रकाशित की जा सकती है; इसका भी मूल कारण यही है । वेदान्तके ग्रन्थोंकी आलोचना करनेपर देखा जाता है कि शास्त्रोंमें वाक्य या शब्दसे अपरोक्षज्ञान किस प्रकार उद्भूत हो सकता है ? इसके विषयमें अनेक प्रकारसे विचार किया

गया है । शब्द-माहात्म्यसे मनश्चक्षुके सामने शब्दबोध्य अर्थका किस प्रकार आविर्भाव होता है, यहाँ उसपर आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं । पाश्चात्त्य देशोंके विद्वानोंने उसपर यथेष्ट आलोचना की है, एवं हमारे शास्त्रोंमें भी उसकी अनेक रहस्यमयी बातोंका वर्णन हुआ है । सम्मोहन-क्रियामें चालकके शब्दके इशारेसे सम्मोहित व्यक्ति कैसे-कैसे अपूर्व दृश्य देखता है, इस बातको बहुत लोग जानते होंगे ।

इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि चित्तके कोमल तथा अपेक्षाकृत स्वच्छ होनेपर विश्वासका बीज सहज ही अंकुरित हो जाता है । इसी कारण बालक या स्त्रियाँ जितनी आसानीसे विश्वास कर सकती हैं, तर्ककुशल पुरुष उतनी आसानीसे नहीं कर सकता । यह अन्धविश्वास होनेपर भी इस प्रकारकी एक अवस्था है, इसमें संदेह नहीं ।

बाल्यावस्थामें गृहमें या समाजमें, आचारमें, उपदेशमें अथवा आलोचनामें एवं सज्जनोंके संसर्गवश कोमल हृदयमें इस प्रकारके ईश्वर-विश्वासका बीज-वपन हो सकता है । दूसरे देशोंके सम्बन्धमें आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं; परंतु हमारे देशमें प्राचीन कालमें शैशव-कालसे ही इस प्रकार चित्तमें साधारणतः ईश्वरका विश्वास बद्धमूल हो जाता था । पिता, माता एवं गुरुजनोंके हृदयकी वृत्तियोंका प्रभाव शिशुके चित्तपर कम नहीं पड़ता है ।

यदि कोई पूछे कि 'विश्वासका कारण क्या है ?' तो इसका उत्तर यही है कि चित्तकी बालकोचित कोमलता एवं स्वच्छताके ऊपर आप्तवाक्यका प्रभाव ही इस विश्वासका कारण है । यह

अन्धविश्वास होता है, इसमें संदेह नहीं; क्योंकि इस विश्वासके मूलमें स्वज्ञानकी उज्ज्वल दीप्ति नहीं होती। केवल यही बात नहीं, यह अज्ञानके प्रदोपालोकमें ही वृद्धि एवं पुष्टि प्राप्त करता है। ज्ञानके सम्यक् उदय होनेपर इस प्रकारका विश्वास यथार्थ सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित न होनेसे सदाके लिये समूल उखड़ जाता है। बेजड़ विश्वास युक्ति और तर्ककी भयानकताको देखकर भयभीत हो उठता है और सांसारिक द्वन्द्वके प्रभावसे निस्तेज होकर अव्यक्त (प्रकृति) के गर्भमें विलीन हो जाता है। जीवनके क्रमविकासकी प्रथमावस्थामें इसका उदय होनेपर भी यह पीछे वर्तमान नहीं रह सकता; परंतु सभी अन्धविश्वास बेजड़ नहीं होते,—यदि किसी ज्ञानी महापुरुषके वचनोंसे शिशुके हृदयमें विश्वासका बीज अंकुरित हो तो यह क्रमशः पुष्ट होकर पूर्ण बोधरूप परिणामको प्राप्त हो जाता है। यह विश्वास तत्काल शिशुके निज ज्ञानद्वारा प्रदीप्त न होनेपर भी वस्तुतः अज्ञानमूलक नहीं होता।

इस प्रकार शैशवसुलभ विश्वासका उत्कर्ष तथा उसकी महत्ता आप्तरूपमें विवेचित पुरुषके वाक्यकी यथार्थतापर ही निर्भर करती है। यदि किसी समय यह मालूम हो जाय कि जिसको आप्त समझा गया था, वह आप्त नहीं है तथा उसके वाक्य भी सत्य नहीं हैं, यदि किसी समय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदिकी सहायतासे इस प्रकारका ज्ञान उत्पन्न हो, तो इससे यह पूर्वकालीन विश्वास उखड़ जाता है। मनुष्यके शैशवके सम्बन्धमें जो बात है, मानव-जाति अथवा समाजकी प्रारम्भिक अवस्थाके सम्बन्धमें भी वही बात होती है।

सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित विश्वासमें अनेकों गुण हैं। युक्ति या तर्कके बिना ही इसकी प्रेरणासे कर्ममें सहज ही प्रवृत्ति हो जाती है। पश्चात् यथाविधि कर्मके द्वारा फलकी प्राप्ति होनेपर यह विश्वास दृढ़ और अचल रूप धारण करता है। अर्थात् सरल विश्वासके द्वारा उस समय संशयादिविहीन निश्चयात्मक ज्ञानका उदय होता है। तब कुतर्क अथवा नास्तिकोंके कठोर युक्तिजालसे इसकी तनिक भी हानि नहीं होती। इसी प्रकारके विश्वासके ऊपर मानव-जीवनकी अथवा मानव-समाजकी यथार्थ उन्नति निर्भर करती है; किंतु विश्वासके मूलमें यदि किसी मिथ्याका संस्रव हो तो इससे उसके द्वारा सत्य फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा इससे यथार्थ कर्मका भी विकास नहीं होता, इस प्रकारका विश्वास कुसंस्कारोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह युक्ति, विचार और सत्य दर्शनके प्रखर आलोकमें, सूर्यकी किरणोंके स्पर्श करनेपर मेघमालाओंके समान विलीन हो जाता है। जीवन-पथमें दीर्घकाल-तक यह मनुष्यके चित्तमें स्थान प्राप्त नहीं करता या नहीं कर सकता।

विश्वासके स्वरूप एवं उसकी अवस्थाका संक्षेपमें वर्णन किया गया। 'हम ईश्वरमें क्यों विश्वास करें?' यह प्रश्न प्राथमिक विश्वासके सम्बन्धमें उठ सकता है और उस चरम विश्वासके सम्बन्धमें भी उठ सकता है, जो कर्म करते-करते प्रत्यक्ष ज्ञानके उदय होनेपर हृदयमें प्रतिष्ठित होता है।

प्राथमिक विश्वास-सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर यही है कि शास्त्र, गुरुजन, अनुभूतिसम्पन्न महापुरुष सभीने ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार किया है तथा जगत्के कल्याणके लिये पुनः-पुनः वे

उसका प्रचार भी कर गये हैं। उनके प्रामाण्य-सिद्धान्त जबतक प्रबल और प्रतिकूल प्रमाणोंके द्वारा खण्डित नहीं हो जाते, तबतक चित्तकी प्रकृतिके अनुसार उनके ऊपर विश्वास करना बहुतोंके लिये स्वाभाविक है। साधक अपनी आध्यात्मिक साधनामें यथार्थ उन्नति कर लेनेपर, किसी समय उसने जिस सरल विश्वासको सत्य समझकर ग्रहण किया था, वह वास्तविक ही सत्य है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उसे पद-पदपर मिलता रहता है। अन्तर्जीवनके मार्गपर अग्रसर होते-होते ऐसी-ऐसी अलौकिक घटनाएँ घटती हैं, एवं ऐसी-ऐसी असाधारण विभूतियोंके निदर्शन जीवनमें अभ्रान्त-भावसे पुनः-पुनः प्रत्यक्ष होते हैं, जिनसे विचारशील पुरुष अतीन्द्रिय-जगत् एवं समस्त जगत्के अधिष्ठाता, किसी महाशक्तिसम्पन्न सत्ताको स्वीकार करनेके लिये बाध्य होता है। साधारण मनुष्यका जीवन प्रायः साधारण पथमें ही प्रवाहित होता है और उसमें उल्लेखनीय घटना अथवा वैचित्र्य बहुत ही कम होता है; किंतु किसी महाशक्तिशाली पुरुषके सहवासमें आनेपर उसके जीवनमें ऐसी-ऐसी अद्भुत घटनाएँ घटने लगती हैं, जो साधारण मनुष्यके ज्ञान और अनुभूतिके राज्यसे सर्वथा बाहरकी बात है। ये घटनाएँ विविध प्रकारकी होती हैं। कुछ तो केवल भावके विकासके रूपमें होती हैं, कुछ भावके साथ बाह्य जगत्से विशिष्ट सम्बन्ध रखती हुई और कुछ पूर्णतया वास्तविक जगत्के ऊपर प्रतिष्ठित होती हैं। मैं अपने वक्तव्यको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करके समझानेकी चेष्टा करता हूँ।

कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य गम्भीर रात्रिके समय अत्यन्त दूर अज्ञात देशके जनशून्य प्रान्तमें अथवा वनभूमिके बीच होकर

दीर्घकालतक चलते-चलते क्लान्त एवं हताश होकर जीवनका भरोसा छोड़कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उस एकाकी पथिकका कोई साक्षी नहीं, सहायक नहीं, कोई सहारा नहीं, यहाँतक कि कुछ भी पाथेय भी नहीं है, स्थान अपरिचित है, मार्ग अज्ञात है, गन्तव्य स्थान बहुत ही दूर है और दूरतक देखनेपर कहीं कोई घर-द्वार अथवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं दिखलायी पड़ता, जिसे देखकर प्राणमें उत्साहका संचार हो। वह दिनभर भटकता-भटकता क्लान्त हो रहा है, एक प्रकारसे उसे चलनेकी शक्ति भी नहीं रही है, चारों ओर रात्रिका अन्धकार फैला हुआ है, हिंस्र पशुओंके आक्रमणका भी भय बना हुआ है और साथ ही भूखसे शरीर शिथिल हो रहा है। अबतक केवल स्थूल देह और स्थूल जगत्की दृष्टिसे ही मैंने अवस्थाओंका वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मानसिक तथा अन्यान्य प्रकारकी अशान्ति भी हो सकती है। इस प्रकारकी अवस्थामें पड़कर उस मनुष्यको कैसी अनुभूति होनी होगी, इसका सभी अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकारकी घोर विपत्तिके समयमें जब उसे आसन्न मृत्युकी कराल छाया सामने दृष्टिगोचर हो रही है, यदि वह पलक मारते ही यह देखता है कि एक दिव्य ज्योतिर्मय मूर्ति स्निग्ध करुणामय एवं प्रशान्त मुखश्रीसे युक्त उसके दृष्टि-पथमें शून्य स्थानमें आविर्भूत होकर उसके समस्त भयको हरण कर लेती है, उसे आश्वासन देती हुई कहती है—

'वत्स! तुम भयभीत क्यों हो रहे हो; देखो, सामने दीपक जल रहा है, वहाँ जाओ! तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायँगे! मैं

तुम्हारे साथ हूँ, भयका कोई कारण नहीं है !' इस आश्वासनको सुनकर वह यदि देखता है कि सचमुच ही सामने पर्णकुटीमें दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानो उसीकी प्रतीक्षामें बैठा हुआ है । यदि वह वहाँ आश्रय पाता है, क्षुधा-निवृत्तिके लिये मनमाना भोजन पाता है, भयसे त्राण पाता है, गन्तव्य स्थानका मार्ग पाता है तथा राहका साथी पाता है तो बताइये इससे उसके हृदयमें किस प्रकारके भावोंका उदय होगा ? वह कितना ही नास्तिक अथवा संशयाक्रान्तचित्त क्यों न हो, उसे मस्तक नत करके यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मनुष्यकी विचारसीमाके परे कोई लोकोत्तर शक्ति अवश्य ही है, जो असीम और मङ्गलमय है; जो सदा ही मनुष्यकी अवस्थाएँ देखती रहती है तथा जो घोर विपत्तिमें परम स्नेही मित्रके समान आविर्भूत होकर उसकी रक्षा करती है । इस शक्तिको चाहे कोई ईश्वर कहें या किसी दूसरे ही नामसे पुकारें, उससे मुझे यहाँ कोई मतलब नहीं, परंतु यह एक अलौकिक शक्ति-विशेष है, वह चैतन्यमय प्रेममय एवं सब प्रकारसे असाधारण है, इस बातको स्वीकार करना ही होगा । ऐसा होनेपर वस्तुतः नामान्तरसे ईश्वरकी सत्ता स्वीकार कर ली गयी । हाँ, कोई स्पष्टभावसे ईश्वरके भीतर प्रविष्ट हो सकते हैं, और कोई न भी हो सकते हैं । इस प्रकारकी अनेकों घटनाएँ मनुष्यके जीवनमें कभी-कभी घटती हैं, जो लौकिक कार्य-कारणके सम्बन्धद्वारा समझायी नहीं जा सकतीं एवं जिनका एकमात्र लक्ष्य मनुष्यका मङ्गल-साधन होता है ।

इस प्रसंगमें मैं साधकके साधन-जीवनकी बात नहीं कहूँगा, क्योंकि जो यथार्थ साधक हैं, साधन-राज्यमें प्रवेशकर अध्यात्म-पथमें चलते-चलते उनको तो भगवत-शक्ति एवं भगवत्-सत्ताके दर्शन सैकड़ों-हजारों बार हुआ ही करते हैं। जो सच्चे साधक हैं, वे सरल विश्वाससे प्रवृत्त होनेपर भी क्रमशः ऐसी-ऐसी अभिज्ञता और शक्तियोंका संचय करते रहते हैं, जिससे उनका भगवान्‌में विश्वास केवल प्रारम्भिक अन्ध-विश्वासमें ही आबद्ध नहीं रहता; बल्कि इन अभिज्ञता और शक्तियोंके द्वारा वह विश्वास विशेष रूपसे दृढ़ताको प्राप्त होता है।

अतएव वर्तमान जीवनकी साधनाके फलसे अथवा प्राक्तन सुकृतियोंके कारण मनुष्य भगवान्‌की नाना विभूतियोंके और करुणाके प्रत्यक्ष दर्शनकर भगवान्‌की कल्याणमयी सत्तामें अविचलित विश्वास करनेमें समर्थ होता है। प्राथमिक सरल विश्वासका मूल क्या है, इसका उत्तर पहले दिया जा चुका। यथार्थ विश्वास क्यों और कैसे होता है ? इसका उत्तर भी दिया जा चुका। प्रथम विश्वासके मूलमें हृदयकी सरलता और द्वितीय विश्वासके मूलमें जीवनकी विचित्र अभिज्ञता तथा भगवत्तत्त्व-सम्बन्धी नाना प्रकारके प्रत्यक्ष दर्शनकी अधिकता होती है।

परंतु संसारमें सभी लोग भगवान्‌में विश्वास कर सकेंगे, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। वास्तव जगत्‌का चित्र देखनेपर समझा जा सकता है कि मनुष्यमात्रमें ही भगवद्विश्वास बीजरूपसे निहित होनेपर भी सर्वत्र समभावसे उसकी स्फूर्ति नहीं प्राप्त होती। इसका भी एक समय होता है। मैं पहले यह बतला चुका हूँ कि शिक्षा, संस्कार, आचार, उपदेश, शास्त्र और महापुरुषोंके वाक्य आदि शुद्ध चित्तमें

ही विश्वासोत्पत्तिके कारण हैं, परंतु यहाँ भी कालका विचार अवश्य ही करना होगा। जीव जबतक स्थूल तथा अचिरस्थायी वस्तुकी प्राप्तिमें तृप्त होता है, अथवा अभाव होनेपर सहायताके लिये स्थूल जगत्की ओर ही सतृष्ण दृष्टिसे देखता है, तबतक अतीन्द्रिय सत्ताकी ओर उसका लक्ष्य नहीं जा सकता। हमारी आकाङ्क्षाएँ यदि दृश्यमान जगत्से ही पूर्ण हो सकती हैं तो फिर उन आकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके लिये अतीन्द्रिय सत्ताकी ओर हमारी दृष्टि क्यों जायगी? किंतु संसारचक्रमें घूमते-घूमते नाना प्रकारके भोग एवं अभिज्ञताओंका संचय करते-करते और नाना प्रकारकी तीव्र साधनाएँ करनेपर भी निरन्तर बाधा और प्रतिकूल घटनाओंसे मनोरथ-सिद्धि न होनेके कारण जीव जैसे एक ओर क्रमशः अपनी शक्तिकी क्षुद्रताका अनुभव करता है, दूसरी ओर वैसे ही सांसारिक शक्तिकी अकिञ्चित्करताको भी उपलक्ष्य करता रहता है। आकाङ्क्षाकी मात्रा बढ़ते-बढ़ते अन्तमें ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, जब उसे ज्ञात होने लगता है कि आकाङ्क्षाकी पूर्णता जगत्की किसी भी वस्तुके द्वारा नहीं हो सकती। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दीर्घकालके अनुभवके बिना ऐसी अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती; परंतु जब ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, तब सचमुच ही जीव अपनेको निराश्रय अनुभव करता है। मनुष्यके जीवनमें इस निराश्रय भावका उदय ही एक परम पवित्र शुभ मुहूर्त है; क्योंकि इसी समयसे जगत्की ओरसे उसकी दृष्टि हट जाती है और वह जगत्के ऊपर किसी अज्ञात और अचिन्त्य शक्तिकी ओर देखता है। इसके बाद आकाङ्क्षाकी मात्रा जिस परिमाणमें घनीभूत होती है, स्वाभाविक नियमानुसार ठीक उसी परिमाणमें मनुष्यका लक्ष्य लौकिक जगत्को

छोड़कर एक अनन्त सत्ताके केन्द्रको स्पर्श करता है, अवश्य ही यह विधि और बोधपूर्वक नहीं होता। जबतक मनुष्यके अहंभावकी प्रधानता तरह-तरहसे पुष्ट होती रहती है, तबतक उसके लिये अपनेको एक विराट् सत्ताके आश्रित समझना तथा उस सत्तासे अपनेको सत्तावान् समझना असम्भव है। संसारके घात-प्रतिघातसे जब अहंभाव क्रमशः भग्न हो जाता है एवं जगत्की असारता हृदयङ्गम होती है, तब जगत्के परे तथा जगत्के आत्मभूत ईश्वरीय शक्तिकी क्रिया तथा उसका भाव स्वयमेव प्रकट हो जाता है। इसीलिये जबतक मनुष्यका समय पूरा नहीं होता, अर्थात् जबतक भोगाभिमुखी प्रवृत्ति निवृत्त होकर शान्तभावको धारण करना आरम्भ नहीं करती, तबतक यथार्थ रूपसे उसे भगवत्-सत्तामें विश्वास नहीं हो सकता। श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य भगवान्की भक्ति करते हैं, किंतु इतना ही मात्र कहनेसे काम नहीं चल सकता; क्योंकि संसारमें ऐसे कितने ही आर्त्त मनुष्य देखे जाते हैं, जो घोर विपत्तिके समय भी भगवान्की ओर नहीं ताकते।

इधर जिनको ज्ञानप्राप्तिकी इच्छा है, अर्थात् जो जिज्ञासु हैं, वे सभी भगवान्की भक्ति ही करते हैं, यह भी जगत्का इतिहास देखकर कोई स्वीकार न करेगा। इसी प्रकार अर्थाकाङ्क्षी लोग भी सांसारिक अर्थी अर्थात् धनीकी उपासना ही किया करते हैं, अर्थलाभकी आशामें भूलकर भी वे कभी जगदीश्वरकी शरण ग्रहण नहीं करते और शुष्क ज्ञानी भी ज्ञाननिष्ठ होनेपर भी सर्वज्ञानाधार श्रीभगवान्के श्रीचरणमें आत्मसमर्पण करनेमें समर्थ नहीं होते। पूर्व-जन्मके सौभाग्य अथवा भगवान्की विशेष कृपाका संचार हुए बिना भगवान्की ओर

चित्तके लग जानेकी आशा दुराशामात्र है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी 'सुकृतिनः' इस विशेषणके द्वारा समझा दिया है कि सुकृति हुए बिना केवल आर्ति, जिज्ञासा, अर्थकी आकाङ्क्षा अथवा ज्ञान-सम्पत्तिद्वारा ही चित्त भगवान्‌की ओर आकृष्ट नहीं होता।

अतएव जो भगवान्‌में आस्था स्थापन नहीं कर सकते, उनका अभी समय पूरा नहीं हुआ है, यही समझना होगा और जिनके चित्तमें भगवद्विश्वास उत्पन्न हो गया है, उनका समय पूरा हो जानेके कारण ही आप्तवाक्य, शिक्षा, संसर्ग प्रभृति निमित्तोंके अवलम्बनसे विश्वास जाग उठा है। कर्मपथमें अग्रसर होते-होते प्रत्यक्ष ज्ञानके आविर्भावमें यह विश्वास घनीभूत हो जायगा।

(२)

दूसरा प्रश्न यह है कि भगवान्‌में विश्वास नहीं करनेसे हानि क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें मेरा कहना यही है कि 'यदि भगवान्‌में विश्वास करनेका कोई आध्यात्मिक मूल्य है तो यह मानना होगा कि विश्वास न करनेसे अवश्य ही हानि होगी। परंतु बात यह है कि विश्वास जिस प्रकार बलात् उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अविश्वास भी युक्ति या तर्कके बलसे दूर नहीं होता। पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य जब अपने अहंभावकी सीमाको देखता है और समझता है कि किसी अचिन्त्य-शक्तिके प्रतिघातसे उसका पुरुषार्थ पद-पदमें क्षुण्ण होता रहता है और जब वह यह अनुभव कर सकता है कि जिसे हम बाह्य जगत् कहते हैं, उसकी शक्ति भी परिमित और ससीम है, तब स्वभावतः उसका व्याकुल चित्त विश्व-ब्रह्माण्डको लाँघकर एक असीम तत्त्वकी ओर दौड़ता है; किंतु जबतक प्राकृतिक क्रम-विकासके नियमानुसार

इस प्रकारकी अवस्था आविर्भूत नहीं होती, तबतक बलपूर्वक भगवान्‌में विश्वास करनेकी चेष्टा निष्फल प्रयासमात्र है। यद्यपि भगवान्‌में विश्वास कर सकनेपर मङ्गल-सोपानमें पदार्पणकर धीरे-धीरे परम मङ्गलके पथपर अग्रसर होनेका उपाय सहज ही हो जाता है, तथापि जबतक यह स्वभावतः ही हृदयमें उदित नहीं होता, तबतक अविश्वाससे हानि होनेपर भी उसे स्वाभाविक रूपसे नतमस्तक होकर ग्रहण करना ही पड़ता है। कोई भगवान्‌में विश्वास करता है और कोई नहीं करता—इन दोनों क्षेत्रोंमें विचारकर देखनेपर ज्ञात होता है कि दोनों ही भगवान्‌के मङ्गलमय विधानके अन्तर्गत हैं। उनमें विश्वास न करना भी उनके नियमके बाहरकी बात नहीं है। आज जो भाग्यवश विश्वासके सोपानपर पैर रखनेके अधिकारी हो रहे हैं, यदि उनके सुदीर्घ अतीत जीवनके इतिहासका अन्वेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी एक समय अविश्वासी थे। सब मनुष्य सृष्टिके आदिसे ही भगवान्‌में विश्वासी होकर संसार-क्षेत्रमें नहीं आते? पहले उदासीनता रहती है, वही उदासीनता आगे चलकर अविश्वासमें परिणत हो जाती है और अन्तमें वही अविश्वास विश्वासके स्वर्णालोकमें देदीप्यमान हो उठता है। जिनमें अन्तर्दृष्टि होती है, वे मनुष्यके बाह्य आचार एवं स्थूल आचरण देखकर उसके चित्तकी शुद्धताकी मात्राका निर्देश नहीं करते। वे जानते हैं कि आज जो अविश्वासी है, वही कल अपने भोगोंके पूर्ण होनेपर तथा निवृत्तिमुखी गतिका पूर्वाभास प्राप्त होनेपर—अनन्य भक्तके रूपमें उन्नत हो उठता है। प्राचीन ईसाई-संघके इतिहासकी आलोचना करनेपर ज्ञात होता है कि 'पाल' (Paul) एक समय

ईसाइयोंके घोर विद्वेषी समझे जाते थे, कालान्तरमें वे ही ईसाके अन्तरङ्ग भक्तोंमें गिने जाने लगे। समस्त धर्मोंके इतिहासमें बारंबार इस प्रकारके वृत्तान्त मिलते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, इससे कोई यह न समझे कि मैं अविश्वासका समर्थन कर रहा हूँ। मेरा कथन केवल यही है कि मनुष्यके जीवनमें अविश्वासका भी एक समय निर्दिष्ट रहता है। अविश्वास भी परिणाममें विश्वासका रूप धारण करता है। अतः वस्तुतः वह हानिकारक नहीं है; किंतु जो अदूरदर्शी हैं, वे वर्तमान अवस्थाको ही एकमात्र अवस्था समझते हैं, इसीलिये वे कहते हैं कि भगवान्‌में विश्वास नहीं करनेसे क्षति होनेकी सम्भावना है।

सुतरां व्यापक दृष्टिसम्पन्न ज्ञानीके दिव्य नेत्रोंके सामने अविश्वासकी भी एक मर्यादा होती है। अवश्य ही लौकिक अपूर्ण दृष्टिसे अविश्वासके दोष एवं अपकार स्पष्ट ही देखनेमें आते हैं।

'ईश्वरमें विश्वास न करनेसे क्या हानि होती है?' इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि परमार्थ-दृष्टिसे हानि होनेपर भी इस अविश्वासके भविष्यत्‌में उन्नतिके लिये आवश्यक होनेके कारण इस हानिको वस्तुतः हानि नहीं समझना चाहिये। भगवान्‌को न मानना यदि उनके माननेका ही पूर्वाङ्ग हो तो वह हानि सामयिक-मात्र है, किंतु परिणामकी दृष्टिसे वह अवश्य ही स्वीकार करने योग्य है; परंतु व्यावहारिक दृष्टिसे भगवान्‌में अविश्वास करना घोर अनर्थका कारण है; ईसा कहते हैं—

'He that believeth and is baptised shall be saved; but he that believeth not shall be condemned.' (Aristion's, Appendix mark 16–16)

अर्थात् 'जिसके चित्तमें विश्वास उत्पन्न हो गया है तथा जो भगवत्-शक्तिद्वारा अभिषिक्त हो गया है, वह संसारसे उत्तीर्ण हो जायगा; परंतु जो अविश्वासी है, उसे भयंकर दुर्गति भोगनी पड़ती है।' गीतामें लिखा है—'संशयात्मा विनश्यति ।' इस प्रकार सभी धर्मोंमें विश्वासकी प्रशंसा और अविश्वासकी निन्दा पायी जाती है। जिनको अन्तर्जगत्के सूक्ष्म तत्त्व अवगत हैं, वे जानते हैं कि भाव और विषयके भेदसे चित्तकी अवस्थामें परिवर्तन होता है। जिसका चित्त जिस प्रकारके भाववाला होता है, वह उसी प्रकारका फल प्राप्त कर सकता है। जिस-किसी विषयमें विश्वास किया जाय, उसके साथ चित्त सम्बद्ध होता है और चित्त उसी भावसे भावित हो उठता है। ईश्वर यदि सत्य है और चित्त यदि उसपर विश्वास करके तद्भावसे भावित हो सके, चाहे वह विश्वास ज्ञानमूलक न हो—तो इसी विश्वासके बलसे भगवान्के साथ मनुष्यके चित्तका एक सम्बन्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप उस चित्तमें अज्ञातरूपसे भगवत्-शक्ति नाना प्रकारसे उसपर कार्य करती रहती है। सत्यमें प्रतिष्ठित विश्वासके द्वारा इसी प्रकार धीरे-धीरे पूर्ण सत्यका बोध उत्पन्न होता रहता है। भगवान्में विश्वास कर सकनेपर मनुष्य उनकी आकर्षण-सीमामें पड़ जानेके कारण क्रमशः उनके निकटवर्ती होता जाता है, फिर सांसारिक वासनाएँ उसे बाँध नहीं सकतीं। सत्य विश्वासके प्रतापसे सैकड़ों दोष दूर हो जाते हैं। इसीसे अविश्वाससे होनेवाली हानिका अनुमान किया जा सकता है। नित्य और आनन्दमय वस्तुमें विश्वास हुए बिना अमरत्व और आनन्दमय सत्तामें स्थित होनेकी आशा दुराशामात्र है। नित्य वस्तुके साथ

सम्बन्ध न होनेसे जीवको निरन्तर संसार-चक्रमें घूमना पड़ता है। भला इससे अधिक हानि और क्या हो सकती है? विश्वासका फल अमरत्व है और अविश्वासका फल मृत्यु-राज्यकी मलिनता और अन्धकार है।

तथापि यह बात याद रखनी चाहिये कि यह लौकिक दृष्टिका ही समाधान है। दिव्य दृष्टिसे तो मृत्यु भी अमृतकी छाया होनेके कारण अमङ्गलका कहीं लेशमात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

(३)

प्रश्नकर्ताका तीसरा प्रश्न है कि 'ईश्वरके अस्तित्वमें कौन-कौनसे प्रमाण हैं?' इस प्रश्नका उत्तर देनेके पूर्व यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि सांसारिक विचार-दृष्टिसे ईश्वरकी सिद्धि अथवा खण्डनमें जो कुछ युक्तियाँ दी जायँगी, उनमेंसे कोई-सी भी ऐकान्तिक रूपेण सर्वत्र गृहीत नहीं हो सकतीं? उदयनाचार्यने अपनी 'कुसुमाञ्जलि' में नैयायिक पक्षका आलम्बन करते हुए ईश्वर-बाधक प्रमाणोंका खण्डन कर ईश्वर-साधक प्रमाणोंको सुचारुरूपेण प्रदर्शित किया है। उनके परवर्ती अनेक विद्वानोंने उन्हींका अनुसरण करते हुए इस विषयकी आलोचना की है। उत्पलदेवने 'सिद्धित्रयी' नामक ग्रन्थके 'ईश्वर-सिद्धि' नामक अंशमें तथा अभिनवगुप्ताचार्यने 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' नामक ग्रन्थमें काश्मीर-शैव-आगमके प्रतिनिधिरूप होकर ईश्वर-तत्त्वकी आलोचना की है। यामुनाचार्य 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थमें, लोकाचार्य 'तत्त्वत्रय' नामक ग्रन्थमें तथा वेदान्तदेशिकाचार्य, श्रीनिवासाचार्य प्रभृतिने अनेकों स्थलोंमें श्रीवैष्णवसम्प्रदायके पथको लेकर ईश्वरवादकी आलोचना की है। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदायने अपने-अपने ग्रन्थोंमें अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे ईश्वर-तत्त्वकी

समालोचनाके प्रसङ्गमें साधक और बाधक युक्तियोंका तात्त्विक विचार किया है। पाश्चात्त्य देशमें भी अनेकों स्थलोंमें इस विषयकी बारंबार आलोचना हुई है। प्राचीन ईसाई तथा अन्यान्य धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें, विशेषकर मध्ययुगीय Schoolmen आदिके दार्शनिक विचारपूर्ण शास्त्रीय व्याख्यात्मक ग्रन्थोंमें इस आलोचनाके नैतिक, यौक्तिक और आगमिक उपपत्तिके अनुकूल बहुतेरी बातें लिखी गयी हैं। वर्तमान समयमें भी जो मनीषी पुरुष विज्ञान-वेत्ता होते हुए भी ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास रखते हैं, वे भी युक्ति-तर्कपूर्वक अपनी-अपनी धारणाके अनुसार इस विषयमें ग्रन्थ रच गये हैं।

परंतु इन सब आलोचनाओंको पढ़कर बुद्धिके परिमार्जित होनेपर भी किसीको ईश्वरमें तनिक-सा भी विश्वास बढ़ता है या नहीं, यह संदेहका विषय है। प्रथम और द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें मैंने जो कुछ कहा है, उससे स्पष्टतः समझा जा सकता है कि केवल युक्ति-बलसे कोई कभी ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकता। युक्तिके सुप्रतिष्ठित होनेसे उसके द्वारा ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें एक आनुमानिक ज्ञान होता है, इसमें संदेह नहीं; किंतु युक्तिका प्रतिष्ठित होना ही कठिन है। नैयायिक जिस युक्तिद्वारा ईश्वरकी सिद्धि करते हैं, मीमांसक लोग उस युक्तिको युक्तिका आभासमात्र समझते हैं। कार्य देखकर चेतन कर्ताका अनुमान करना अथवा केवल कारणमात्रका अनुमान करना, एक विवादग्रस्त विषय है। इसी प्रकार सर्वत्र देखा जाता है।

वस्तुतः प्रयोगकुशल शक्तिशाली पुरुषके हाथसे अस्त्रविशेष जिस प्रकार कार्यकारी होता है, उसी प्रकार सिद्धिसम्पन्न शक्तिशाली

पुरुष-विशेषद्वारा प्रदर्शित युक्ति ही सार्थक होती है। जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति की है तथा जो दूसरोंको प्रयोजन होनेपर, अवस्था-विशेषमें संदिग्ध विषयको प्रत्यक्षरूपसे दिखला देनेकी क्षमता रखते हैं, उनकी दी हुई युक्ति, युक्ति होनेपर भी दूसरोंको समझानेके लिये अधिक उपयोगी होती है। यदि ऐसा न होता तो बहुत दिन पूर्व ही विचारके द्वारा ईश्वरका अथवा अन्य किसी अतीन्द्रिय-सत्ताका रहस्य मीमांसित हो जाता। सुतरां मैं ईश्वरके अस्तित्वके समर्थनमें जो युक्तियाँ उपस्थित करूँगा, उन सबको आपेक्षिक ही समझना होगा; क्योंकि अवस्था-विशेषमें वे युक्तियाँ प्रयुक्त न हो सकेंगी तथा प्रयुक्त होनेपर भी उनकी सारवत्ता न रहेगी।

'ईश्वर' शब्दसे मेरा अभिप्राय 'संसारकी सृष्टि, स्थिति और संहारके कर्ता एवं अनुग्रह और निग्रहके हेतुभूत (कारणस्वरूप) सच्चिदानन्दमय अनन्तशक्तिसमन्वित सत्ता-विशेष' से है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस सत्तामें जो शक्तियाँ निहित रहती हैं, उन शक्तियोंकी साम्यावस्थाको ही ईश्वरका 'ब्रह्मभाव' कहते हैं। वैषम्यकालमें कोई भी शक्ति प्रधान होकर इतर-शक्तिको अभिभूतकर प्रकाशित हो उठती है, इससे केवल उसी शक्तिकी क्रिया दिखायी देती है; इस प्रकार पृथक्-पृथक् रूपसे सृष्टिमें अनन्त शक्तियोंकी क्रिया दृष्टिगोचर होती है। सृष्टिके अन्तमें किसी भी शक्तिकी उपलब्धि नहीं होती तथा शक्ति और शक्तिमान् अभिन्नभावसे एकरस हो प्रकाशित रहते हैं। संसारमें जो कुछ है, अथवा होगा, सब ईश्वरसे उद्भूत है, ईश्वरमें स्थित है एवं ईश्वरमें ही

विलीन होता है। इसलिये जबतक जगत् है तबतक जगत्के आश्रयरूप—जिस प्रकार जलाशय तरङ्गोंका आश्रय होता है, उसी प्रकार ईश्वरसत्ताको अनुसंधानपूर्वक प्रत्यक्ष करना होगा। केवल यही नहीं, सांसारिक सत्ता भी मूलतः ईश्वरीय सत्तासे अभिन्न है, इसकी भी उपलब्धि करनी होगी। प्रलयमें जगत् जिनमें विलीन हो जाता है तथा उस समय जो अवशिष्ट रहता है, उस विशुद्ध ईश्वरीय सत्ताको भी समझना होगा। जगत्की स्थितिके समय इसके संरक्षक, नियामक, दर्शक और यहाँतक भोक्तारूपमें भी ईश्वरकी सत्ता अनुसंधानयोग्य है। जो कला और विद्यारूपा शक्तियाँ प्रवाहरूपमें प्रवर्तित हो व्यावहारिक जगत्का कार्य-साधन कर रही हैं, उनकी मूल प्रवृत्ति जहाँसे होती है—वही ईश्वर है। इस प्रकारसे भी सर्वशक्तिके अधिष्ठाताके रूपमें भी ईश्वरके अस्तित्वकी धारणा करनी होगी।

इस परिदृश्यमान जगत्की पर्यालोचना करनेसे पता लगता है कि लौकिक प्रत्यक्षगोचर स्थूल सत्ताके अन्तरालमें एक शक्तिमयी सूक्ष्म सत्ता वर्तमान रहती है। शक्तिके बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। जिस-किसी वस्तुमें क्रिया हो, उसके मूलमें शक्तिकी प्रेरणा रहती है, इस बातको मानना ही होगा। किसी कौशलसे शक्तिका निरोध कर सकनेपर उसके फलस्वरूप क्रिया भी निवृत्त हो जाती है। मनुष्यके शरीरमें दर्शन-श्रवण प्रभृति क्रियाएँ अथवा ग्रहण, गमन, उत्सर्ग आदि क्रियाएँ निरन्तर हो रही हैं। इन सब क्रियाओंके मूलमें एक शक्ति है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसी प्रकार बाह्य-जगत्में वायुका संचालन, मेघका गर्जन, विद्युत्की दीप्ति इत्यादि

नाना प्रकारकी क्रियाएँ दीख पड़ती हैं। जब क्रियाके द्वारा ही शक्तिका अनुमान होता है, तब विभिन्न क्रियाओंके पार्थक्यसे शक्तिके पार्थक्यको भी स्वीकार करना पड़ता है; किंतु जिन लोगोंने जड विज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति-तत्त्वकी आलोचना की है, वे जानते हैं कि एकजातीय शक्तिसे अन्य जातीय शक्तिका आविर्भाव होता है। शक्तियाँ केवल परस्पर सम्बन्धित हैं ऐसी बात नहीं है, उनके मूलमें एकके सिवा दूसरी शक्तिका पता नहीं लगता। एक ही महाशक्ति आधार-भेदसे भिन्न-भिन्न शक्तिरूपमें प्रकाशित हो भिन्न-भिन्न कार्य करती है—

'एकैव सा महाशक्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।'

चण्डीका यह महावचन बीसवीं शताब्दीके विज्ञानको भी सिर झुकाकर स्वीकार करना पड़ता है।

किंतु इस शक्तिका स्वरूप क्या है? कहना नहीं होगा कि इस सम्बन्धमें विज्ञान अबतक कुछ भी समाधान नहीं कर सका है। शक्तिके अखण्ड रूपके विज्ञानके दृष्टिगत होनेमें अभी देर है, किंतु उसके परिच्छिन्न रूपके सम्बन्धमें वैज्ञानिक जगत्में यथेष्ट गवेषणा हो चुकी है। सिद्धान्त यह कि शक्ति ही घनीभूत होकर भौतिक सत्ताके रूपमें आविर्भूत होती है, तब उससे ऐसे अनेकों धर्मोंका विकास होता है, जिनका अस्तित्व विशुद्ध शक्तिकी अवस्थामें खोजने-पर भी नहीं मिलता। वस्तुतः भौतिक रूप नियन्त्रित अथवा बद्ध अवस्थामात्र है; क्योंकि शक्तिको यन्त्रद्वारा बद्ध न कर सकनेपर उससे स्थूलभावका विकास सम्भव नहीं है। दूसरे प्रकारसे इस बन्धनको मुक्त कर देनेपर अर्थात् स्थूलभावसे

स्थूलत्वको हटा लेनेपर सत्ता विशुद्ध शक्तिके रूपमें ही पर्यवसित हो जाती है। अतएव शक्ति और भौतिक सत्ता, अवस्थागत भेद रहनेपर भी वास्तवमें अद्वैत है। शक्तिकी इस नियन्त्रित अवस्थाको सृष्टिमें हम निरन्तर सर्वत्र देख रहे हैं। विशुद्ध शक्तिके स्वरूपको साधारणतः कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता। तथा कोई शक्तिशाली पुरुष यदि उसे दिखला भी दे तो साधारण जीव उसके तेजको सहन नहीं कर सकता। सांसारिक क्रिया, परिणाम, विपाक प्रभृति व्यापारोंसे साधारण मनुष्य केवल शक्तिका अनुमान कर सकते हैं। इससे अधिक अग्रसर होनेका अधिकार साधारण मनुष्योंको तो है ही नहीं, जड-विज्ञानवादी वैज्ञानिकोंको भी नहीं होता। जो लोग विचारशील एवं कर्मी हैं, अर्थात् जो लोग केवल प्रवाहके साथ न वहकर अपने विवेक और विचारके आश्रयसे दृश्यमान वस्तुके सूक्ष्म तत्त्वको ढूँढ़ निकालनेके लिये उद्यमशील हैं, उन्हें यह स्वीकार करना ही होगा कि इस स्थूल सांसारिक अवस्थाके अन्तरालमें एक विराट् शक्तिमय अवस्था है। आस्तिक और नास्तिक, ईश्वरके विश्वासी और अविश्वासी सभीको यह स्वीकार करना होगा, किंतु प्रश्न यह है कि इस शक्तिका स्वरूप क्या है? यह शक्ति चेतन है या जड, इसका विवेचन करनेके पहले यह देखना होगा कि इसके साथ मानवीय इच्छा-शक्तिका कोई सम्बन्ध है या नहीं? क्योंकि इच्छाको मध्यभूमिमें न रख सकनेसे एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर क्रियाका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। क्रियासे केवल शक्तिका अनुमान किया जा सकता है, किंतु वह शक्ति यदि इच्छारूपा न हो तो उससे ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। वैसे ही ज्ञानसे

इच्छाका विकास किस प्रकार होता है, इसे न जाननेसे तथा इच्छाकी शक्तिके रूपमें उपलब्ध न होनेसे उससे क्रियाकी उत्पत्ति होना युक्तिद्वारा नहीं समझाया जा सकता। जिस विराट् महाशक्तिके क्षुद्रतम अंशके प्रभावसे विशाल जगत्की अनन्त प्रकारकी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं, उसके साथ इच्छा-शक्तिका क्या सम्बन्ध है, यही सर्वप्रथम विचारणीय है।

साधारण दृष्टिसे सांसारिक क्रिया-कलापको इच्छाकृत एवं अनिच्छाकृत—इन दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इच्छासे जो कार्य निष्पन्न होता है, वह इच्छाकृत कार्य तथा उससे भिन्न सभी कार्य अनिच्छाकृत एवं स्वाभाविक होते हैं। मनुष्यके देहमें जो यान्त्रिक क्रियाएँ होती हैं, उनमेंसे अधिकांश ही इच्छापूर्वक नहीं होतीं।

किंतु इस बातको बहुत लोग जानते हैं कि ये सारी अनैच्छिक क्रियाएँ भी विशेष चेष्टा और कौशलके द्वारा दीर्घकालमें इच्छाके अधीन हो सकती हैं। अतएव दैहिक क्रियाओंमेंसे जो साधारणतः इच्छाधीन नहीं होतीं, वे भी कालक्रमसे इच्छाधीन हो सकती हैं। इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि मनुष्यकी इच्छाशक्ति यदि उस प्रकारसे परिचालित एवं परिशोधित हो तो उससे देहकी समस्त क्रियाओंको नियन्त्रित किया जा सकता है। जब इच्छाद्वारा किसी भी कार्यकी प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा परिवर्तन सम्भव है, तब फिर यह स्वीकार किये बिना नहीं चल सकता कि इच्छा ही क्रिया अथवा कार्यका मूल है। अवश्य ही यह दैहिक क्रियाके विषयमें कहा गया है, किंतु यदि बाह्य क्रियाका भी इस प्रकार व्यक्ति-विशेषकी

इच्छाद्वारा नियन्त्रित किया जाना सम्भव हो तो बाह्य क्रियाके मूलमें भी इच्छा-शक्ति है, इसमें संदेह नहीं रह जाता। इस इच्छा-शक्तिकी मात्रा सर्वत्र समान नहीं है। इसलिये इससे जितनी बाह्य क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं, वे भी सब क्षेत्रोंमें एक-सी नहीं होतीं। अर्थात् यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इच्छा-शक्तिकी तीव्रता सर्वत्र एक-सी ही होती है! अतएव जिस शक्तिसे बाह्य जगत् एवं अन्तर्जगत्में सब प्रकारकी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं, वह इच्छास्वरूप ही है; यही हमारा प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। जिन जड शक्तियोंसे हम परिचित हैं, वस्तुतः वे सभी केवल इच्छा-शक्तिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। ऐसा न होता तो उन शक्तियोंके विपरीत इच्छा-शक्ति कार्य न कर सकती। मध्याकर्षणशक्ति, वैद्युतिक शक्ति, आणविक आकर्षण और विकर्षणशक्ति—ये समस्त शक्तियाँ विशुद्ध और संयत इच्छाके द्वारा अधीन हो सकती हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि आविर्भूत इच्छाकी मात्राकी अपेक्षा जिन शक्तियोंकी मात्रा कम होती है वे अधिक इच्छाके द्वारा अभिभूत होती हैं। एवं जिनकी मात्रा होती है, वे प्रबल होनेके कारण इच्छाको अभिभूत कर रखती हैं। प्राक्तन इच्छा ही वर्तमानकालमें जड-शक्तिके रूपमें प्रकटित होती है। वर्तमान इच्छा प्राक्तन इच्छाकी विरोधी होनेके कारण जब प्रबल होती है, तब प्राक्तन-इच्छा स्वयमेव अभिभूत हो जाती है। जड-शक्तिका ही दूसरा नाम अदृष्ट है एवं इच्छा-शक्तिका दूसरा नाम पुरुषार्थ है। वस्तुतः इन दोनों शक्तियोंमें कोई भेद नहीं। बोध क्षेत्रमें शक्तिका प्रकाश होनेसे यही इच्छा अथवा पुरुषार्थके रूपमें अभिव्यक्त होती है। दूसरी ओर अबोध-भूमिमें अर्थात् बोध-राज्यके तलदेशसे यदि

शक्तिका विकास होता है तो उसीको अदृष्ट या जड-शक्ति समझना चाहिये। वस्तुतः दोनों शक्तियाँ एक ही हैं।

जब हमारे परिचित ज्ञानका आलोक क्रमशः अधिकतर विशुद्ध होकर निर्मल प्रकाशके रूपमें परिणत होता है, तब जान पड़ता है कि बोधराज्यके तल-देशमें भी बोध रहता है अर्थात् तब ज्ञानके विस्तारकी सीमा अनन्त हो जानेके कारण अज्ञानकी सत्ता कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती। तब जान पड़ता है कि सभी शक्तियाँ शुद्ध बोधमय क्षेत्रसे उठती हैं। अतएव अभिव्यक्त शक्तिमात्र ही इच्छास्वरूपा है। यही विराट् महाशक्ति, जिसे इच्छा-शक्ति या ऐश्वरिक शक्तिके रूपसे वर्णन किया गया है, आगम-शास्त्रोंमें जगदम्बा अथवा जगत्प्रसूतिके नामसे वर्णित हुई है। शिवसूत्रकार कहते हैं—

'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।'

संसारका मूलकारण अभीतक वैज्ञानिकोंके दृष्टिपथमें यथार्थरूपसे नहीं आया है। आया होता तो इस कारणरूपा शक्तिको वे इच्छाके रूपमें पहचान सकते, एवं अपनी इच्छाके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध आविष्कार कर चिन्मयधाम अथवा बोधराज्यमें जानेका यथार्थ मार्ग प्राप्त करते। शक्तिको इच्छास्वरूपा न जाननेके कारण वे जगत्-कार्यके मूलमें चैतन्यकी सत्ताका आविष्कार नहीं कर पाते हैं। शक्ति इच्छामयी है या नहीं? इसके जाननेका एकमात्र उपाय यही है कि जिसे हम इच्छा कहते हैं, उसे विशुद्ध और संयत करके उसके द्वारा सांसारिक शक्तिके ऊपर प्रभाव विस्तार किया जा सकता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना। इच्छाके स्फुरणसे यदि बाह्य शक्ति स्तम्भित होती है अथवा निरुद्ध शक्ति

उद्रिक्त होती है तो इससे सिद्ध होता है कि एक ओर जैसे बाह्यशक्ति इच्छामयी है वैसे ही दूसरी ओर इच्छा भी शक्तिरूपा है ! इच्छाके द्वारा अन्तः आंशिकरूपमें जो बाह्यशक्तिके ऊपर क्रिया की जाती है यह वर्तमानकालके वैज्ञानिकोंको अज्ञात नही है । जो योगी अथवा उच्च कोटिके साधक हैं, वे तो इच्छामात्रसे ही किसी भी शक्तिका चाहे जिस प्रकार उपयोग करनेमें समर्थ हैं, जगत्में इसके अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं।

पूर्वोक्त आलोचनासे समझमें आ गया होगा कि इच्छा और शक्ति मूलतः अभिन्न पदार्थ हैं, एवं इनके मूलमें चैतन्यमय प्रकाश नित्यसिद्ध सत्ता अथवा पराशक्तिके रूपमें जाग्रत् है । जिस चैतन्यरूपा अखण्ड सत्तासे वात-विक्षुब्ध समुद्रके वक्षःस्थलपर तरंगोंके उद्गमकी भाँति स्वभावकी प्रेरणासे इच्छामयी शक्तिका आविर्भाव होता है तथा इच्छाके द्वारा क्रमसृष्टिके नियमानुसार क्रियाका विकास होता है, वही 'ईश्वर' पदवाच्य वस्तु है । इच्छारूपा शक्ति कभी उसमें अन्तर्लीन होकर वर्तमान रहती है और कभी उन्मेषको प्राप्त होकर बाह्य गति सम्पादन करते हुए प्रपञ्च-सृष्टिकी सूचना करती है । जड़ जगत्से चिन्मय ईश्वर-सत्ताको प्राप्त होनेके लिये मध्यवर्ती शक्ति अथवा इच्छाभूमिसे होकर ही जाना होगा । विज्ञान-जगत्में जब इस शक्तिका स्वरूप कुछ यथार्थरूपमें प्रकाशित होगा, तब उससे मौलिक चित्सत्ताके सम्बन्धमें उन्हें (वैज्ञानिकोंको) अनुमान करनेका अवसर मिलेगा । अप्रतिहत इच्छा अथवा शक्तिका चैतन्यमय आधार ही ईश्वर है !

सूक्ष्मदृष्टिसे जगत्‌के कार्य-कारण-प्रवाहकी पर्यालोचना करनेपर ज्ञात हो जाता है कि विना कारणके कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। केवल यही बात नहीं, बल्कि कार्य और कारणकी मात्राका समान होना भी अवश्यम्भावी है। किसी प्रकारके कार्यका तत्त्व समझते समय इस नीतिको स्मरण रखना आवश्यक है। प्राच्य दार्शनिकोंने इसी नीतिका अवलम्बन कर कर्मवादकी स्थापना की है। कर्मवादका तात्पर्य स्थूलरूपेण यही है कि कर्मकी प्रकृति और मात्राके अनुसार तज्जनित फलका आविर्भाव होता है। अतएव कर्मद्वारा जिस प्रकार फलका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार फलके द्वारा भी कर्मका अनुमान किया जा सकता है। प्राणि-जगत्‌में सुख-दुःखकी विचित्र लीलाको देख उसके कारणका अन्वेषण करनेपर कर्मकी इस विशेषताको स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। सुख-दुःखरूप फल जिस असाधारण कारणसे उत्पन्न होता है, उसे ही कर्म अथवा अदृष्ट-संस्कार कहते हैं। इससे कोई यह न समझे कि बाह्य-जगत्‌में कोई सत्ता सुख-दुःखका कारण नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि प्रत्येक कार्य अनेकों कारणोंसे उत्पन्न होता है। उनमेंसे अधिकांश ही साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण होते हैं। साधारण कारणोंके समूह समभावसे उपस्थित रहनेपर भी असाधारण कारणके विना निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि यही इस कार्यका मुख्य कारण है, यह सच है कि सुख-दुःखके अनेकों लौकिक कारण होते हैं, किंतु उनके सुख-दुःख उत्पन्न नहीं हो सकते। इसके लिये किसी असाधारण कारणकी सहकारिता आवश्यक है। इसीको दार्शनिक लोग 'कर्म'-नामसे निर्देश करते हैं। जो सुख-दुःख

भोगता है, सुख-दुःखके असाधारण कारण अथवा कर्मका उसीमें रहना युक्तिसंगत है । नहीं तो कार्य और कारणका वैयधिकरण्य-दोष आ पड़ेगा । एक आदमी कर्म करे और दूसरा उसका फल-भोग करे, यह कार्य-कारण-शृङ्खलासे नियन्त्रित भौतिक जगत्में सम्भव नहीं हो सकता। जो अग्निमें हाथ डालता है, उसीका हाथ जलता है, दूसरेका नहीं । इसी प्रकार जो कर्ता होकर सत्-असत्-कर्मका अनुष्ठान करता है, उसीको भोक्ता बनकर अपने सुख-दुःख-रूप फलका अनुभव करना होता है, दूसरेको नहीं ! इसीलिये भोगकी सामग्री उपस्थित रहनेपर भी भोग-साधक कर्मके अभावमें बहुतोंके भाग्यमें इच्छानुरूप भोग-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती । फिर बहुधा देखा जाता है कि बिना चेष्टाके, बिना प्रयासके यहाँतक कि इच्छा और ज्ञानके अभावमें भी, बहुतोंको आशातीत भोग्य वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है । बीजके बोये बिना जैसे वृक्ष नहीं उगता, उसी प्रकार पूर्वकर्म न होनेसे सुख-दुःखकी उत्पत्ति नहीं होती । यह जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड असंख्य प्रकारके जीवोंको वक्षःस्थलपर धारण करके काल-स्रोतमें बहते चले जा रहे हैं तथा उनके सामने अनेक प्रकारके सुख-दुःख उपस्थित करते हैं, इनके पीछे एक विशाल कर्म-शक्ति अनन्त प्रकारकी विचित्रताको साथ लिये वर्तमान है ।

कर्मसे ही फल होता है यह ठीक है; किंतु अचेतन कर्म केवल जड-शक्ति है, वह किसी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, चैतन्य-सत्ताके सान्निध्य और प्रेरणाके बिना कभी परिचालित नहीं हो सकती । लौकिक जगत्में भी जड-शक्तिका स्वातन्त्र्य कहीं उपलब्ध नहीं होता । पीछे कर्ता न हो तो करण या यन्त्र स्वयमेव किसी कार्यमें

प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं हो सकते। जड-शक्ति केवल करण या यन्त्रमात्र है, इसे सभी जानते हैं। यह सत्य है कि अग्निमें दाहिका शक्ति होती है और यह भी सत्य है कि वह स्वधर्मसे ही दाह्य वस्तुको दग्ध करती है, किंतु किसी निर्दिष्ट वस्तुको दग्ध करनेमें अग्निके लिये एक चेतन पुरुषकी आवश्यकता होती है। अग्नि अपने आप स्वतः प्रेरित होकर किसी निर्दिष्ट वस्तुको नहीं जला सकती। कर्म-शक्ति भी इसी प्रकार अग्निके समान जड-शक्ति है, इसीसे स्वाभाविक नियमानुसार सुख-दुःख उत्पन्न होता है। अवश्य ही, जिस आधारपर कर्म संचित होते हैं, सुख-दुःखके भोग भी उसी आधारसे होते हैं, इसके बतानेकी आवश्यकता नहीं; किंतु स्वभावके नियमानुसार फलके उत्पन्न होनेपर भी उसका भोग्यरूपमें आविर्भाव होना किसी प्रबलतर शक्तिद्वारा नियमित होता है। अर्थात् कर्मसे ही फल होनेपर भी उसको व्यवहार-क्षेत्रमें लानेके लिये किसी इच्छाशक्तिसम्पन्न प्रबल सत्ताकी प्रेरणा आवश्यक है। जगत्के अन्तर्यामीरूपमें जिन व्यापक आत्मा अथवा चैतन्य इच्छा-शक्तिका एकमात्र अधिष्ठान है उनके संकल्पसे ही जीव कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। वही कर्मके साक्षी और भोगके साक्षी हैं, एवं उन्हींके ईक्षणके वश कर्म भोगरूपमें परिणत हो भोक्ताके निकट उपस्थित होता है। इसीलिये उनको भोक्ताका कर्म-फल-दाता कहा जाता है। कर्मशक्तिके पीछे जो उसको प्रेरित करनेवाली यह चैतन्यसत्ता कार्य करती है, यही ईश्वर है।

जीव जो कर्म करता है, उसके मूलमें भी ईश्वर-सत्ता है। एवं वह जो फलभोग करता है, उसके भी मूलमें वही ईश्वर-सत्ता है।

मूलमें इस विशुद्ध चैतन्यभावके न रहनेसे एक ओर जहाँ कर्म सम्भव नहीं होता, दूसरी ओर उसी प्रकार फल भी नहीं हो सकता।

इस सत्ताकी प्रेरणा किस प्रकार की है, इसे दृष्टान्तद्वारा दिखाया जाता है। जिस प्रकार सूर्यके आलोकमें आँखवाला पुरुष नाना प्रकारके रंगोंको देखता है, इस देखनेके मूलमें कारणरूपमें दृश्य वस्तुओंका वैचित्र्य रहता है, एवं द्रष्टाकी दृक्शक्ति भी रहती है; परंतु इनके होनेपर भी इस प्रकार विचित्र रंग न दीख पड़ते, यदि दृश्य वस्तु उज्ज्वल आलोकसे आलोकित न होती। इसी प्रकार जीव जो कर्म करते हैं उसका फल भी वे ही भोगते हैं, तथापि ईश्वरकी चैतन्य सत्तामें प्रतिष्ठित न होनेसे कर्म और भोग दोनों ही असम्भव होते। जो ईश्वरको न मानकर केवल कर्मसे ही फलकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके लिये भोगमें वैचित्र्यको सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है।

जगत्में अलङ्घ्य कार्य-कारण-भाव अथवा नियतिको देखकर उसके अधिष्ठाताके रूपमें जिस सत्ताको स्वीकार करना अनिवार्य होता है, वही ईश्वर हैं। जिन्होंने जगत्के तत्त्वका जितना ही सूक्ष्मभावसे विश्लेषण किया है, वे उतना ही स्पष्टरूपसे समझ सके हैं कि जगत्के प्रत्येक विभागमें नियम वर्तमान रहता है। यह नियम अत्यन्त जटिल और दुर्बोध है, तथापि एक भागके नियमके साथ दूसरे विभागके नियमोंका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है जिससे जान पड़ता है कि मूलमें एक ही नियम क्षेत्रभेदसे भिन्न-भिन्न नियमोंके रूपमें परिणत हो गया है। समस्त जगत्में तथा ज्ञान-राज्यमें इस नियमगत ऐक्यका आविष्कार ही विज्ञानकी चरम कीर्ति है। विशाल और वैचित्र्यपूर्ण भिन्न-भिन्न ज्ञानराज्यमें एक ही मूल

नियमकी सत्ता एवं प्रभावको देखकर प्रत्येक विचारशील व्यक्तिकी धारणा होती है कि अनन्त प्रकारके सांसारिक वैचित्र्यके पीछे एक अखण्ड सत्ता विद्यमान है। उसी सत्तासे जब नियमोंका उद्भव होता है, तब वह स्वीकार करना ही पड़ता है कि वह चेतन है तथा वही जगत्की एकमात्र नियामक है। अतएव जो नियमवादी हैं, उन्हें भी नामान्तरसे ईश्वरकी सत्ताको माननेके लिये बाध्य होना पड़ता है। हाँ, तर्कस्थलमें यह कहा जा सकता है कि नियमके साथ नियामकका होना आवश्यक है, ऐसी कोई बात नहीं; क्योंकि यदि नियमको अनादिरूपसे स्वीकार करें तथा वह यदि सचमुच ही अलङ्घ्यरूपमें प्रमाणित हो जाय तो नियमके कर्त्ता या प्रवर्तयिताके रूपमें नियामकके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती। यह शङ्का निराधार भी नहीं है। यथार्थ बात यह है कि जिसे अनादि और अपरिवर्तनीय समझा जाता है, वास्तवमें नियम वैसा नहीं है। साधारण ज्ञानसे नियमका आदि अथवा व्यतिक्रम चाहे अनुभवमें न आवे, किंतु ज्ञानकी निर्मलताके साथ-साथ क्रमशः समझमें आने लगता है कि नियमका आदि है तथा उसका रूपान्तर भी सम्भव है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस अवस्थामें नियमका नियमत्व ही खण्डित हो जाता है। जो इसकी उपलब्धि कर सकते हैं, उनकी समझमें आ सकता है कि बद्ध जीवके लिये जो नियम है वह अधिकारी पुरुषके लिये स्वाधीन इच्छाकी स्फूर्तिमात्र है। जिस अधिकारी पुरुषकी इच्छा सांसारिक नियमके रूपमें आत्म-प्रकाश करती है वही जगत्का ईश्वर है। जड-विज्ञान केवल नियमकी सत्ताको ही उपलब्ध कर सकता है, किंतु जिनकी इच्छा इस

नियमके रूपमें प्रकाशित होती है, उनका पता उसे नहीं रहता। नियमको अनादिरूपमें स्वीकार करनेका कारण यही है कि इच्छाविशेषके प्रभावसे नियमका आदि और अन्त—दोनों स्थल-विशेषमें उपलब्ध हो सकते हैं। अनादि एवं अखण्डनीय भावके ऊपर इच्छाशक्ति अथवा अन्य कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। हाँ, लौकिक दृष्टिसे नियमका अनादित्व अथवा अलङ्घ्यनीयत्व दोनों स्वीकार किये जा सकते हैं।

जो लोग जिज्ञासुभावसे जगत्के इतिहासका अनुसन्धान करते हैं, वे जानते हैं कि सांसारिक दृष्टिसे ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति किसीके भी क्रमिक उत्कर्षकी अवधि दृष्टिगत नहीं होती। शक्ति वस्तुतः अव्यक्त होनेपर भी आधार-विशेषके अवलम्बनसे अभिव्यक्त होती है तथा निर्दिष्ट कार्य करती है। आधार सर्वत्र एक प्रकारका नहीं होता, अतः शक्तिका विकास भी सर्वत्र समानरूपसे नहीं हो सकता। जो आधार जितना निर्मल होता है, जिसकी धारणशक्ति जितनी अधिक होती है, उसमें उसी हिसाबसे शक्तिका विकास होता है। अवश्य ही हम किसी निर्दिष्ट शक्तिके सम्बन्धमें यह बात नहीं करते। ज्ञान और क्रिया, दोनों क्षेत्रोंमें एक ही नियम है, किंतु दोनोंके आधारमें विशेषता होती है, यही इनमें भेद होता है। अव्यक्त ज्ञान-शक्ति जैसे अनन्त है, वैसे ही अव्यक्त क्रिया-शक्ति भी अनन्त है। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसका प्रतिबन्धक भी नहीं होता और उससे कोई कार्य भी निष्पन्न नहीं होता। अतएव क्रिया-सम्पादनमें समर्थ अभिव्यक्त ज्ञान अथवा क्रियाशक्तिका उत्कर्ष आधारके उत्कर्षके ऊपर ही निर्भर करता है। आधार यदि मलिन

और आवरणसे आच्छन्न हो तो शक्तिका विकास भी अच्छी तरह नहीं हो सकेगा । आवरणके दूर होनेपर शक्तिकी अभिव्यक्तिमें विघ्न हट जाते हैं। अतः आवरणशून्य और बाह्य सत्ताके सम्बन्धसे शून्य विशुद्ध उपादानमें जो ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्तिका प्रकाश होता है, वह अपरिच्छिन्न, अप्रतिहत और अनन्त होता है । वस्तुतः यह ईश्वरका ही नामान्तर है । जीवमात्रके भीतर ज्ञान और क्रिया कुछ-न-कुछ अवश्य ही प्रकाशित रहती है । ऐसा न होता तो चेतन जीव जड़से पृथक् नहीं हो सकता ! यही ज्ञान-क्रिया क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आधार-विशेषमें पूर्णरूपसे प्रकाशित हो उठती है । शास्त्रमें शुद्ध आधारमें अभिव्यक्त इस पूर्ण ज्ञान-क्रिया अथवा चैतन्यका ही ईश्वर-नामसे वर्णन किया गया है ।

अलौकिक पर प्राकृतिक घटनाओंका अनुसंधानपूर्वक संग्रह करके जो तत्त्व निर्णय करनेका प्रयास करते हैं, उन्हें मालूम होता है कि बहुधा सुदूर अतीतकालकी अथवा देशान्तरमें हुई घटना और दृश्यके समान कभी-कभी अनागत घटना तथा दृश्य किसी-किसीको प्रत्यक्ष हो जाते हैं ! इस प्रकारकी घटनाएँ विरली नहीं होतीं । इस प्रसङ्गमें ऐसी घटनाओंका उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु सचमुच ऐसी बातें होती हैं, इसका समर्थन अनेकों प्रकारसे किया गया है । इसके तत्त्वकी आलोचना करनेमें हृदय विह्वल हो उठता है । जो दृश्य अबतक सृष्टिके राज्यमें आविर्भूत नहीं हुए, जो घटना अभीतक कहीं नहीं घटी, यदि इस प्रकारके दृश्य अथवा घटनाएँ—जो सांसारिक दृष्टिसे बहुत समय पीछे आविर्भूत होनेवाली हैं—अभी स्पष्टरूपसे तथा यथार्थरूपसे प्रत्यक्ष हो जायँ

तो कोई भी विचारशील व्यक्ति इनके तत्त्वकी मीमांसा नहीं कर सकेगा और मोहित हो जायगा। यथार्थतः जिसकी सत्ता ही नहीं है—व्यावहारिक भावसे ही नहीं, बल्कि प्रतिभासरूपमें भी जो नहीं है, वह वर्तमान ज्ञानमें किस प्रकार आ सकता है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। अतीत ज्ञानके सम्बन्धमें व्यक्तिगत भावसे यह बात इतनी जटिल नहीं है; क्योंकि चित्तमें अनुभूत ज्ञान और क्रियाके संस्कारको स्वीकार करने तथा निमित्त-कारणकी सहकारितासे उसके उद्बोधनको मान लेनेपर अतीतका साक्षात्कार तो बहुत कुछ बोधगम्य हो सकता है। अवश्य ही विश्वव्यापकरूपमें अतीतका ज्ञान व्यापक आधार—जिसमें समस्त संस्कार निहित हैं—के स्वीकार किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे एक विराट् एवं आपेक्षिक नित्यताविशिष्ट आधारके अस्तित्वको स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। जो जीवात्माके 'एकत्ववाद'के सिद्धान्तको मानते हैं, उनकी दृष्टिसे यही वह व्यापक जीव है। सब देशोंके और सब युगोंके नाना जीव इसीके विभिन्न अंशमात्र हैं; किंतु अतीत ज्ञानके द्वारा समष्टि-जीवका अस्तित्व सिद्ध होनेपर भी ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। भविष्यत्-दृश्य अथवा घटना-विषयक प्रत्यक्षसे ईश्वरका अस्तित्व स्वभावतः प्रमाणित होता है; क्योंकि कालके प्रभावसे जो सत्ता अभी उदित नहीं हुई है, उसका दर्शन अतीत दर्शनके समान संस्कारके उद्बोधनद्वारा नहीं हो सकता। संस्कार चित्त अथवा लिंग-शरीररूप आधारमें वर्तमान रहता है तथा उद्बोधक कारणोंके सन्निधानसे जाग्रत् होकर स्मृतिरूपमें परिणत होता है। अवश्य ही आविर्भावकी विशदतासे आभास-ज्ञान स्पष्टताको

प्राप्त होता है—इतना ही नहीं, सृष्टि अपरोक्ष-अनुभूतिरूपमें भी दिखलायी दे सकती है, किंतु अनागत प्रत्यक्षमें चित्त अथवा लिङ्ग-शरीरकी कोई भी उपयोगिता नहीं है। असल बात यह है कि नित्य-कारण-भूमिसे आंशिकभावमें स्रोत निकलता है और वह कार्यरूपमें परिणत हो जाता है। अनागतसे वर्तमानकी ओर जो शक्तिका प्रवाह है, यही कारणकी कार्यावस्थाके प्रति उन्मुखता है। भाव अथवा क्रिया जब अनागत-अवस्थामें रहती है, तब वह कारणके ही अन्तर्गत है। अतएव चित्त अथवा लिङ्ग-शरीरका अन्वेषण करनेसे कारणस्थ भावका पता लगनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। वह अभी न तो काल-स्रोतमें पड़ा है और न वर्तमान अवस्थामें ही उपनीत हुआ है, इसलिये वस्तुतः उसका कोई संस्कार भी नहीं है, इसी कारण चित्त-क्षेत्रमें उसका कोई प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। अतएव अनागत-दर्शनमें चित्त अथवा संस्कार किसीकी जरा-सी भी अपेक्षा नहीं होती। अब प्रश्न यह होता है कि तब अनागत-दर्शन किस प्रकार सम्भव हो सकता है? महर्षि पतञ्जलि इसके उत्तरमें कहते हैं कि अनागत भी वस्तुतः वर्तमानसे भिन्न नहीं है। हमारे लिये जो अनागत है, व्यापक ज्ञानविशिष्ट पुरुषके लिये वह अनागत न होकर वर्तमान ही हो सकता है। इस युक्तिके अनुसार समझा जा सकता है कि जहाँ ज्ञान व्यापकतम है अर्थात् जिस ज्ञानमें किसी प्रकारका आवरण नहीं है, वहाँ कोई भी पदार्थ या घटना अनागत नहीं रह सकती। वस्तुतः जो हमारे सामने

अनागत है वही वहाँ वर्तमान है, यही बात अतीतके विषयमें है। जिस भूमिमें अतीत और अनागत नित्य वर्तमानरूपमें प्रकाशित होते हैं, वही पूर्ण ज्ञान-भूमि है। वहाँ कालका भेद नहीं है, घटनाकी पृथक्ता नहीं है, भावकी विशिष्टता नहीं है और क्रियाका तारतम्य नहीं है, यही कारण-जगत् है। इसका जो अधिष्ठाता है, वही ईश्वर है। अतएव किसी अचिन्त्य कारणसे क्षणमात्रके लिये ईश्वरी सत्ताके साथ जीव-सत्ताकी अभिन्नता सिद्ध होनेपर जीवको उपर्युक्त भविष्य-दर्शन होना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि जीव-भूमिमें जो भविष्यत् है, इस प्रकारकी युक्ति-अवस्थामें ईश्वरीय भूमिसे वही वर्तमानरूपमें प्रकाशित होता है। इससे सिद्ध है कि ज्ञानके पहले एक निर्मल अवस्था होती है, जहाँ उपर्युक्त भविष्यत् भी नित्य वर्तमानरूपमें सदा प्रकाशमान रहता है। इस प्रकारकी एक नित्य वर्तमान अवस्था न रहती तो व्यक्तिविशेषके लिये कभी भी भविष्यत्-दर्शन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव प्रामाणिक भविष्यत्-दर्शनद्वारा ईश्वरीय सत्ताका युक्तिपूर्वक अनुमान किया जा सकता है। ईश्वरका अस्तित्व माननेके लिये यह एक अभ्रान्त प्रमाण है।

किसी कार्यकी उत्पत्तिमें प्रधानतया उपादान और निमित्त यही दो प्रकारके सामर्थ्य देखे जाते हैं। जगत्‌रूपी कार्यका विश्लेषण करते समय ठीक इसी प्रकार दो कारणोंको स्वीकार करना आवश्यक होता है। जिस उपादानसे जगत् निर्मित हुआ है, उसे परमाणु, त्रिगुण, माया या कला किसी भी नामसे पुकारा जाय, उसे जड़ ही मानना होगा; किंतु चेतनके सन्निधान बिना केवल जड उपादान अपने आप कार्यरूपमें

परिणत नहीं हो सकता। यह चेतन-सत्ता ही जगत्-सृष्टिका निमित्त-कारण है, इसीके प्रभावसे जगत्का मूल उपादान विक्षोभको प्राप्त होकर विभिन्न कार्योंके रूपमें परिणत होता है। इस अखिल जगत्का व्यापक निमित्त-कारण ही ईश्वर है। जो लोग निमित्तके विना ही उपादानके विक्षोभ एवं परिणामको स्वीकार करते हैं, वे विपर्यस्त स्वभाववादी हैं क्योंकि अनुसंधान किये विना ही स्वभावकी शरण लेना विचार-शास्त्रकी नीतिके विरुद्ध है। अतएव सृष्टि-प्रवाहमें निमित्तरूपसे ईश्वरका अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है। अवश्य ही दृष्टिके और भी उत्कर्ष होनेपर यह समझमें आता है कि निमित्त और उपादानमें वस्तुगत कोई पार्थक्य नहीं हैं। तब यह भी समझा जाता है कि एक ही चैतन्य-सत्ता अपनी इच्छासे नानारूप धारणकर विचित्र जगत्के रूपमें प्रकाशित होती है।

जगत्की ओर देखनेसे सर्वत्र एवं प्रतिक्षण एक घोर परिवर्तन होता हुआ दिखलायी देता है, यह सर्ववादिसम्मत है। अपरिवर्तनीय द्रष्टाके सामने परिवर्तनकी सार्थकता है। जगद्व्यापी इस शाश्वत परिणामका कोई नित्यद्रष्टा अवश्य है। न होनेसे परिवर्तनका कोई अर्थ ही न रहता। विशुद्ध व्यापक द्रष्टा जो समग्र जगत्के अखिल अभिनयोंको निर्विकाररूपेण प्रत्यक्ष कर रहा है, वही चिन्मय ईश्वर है। कहना नहीं होगा कि इस रूपमें दृक्शक्ति ही अभिव्यक्त है एवं अन्यान्य शक्तियाँ विलीन-अवस्थामें स्थित हैं।

(४)

ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें विचारशील साधारण व्यक्तिके होने योग्य ऊपर जो कुछ बातें कही गयी हैं, वे सभी युक्तिमात्र हैं। इस प्रकारकी बहुतेरी युक्तियाँ शास्त्रमें दिखलायी गयी हैं एवं प्रतीच्य

ईश्वर-विश्वासी पण्डितोंने भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें दिखलायी है, वस्तुतः प्रयोजन होनेपर और भी बहुतेरी युक्तियाँ दिखलायी जा सकती हैं; किंतु इन युक्तियोंके द्वारा कोई कभी ईश्वरमें विश्वास करेगा, इसकी बहुत ही कम आशा है। शास्त्र-वाक्य अथवा अनुभूतिसम्पन्न महापुरुष-के वाक्यसे ईश्वरकी सत्ताके विषयमें उपदेश सुनकर निर्मल और अन्तः-प्रवेशोन्मुख हृदयमें जो अस्फुट श्रद्धाका उदय होता है, विचारके द्वारा उसका समर्थन करना ही युक्तिका उद्देश्य है, किंतु जो आगम-प्रमाण-की प्रमाणताको नहीं मानते, उनके चित्तमें शुष्क युक्तिके द्वारा किसी विषयमें विश्वास उत्पादन करना असम्भव है। युक्ति और विचारका प्रधान कार्य असम्भावना-बोधको दूर करना है। अर्थात् हृदय आप्त-वचन सुनकर स्वभावतः ही जिस विषयमें श्रद्धाशील होता है, वह अयौक्तिक नहीं, बल्कि सम्भवनीय है, यह दिखला देनेपर ही युक्तिका कार्य समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् साधन-प्रणालीद्वारा उसी श्रद्धाके विषयीभूत, महापुरुषोंके उपदिष्ट एवं युक्तिद्वारा समर्थित सत्यको प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इस साधन-प्रणालीमें मूलतः योग ही सर्वप्रधान है। कर्म, ज्ञान, भक्ति-प्रभृति इसीके ही एक-एक पर्वमात्र हैं। योगके अवलम्बनसे जब साध्य तत्त्वको सम्पूर्णरूपसे प्रत्यक्षका विषयीभूत किया जाता है, तब सभी संशय अपने आप ही दूर हो जाते हैं। ज्ञाता और ज्ञेयका मायिक भेद दूर होनेपर विशुद्ध ज्ञानके आलोकमें विशुद्ध चैतन्य-ज्योति अपने-आप ही प्रतिष्ठित होकर अखण्ड स्वप्रकाश-सत्तारूपमें स्थित होती है।

जो साधन-पथके पथिक हैं, उनके सम्मुख ईश्वरका अस्तित्व शुष्क युक्तिद्वारा प्रकाशित नहीं होता। ज्ञानकी जिस भूमिसे हम वर्तमान

अवस्थामें जगत्को देखते हैं जबतक उस भूमिका अतिक्रम नहीं कर पाते, तबतक जगत्का अथवा अपना या तदतीत किसी सत्ताका बोध जैसा अब होता है, तब भी वैसा ही होगा; किंतु एक बार यदि किसी अचिन्त्य कारणवश चित्तमें क्षणमात्रके लिये भी चित्-शक्ति संचारित होकर साथ ही ज्ञानकी भूमिकाका परिवर्तन कर दे, तो एक ही मुहूर्तमें हमारा दर्शन एवं सत्ताबोध अचानक अदृष्टपूर्व नवीन स्वरूप धारण कर लेगा। इस समय हम नास्तिक और घोर अविश्वासी क्यों न हों, लोकोत्तर शक्तिके प्रभावसे एकाएक नवीन मनुष्यके रूपमें परिणत हो सकते हैं। जगत्में जहाँ ईश्वर-दर्शन या सत्य-ज्ञानका उदय हुआ है, वहाँ इसी प्रकारका ही हुआ है, युक्ति-तर्कद्वारा स्वपक्ष और परपक्षके विचारसे कहीं नहीं हुआ। वस्तुतः मनुष्यके जीवनमें ऐसी बहुतेरी अनुभूतियाँ होती हैं, जिनसे मनुष्यके दृष्टि-कोणका परिवर्तन होते कुछ भी देर नहीं लगती।

प्रश्नकर्ता चौथे प्रश्नमें पूछते हैं कि आपके व्यक्तिगत जीवनमें ऐसी कौन-सी घटना घटी है, जिससे ईश्वरकी सत्ता अथवा उसकी करुणाके प्रति विश्वास सुदृढ़ हो सकता है?

मैंने पहले ही कह दिया है कि मैं व्यक्तिगत अनुभूतिको लोगोंमें प्रकाशित करनेमें असमर्थ हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि भलीभाँति उनको पुकारनेपर उनका उत्तर मिलता है, यह निश्चित है। ऐसी-ऐसी विपत्तियोंसे बहुत बार उन्होंने अलौकिक उपायोंसे मेरी रक्षा की है, जिनका प्रतीकार लौकिक उपायोंसे हो ही नहीं सकता था; और जिनका स्मरण आते ही उनकी करुणा और प्रेमका भाव हृदयको अभिभूत कर डालता है। ज्ञानके राज्यमें, कर्मभूमिमें तथा भावके मन्दिरमें उन्हींकी मङ्गलमयी सत्ता एवं शक्तिका प्रतिनियत मैं कितने

रूपोंमें अनुभव करता हूँ, उसके वर्णनका परिशेष कभी नहीं हो सकता।

ये विषय इतने गुह्य और गोपनीय हैं कि इसके सम्बन्धमें साधारणतः किसीके साथ आलोचना करनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। मेरी व्यक्तिगत प्रकृति एक ओर जिस प्रकार विश्वासशील है, दूसरी ओर उसी प्रकार संशयप्रवण है। अतएव मैंने अपने जीवनमें जो कुछ उपलब्ध किया है या कर रहा हूँ, उसको बड़ी ही कठोरताके साथ सब प्रकार प्रमाणकी कसौटीपर जाँचे विना मैंने स्वयं कभी सत्यरूपमें ग्रहण नहीं किया या नहीं करता हूँ। मेरे विश्वासमें जो सत्य है, वह सदा ही सत्य है। अतएव परीक्षा करनेसे उसकी उज्ज्वलता बढ़ती ही है, घटती नहीं। प्रातिभासिक सत्तासे व्यावहारिक सत्ताको ज्ञानालोकमें पृथक् करके पहचाने विना पारमार्थिक सत्यकी ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। श्रीभगवान्‌की कृपा और सद्‌गुरुके अनुग्रहसे इस क्षुद्र हृदयमें प्रतिभाससे व्यवहार तथा व्यवहारसे परमार्थकी ओर जानेका मार्ग कुछ मालूम हुआ है, कुछ-कुछ खुल गया है; परंतु अपने पुरुषार्थरूप उद्यमकी सहायतासे जब उनकी नित्य प्रकृति अन्तरमें जाग उठेगी, तब स्वभावके स्रोतमें चलते-चलते प्रत्येक स्तरमें उनकी उपलब्धि करता रहूँगा एवं सोपान-परम्परासे कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रेमरूपमें नित्य योगके विकाससे उनके अखण्ड सत्त्वमय, ज्ञानमय और आनन्दमय स्वरूपको प्राप्तकर अन्तमें लीला-अवसानमें उनके सर्वभावमय किंतु सर्वभावातीत परमरूपमें स्थित हो सकूँगा—'गुरोः कृपैव केवलम्।'

गङ्गातीर-निवासी एक संत

ईश्वरके होनेमें मुझे कोई संशय नहीं है, इसलिये मैं क्या उत्तर लिखूँ ? प्रमाण चाहते हो तो वेद-शास्त्रोंमें ईश्वरकी सत्ताको कथन करनेवाले अनन्त प्रमाण हैं, वहाँसे देखकर लिख सकते हो ।

१—कर्मफलकी सिद्धिके लिये ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये । कर्म जड है, इसलिये वह फल नहीं दे सकता । तथा ईश्वर जिसको ऊर्ध्व ले जाना चाहता है, उससे साधु कर्म कराता है और जिसको अधः ले जाना चाहता है, उससे असाधु कर्म कराता है। जैसे घटादि पदार्थोंके होनेमें उसके कर्ताको मानना पड़ता है, वैसे ही इस जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंके कर्ता ईश्वरको भी मानना

पड़ेगा। जैसे घर कार्य है, उसी प्रकार जगत् भी कार्य है। और इस जगत्का कारण ईश्वर है।

२—यदि ईश्वरको न मानोगे तो जगत्के नियत कार्य भी न होंगे। जैसे सूर्य तपता है, वायु चलती है, मेघ वर्षा करते हैं इत्यादि। यह सब कार्य ईश्वरकी आज्ञासे होते हैं। यदि ईश्वरको न मानोगे तो मुक्ति आदिकी हानि होगी।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केन० २।५)

हिरण्यकशिपु, रावण, शिशुपाल, कंस आदि ईश्वरको न माननेवाले लोगोंकी कैसी दुर्दशा हुई और वसुदेव, देवकी, प्रह्लाद, विभीषण आदि ईश्वरको माननेवालोंको इस लोकमें द्वन्द्वोंकी निवृत्ति और अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति हुई। इसीलिये ईश्वरको मानना ही श्रेयस्कर है।

ईश्वरको न माननेवाले भी प्रकारान्तरसे ईश्वरको स्वीकार करते हैं, यदि वे स्वीकार नहीं करेंगे तो ईश्वरका अभाव है, यह कैसे कहेंगे? जैसे कोई कहे कि घटका अभाव है। पर जिसने घटको कभी नहीं देखा होगा, वह कभी घटका अभाव नहीं कह सकता; क्योंकि अभावका ज्ञान अनुयोगी-प्रतियोगी-पूर्वक ही हुआ करता है। जिसका अभाव होता है, वह प्रतियोगी है और जिसमें अभाव रहता है, वह अनुयोगी होता है। जैसे घटका अभाव पृथ्वीमें है, उसमें घट प्रतियोगी है और पृथ्वी अनुयोगी है। इसी

प्रकार ईश्वरका अभाव किस अधिकरणमें रहेगा ? यदि पृथ्वीमें कहो तो इसके विरुद्ध प्रमाणोंसे वृहदारण्यकोपनिषद्का अन्तर्यामी ब्राह्मण भरा पड़ा है ।

कारणको न माननेसे कार्य कैसे होगा ? जैसे तुम अपने पिताको कारण नहीं मानोगे तो कार्यरूप तुम कैसे हो गये और जब अपना ही अभाव मान लिया, तब इससे बढ़कर और क्या हानि होगी ? इसलिये पिताको अवश्य मानना पड़ेगा और जब पिताको मान लिया, तब पिताका शरीर भी किसीका कार्य है, अतः परम्परासे ईश्वर ही सबका कारण सिद्ध होगा । ईश्वरसे भिन्न कोई कारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि ईश्वर ही जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, वही पितारूपसे पुत्रको उत्पन्न करता है, कुलाल होकर घटको रचता है, जुलाहा होकर वस्त्र बुनता है । इसी प्रकार सब जगत्को रचता है, यदि ईश्वरसे भिन्न जगत्रूपी कार्यका कोई कारण मानोगे तो एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान नहीं होगा—'येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति' (छान्दोग्य० ६ । १ । ३) इस श्रुतिवाक्यका विरोध होगा । अन्य स्थलमें भी कहा है—

माटीको कारज घट जैसे, माटी ताके बाहिर माहिं ।
जलते फेन तरंग बुद्बुदा, उपजत जलते जुदे सु नाहिं ॥
ऐसे जो जाको है कारज, कारणरूप पिछानहु ताहि ।
कारण ईस सकलको सो मैं लय चिन्तन जानहु विधि याहि ॥

यदि कोई कहे कि शून्य यानी अभाव ही जगत्का कारण है तो सब पदार्थोंमें उस शून्य अभावकी प्रतीति होनी चाहिये; क्योंकि कार्यमें कारण अनुगत होता है । क्या शून्यका तुमने

अनुभव किया है ? यदि नहीं, तो जिस शून्यका अनुभव ही नहीं किया, उसको कारण कैसे कह सकते हो ? यदि यह कहो कि शून्यका अनुभव किया है तो शून्यसे कोई भिन्न अनुभव करनेवाला मानना पड़ेगा और उस चेतनको ही हम ईश्वर मानते हैं। वास्तवमें अभावसे भावकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। जैसे बीजके अभावसे वृक्ष आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, माता-पिताके अभावसे संतानकी उत्पत्ति नहीं होती, इसी प्रकार शून्यसे पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। शून्य तो स्वयं अभावरूप है। उससे भावकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

२—ईश्वरके होनेमें वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि शास्त्र एवं सद्‌गुरु, संत-महात्माओंके अनुभव तथा उनके वचन ही प्रमाण हैं। अनुमान-प्रमाण भी है—जैसे 'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत्' जितने पृथ्वी आदि कार्य पदार्थ हैं, वे सब कर्ताके द्वारा जन्य हैं। भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८।६१)

× × × सदसच्चाहमर्जुन॥
(९।१९)

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
(७।७)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना॥
(९।४)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(१०।२०)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४२)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
(१३।२)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
(१३।२७)

उपनिषदोंमें कहा है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(ईश० १)

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।
(तैत्तिरीय० २।८।१)

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।
(तैत्तिरीय० ३।१।१)

वेदान्त-सिद्धान्तमें सम्पूर्ण कार्यमात्रके प्रति जो कारण हो, उसको साधारण कारण यानी ईश्वर कहते हैं। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, उन लोगोंको अपने पिता, पितामह आदिको भी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि पिता आदिके माननेमें भी शब्द-प्रमाण ही है। इसी प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें भी वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक शास्त्र प्रमाण हैं।

जिस वस्तुका प्रश्न होता है, उसका सामान्य ज्ञान होता है। जैसे उत्तराखण्डके गौरी-फलको कोई नहीं जानता, इसलिये तद्विषयक प्रश्न ही कोई नहीं करता। वैसे ही नास्तिकोंको भी ईश्वरका सामान्य ज्ञान है, इसलिये उनके कथनसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। आस्तिकोंको तो विशेषरूपसे ईश्वरका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार होता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि अवतार ईश्वरके विशेष रूप हैं और सच्चिदानन्द ईश्वरका सामान्य रूप है। आस्तिकोंको ईश्वरके सामान्य और विशेष दोनों रूपोंका साक्षात्कार होता है।

लक्षण और प्रमाणसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है, केवल कथनमात्रसे नहीं; इसलिये अब ईश्वरके कुछ लक्षणोंका कथन किया जाता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ईश्वरका स्वरूप-लक्षण है। 'जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानत्वम्' और 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १। १। २) यह उसका तटस्थ लक्षण है। 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र १। २। १८) जितने अधिदैव आदि पदार्थ हैं, उन सबका अन्तर्यामी अर्थात् नियन्ता है। यह बात श्रुति भी कहती है। सबका नियन्तापना यह परमात्माका ही धर्म है, पृथ्वी आदि अभिमानी देवताओंका धर्म नहीं है। यह युक्तिसिद्ध भी है; क्योंकि 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र ३। २। ३८) इस 'ईश्वरसे ही सम्पूर्ण फलकी प्राप्ति होनेसे' वह सबका अध्यक्ष है और सृष्टि, स्थिति, संहार करनेवाला भी वही है।

जिस ईश्वरको न जाननेसे सब अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और जिसको जाननेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, वही ईश्वर सब प्रकारके जिज्ञासु अधिकारियोंको जिज्ञासितव्य है। जैसे मृत्तिकाके ज्ञानसे मृत्तिकाके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णके सम्पूर्ण आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है, लोहेके ज्ञानसे लोहेके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार एक ईश्वरके ज्ञानसे सम्पूर्ण जगत्‌के पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। जब ईश्वरको केवल कर्ता ही न मानोगे, तब उपर्युक्त दृष्टान्तोंका विरोध होगा। और यदि ईश्वरको केवल उपादान कारण ही मानोगे तो प्रतिज्ञाके वचनोंका विरोध होगा *। जिस एकके श्रवणसे सबका श्रवण हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, जिस एकके मननसे सबका मनन हो जाता है। यह सब प्रतिज्ञा-वचन हैं।

यदि ईश्वरको सर्वज्ञ, शक्तिमान् नहीं मानोगे तो सर्व-सृष्टिका कर्ता ईश्वर नहीं होगा; क्योंकि जिसके प्रति उपादान-कारणका अपरोक्ष ज्ञान हो और जिसमें इच्छा एवं यत्न हो, वही कर्ता कहलाता है। मायाके तमोगुणयुक्त होनेसे ईश्वर जगत्‌का

* 'येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति××× ॥'
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥

(छान्दोग्य० ६ । १ । ३, ४, ५)

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

(छान्दोग्य० ६ । २ । १)

उपादान-कारण है, रजोगुणयुक्त होनेसे ईश्वर जगत्का स्रष्टा है और सत्त्वगुणयुक्त हुआ वही सर्वज्ञ है।

ब्रह्म (ईश्वर) प्रपञ्चका उपादान है। जो उपादान होता है, वह कार्यमें अनुगत होता है, जैसे घटका मृत्तिका उपादान-कारण है, वह घटमें अनुगत है, इसी प्रकार ईश्वर सब प्रपञ्चका उपादान-कारण है इसलिये वह सबमें अनुगत है। जैसे 'घटः सन् पटः सन्' घट है, पट है, यह सत्ताकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार 'घट प्रतीत होता है,' 'पट प्रतीत होता है,' यह चेतनताकी प्रतीति है और 'घट प्रिय है, पट प्रिय है' यह आनन्दकी प्रतीति है। ये सब ईश्वरके सच्चिदानन्दस्वरूपका ही बोध कराते हैं। ईश्वर ही सब पदार्थोंमें पूर्ण होकर व्यापकरूपसे प्रतीत हो रहा है, जैसे घटमें नेत्रोंसे मृत्तिकाकी ही प्रतीति होती है, घट मानना मिथ्या है, इसी प्रकार सब जगह सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ही प्रतीति होती है। नाम-रूपात्मक जगत् वास्तवमें परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है, यह बात छान्दोग्य-उपनिषद्में श्वेतकेतुके प्रति उद्दालक-ऋषिने बहुत विस्तारके साथ वर्णन की है।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वरका स्थूल शरीर है और सम्पूर्ण समष्टि सूक्ष्म शरीर ईश्वरका सूक्ष्म शरीर है, एवं माया उसका कारण-शरीर है। ईश्वरके इन तीनों शरीरोंके अन्तर्गत ही सम्पूर्ण व्यष्टि-शरीर एवं सम्पूर्ण प्रपञ्च है। जैसे खेतमें अलग-अलग क्यारे होते हैं और वह खेत सब क्यारोंमें अनुगत है; इसी प्रकार सब व्यष्टि-शरीरोंमें ईश्वर अनुगत है। जब ईश्वरको न मानोगे, तब अपनेको तथा इस जगत्को भी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यह सब ईश्वर करके ही व्याप्त है। ईश्वरके निषेधसे सबका निषेध होगा। अपना शरीर तथा जगत् प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, इसलिये उसका अभाव नास्तिकको भी

इष्ट नहीं है, इस न्यायसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है । यदि कोई यह कहे कि जो प्रतीत होता है वही हुआ करता है, जो प्रतीत नहीं होता वह होता ही नहीं, उसके उत्तरमें ये आठ दृष्टान्त दिये जाते हैं ।

'दूर, समीप, इन्द्रियको हान । मन चञ्चल, सूक्षम, विवधान ।
तिरोधान, सजाती-संग । अष्ट हेत धारो चित अंग ॥'

(१) दूर—जैसे पक्षी उड़ता हुआ आकाशमें दूर चला जाता है तब प्रतीत नहीं होता, परंतु ऐसा नहीं कहा जाता कि पक्षी नहीं है ।

(२) *समीप*—जैसे नेत्रोंमें अञ्जन अत्यन्त समीप है, किंतु अपनेको प्रतीत नहीं होता तो भी अञ्जन नहीं है यह नहीं कह सकते ।

(३) *इन्द्रियको हान*—अंधा रूपको नहीं देखता है तो भी रूपका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि नेत्रवाले रूपको देखते हैं ।

(४) *मन चञ्चल*—मनके चञ्चल होनेसे पदार्थ प्रतीत नहीं होते तो भी पदार्थोंका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि पदार्थ हैं ।

(५) *सूक्ष्म*—सूक्ष्म परमाणु प्रतीत नहीं होते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि परमाणु हैं ।

(६) *व्यवधान*—जैसे राजमहलमें परदेके अन्दर रानी बैठी हुई दीखती नहीं, तो भी रानीका अभाव नहीं कहा जाता ।

(७) *तिरोधान*—तारे दिनमें नहीं दीखते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि सूर्यके प्रकाशसे वे नहीं दीखते ।

(८) *सजातीय-सङ्ग*—वर्षाका जल तो तालाब या नदीमें मिल जाता है इससे उसकी अलग प्रतीति नहीं होती, किंतु यह नहीं कहा जाता कि वृष्टिका जल उनमें नहीं है ।

इन सबको अन्य लोगोंके न देख सकनेपर भी योगी पुरुष इन्हें देखता है ।

इसी प्रकार विचाररूपी नेत्रोंसे रहित जो अनीश्वरवादी हैं, वे ईश्वरको नहीं मानते तो भी ईश्वरका अभाव नहीं हो सकता; क्योंकि जो विचारवान् आस्तिक पुरुष हैं, वे ईश्वरको अपने आत्मरूपसे सर्वत्र देखते हैं ।

गुरु-ग्रन्थ साहबमें भी ईश्वर-सिद्धिके लिये अनेक प्रमाण स्थल-स्थलपर दिये गये हैं, उनमेंसे कुछ दिग्दर्शनमात्र नीचे लिखे जाते हैं ।

'यह जो दीखे अम्बर तारे, किन ओ चीते चीतनहारे ।'

यह जो आकाशमें तारे लगे हैं वह किस चितेरेने चित्रित किये हैं, इस रीतिसे इनके कर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है ।

'तू कर्ता सच्यार मेढा साँई ।'

हे परमात्मन् ! तू सर्व जगत्का कर्ता है और सच्चा है अर्थात् आप्तवक्ता और मेरा स्वामी है । प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए गुरु नानक साहब कहते हैं—

'एक ॐ सतनाम कर्त्ता पुरुष निर्भउ, निर्वैर ।
अकालमूरत अजूनि सैभं गुरुप्रसाद जप ॥'

अर्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म जो परमात्मा है, वही हमारा उपास्य है, वह कैसा परमात्मा है कि वह ॐस्वरूप है । अब उसका स्वरूप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण कहते हैं । सतनाम अर्थात् सत् है स्वरूप जिसका, ऐसा कहनेसे उसके स्वरूप-लक्षणका बोध हुआ और कर्तासे तटस्थ-लक्षण कहा अर्थात् नाममात्र जो जगत् है, उसका वह कर्ता है । यदि कहो कर्ता प्रधान होगा तो इसका उत्तर यह

है कि 'नहीं', पूर्ण होनेसे पुरुष ही कर्ता है, उसीको उपादान-कारण भी कहते हैं। फिर वह कैसा है कि जिसको किसीका भय नहीं है, किसीसे वैर नहीं है। जिसका कालसे रहित स्वरूप है, जो मृत्युका भी मृत्यु है। वह अजूनि यानी कारणसे रहित है। जिसका कोई कारण नहीं है और वह सबका कारण है। सैभं अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। 'गुरुप्रसाद' यानी गुरुकृपासे ही प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहजी कहते हैं—

'श्रीअसकेत जगत्के ईस' शोभायमान तलवारका चिह्न है जिसकी ध्वजामें, ऐसा सर्व जगत्का नियन्ता ईश्वर है।

गुरु गोविन्दसिंहका तवप्रसाद सवैया—

'दीननकी प्रतिपाल करै नित, संत उबार गनीमन गारै।
पक्षि पसू नग नाग नराधिप, सर्व समै सबको प्रतिपारै॥
पोषत है जलमें, थलमें, पलमें पलके नहीं कर्म बिचारै।
दीनदयाल दया निधि दोषन देखत हैं पर देत न हारै॥'

मूलश्लोक सुखमनी सोलवाँ—गुरुनानक साहब कहते हैं—

'आदि सच, जुगादि सच, है भी सच, नानक होसी भी सच।'
सृष्टिकी उत्पत्तिसे प्रथम वह परमात्मा सत् था।
'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'

(छान्दोग्य० ६। २। १)

सत्ययुग आदिके पूर्व इच्छा-कालमें वह परमात्मा सत् हुआ। 'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय' वह परमात्मा वर्तमानकालमें भी सत् है और गुरु नानकजी कहते हैं वह भविष्यमें भी सत् ही रहेगा। इसी मूल-श्लोककी व्याख्यामें लिखते हैं—

ई० स० म० १६—

चरण सत सत परसनहार, पूजा सत सत सेवदार ।
दरसन सत सत पेखनहार, नाम सत सत ध्यावनहार ॥
आप सत सत्त सब धारी, आपे गुण आपे गुणकारी ।
शब्द सत्त सत प्रवकता, सुरत सत्त सत्त जस सुनता ॥
बूझनहारको सत सब होय, नानक सत्त सत्त प्रभु सोय ।

इस प्रकार जाननेवालेको सर्वत्र सत् परमात्मा ही प्रतीत होता है; क्योंकि भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालोंमें वह सत् है । और भी कहा है—

आदि पूर्ण मध्य पूर्ण अन्त पूर्ण परमेश्वर है ।
सिमरन्त सन्त सर्वत रमणं, नानक अघ नासन जगदीश्वर है ॥

× × × ×

एक कृष्णं सर्व देवा, देव देवात आत्मा, आत्मा वासुदेवस्य ।
जे को जाणेभ्यो । नानक ताका दास है सोई निरञ्जन देव ।

× × × ×

वासुदेव सर्वत्रमें ऊन न कतहु उठाय ।
अन्दर बाहिर सदा संग, नानक काहे दुराय ॥

नानकजी कहते हैं कि जो सबमें निवास करता है अथवा जिसमें सब निवास करते हैं, वह वासुदेव सर्वत्र है । किसी जगह उसका अभाव नहीं है; क्योंकि वह अंदर-बाहर सदा सङ्ग रहनेवाला है । हे नास्तिको ! ऐसे परमात्माको तुम क्यों छिपाते हो ? वह परमात्मा तुम्हारे छिपानेपर छिप नहीं सकता । जैसे उल्लू सूर्यका अभाव कथन करता है, परंतु उल्लूके कहनेमात्रसे सूर्यका अभाव नहीं हो सकता । सूर्य तो अपना अभाव करनेवाले उल्लूको भी अपना प्रकाश ही देता है, इसी प्रकार सर्व-

प्रकाशक ईश्वरका नास्तिक लोग अभाव करते हैं, यह उनकी भूल है; क्योंकि नास्तिकोंकी सिद्धि भी ईश्वरसे ही होती है, इसलिये ईश्वरको सदा मानना चाहिये।

जल थल महि अल पूर्या, स्वामी सिरजनहार।
अनेक भाँति होय पसर्या नानक एकुंकार॥

जल, मरुभूमि, पृथ्वी, आकाशादि पञ्चभूतोंमें वह परमात्मा पूर्ण हो रहा है। वह परमात्मा सबका नियन्ता है और वह नाना रूपोंसे संसाररूप होकर विस्तृत हो रहा है, उसका ॐकार नाम है। इसलिये ईश्वरसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

वासुदेवः सर्वमिति। (गीता ७।१९)
सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (उपनिषद्)

४—जिस ईश्वरकी कृपासे हम आपलोगोंमेंसे निकलकर इस वेषमें आये और आपलोग हमलोगोंको नमस्कार करते हैं तथा आपके परिचितलोग आपको भक्त जानकर नमस्कार करते हैं, यह सब ईश्वरकी ही दया है और ईश्वरमें विश्वास बढ़ानेवाली ही बातें हैं।

घटनाएँ

(क) एक संत कई वर्ष पहले मुझे मिले थे, उन्होंने अपने जीवनकी एक घटना मुझे सुनायी थी, जिससे ईश्वरकी सत्ता और उसकी दयामें विश्वास विशेष बढ़ता है।

वे संत बद्रीनारायणके दर्शनार्थ गये थे, वहाँसे लौटते समय रास्तेमें उनको दस्त बहुत लगने लगे, जिससे वे बहुत निर्बल हो गये; तब वे एक गुफामें बेहोश होकर पड़ गये। इसके बाद

एक पुरुष उनके पास आकर बोला कि 'महात्माजी! यह दवा खाइये और इसका पथ्य हम भेज देंगे।' तदुपरान्त दो घंटे बाद दही और भात लेकर वही पुरुष आया और उन महात्माको देकर चला गया। इसी प्रकार तीन दिनोंतक वह पुरुष ठीक समयपर आकर दवा तथा पथ्य उन महात्माको बराबर देता रहा। जब महात्माके शरीरमें कुछ शक्तिका संचार हुआ और वे एक दिन गुफासे बाहर निकले, तब उनको अपने चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ दिखायी दी। कहीं कोई मनुष्य या पशु-पक्षी आदि वस्तु नजर नहीं आयी। तब तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'यह आदमी कौन है और मेरे लिये खानेको कहाँसे लाता है?' इसके बाद जब वह पुरुष खानेके लिये सामान लेकर आया, तब उससे महात्माने पूछा कि 'आप कौन हैं? कहाँसे आते हैं? कहाँ रहते हैं?' इसके उत्तरमें उस पुरुषने कहा कि 'आप खा लीजिये, इन प्रश्नोंसे क्या प्रयोजन है?' तब महात्माने बड़े आग्रहसे कहा कि 'आप अपना हाल बता देंगे तभी खायँगे, नहीं तो नहीं खायँगे।' इसके बाद वह पुरुष उस महात्माको उसी जगह चतुर्भुज विष्णु भगवान्‌के रूपमें दीखने लगा और बोला कि 'मैं भगवान् हूँ'। तब वे महात्मा बोले कि 'तो आप यहाँ साक्षात्‌रूपसे सेवा करते हैं, पर अन्य जगह आप साक्षात्‌रूपसे सेवा क्यों नहीं करते?' तब भगवान् बोले कि 'जहाँ कोई नहीं होता, वहाँ हम साक्षात्‌रूपसे सेवा करते हैं और जिस जगह अन्य कोई होते हैं; वहाँ हम अपने भक्तोंके द्वारा सेवा कराते हैं।' इससे यही सिद्ध हुआ कि ईश्वर ही सबका योगक्षेम करता है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

(ख) रियासत पटियालामें अमरगढ़ नामक एक कस्बा है। उसमें एक ब्राह्मण रहता था, जिसकी टाँगें जुड़ी हुई थीं इसलिये वह लकड़ीके खड़ाऊँके सहारे बैठा-बैठा ही चला करता था। उसने अपने मनमें विचार किया कि मैं श्रीजगन्नाथ भगवान्के दर्शन करूँ तो मेरा जीवन सार्थक हो जाय। पश्चात् उसने अपने घरवालोंसे कहा कि 'मुझे श्रीजगन्नाथजी जानेके लिये खर्च दे दो, क्योंकि मुझे वहाँ दर्शन करनेके लिये जाना है।' घरवालोंने कहा कि 'तुम दिनभरमें एक मीलसे अधिक तो जा नहीं सकते, फिर इतनी दूर श्रीजगन्नाथधाम कैसे जाओगे ?' उस समय रेलगाड़ी तो थी नहीं, इसलिये उसके सम्बन्धियोंने भी जानेकी राय नहीं दी, परंतु उसने किसीकी बात नहीं सुनी। इसपर सभी गाँववालोंने भी उसे जानेसे बहुत रोका, परंतु वह अपने दृढ़ संकल्पसे जरा भी न डिगा और जानेके लिये तैयार हो गया। तब उसके घरवालोंने उसको रास्तेके लिये कुछ खर्च दे दिया और वह अपना थोड़ा-सा सामान पीठपर बाँधकर प्रभुका स्मरण करके घरसे चल पड़ा। चलते-चलते कुछ दूर जानेके बाद वह थक गया और जंगलमें एक वृक्षके नीचे जाकर छायामें विश्राम करने लगा। इतनेमें उसी जगह एक पुरुषने आकर उससे पूछा कि 'तुम कौन हो और कहाँ जा रहे हो ?' इसके उत्तरमें उसने कहा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ और श्रीजगन्नाथ भगवान्के दर्शनके लिये जा रहा हूँ।' तब उस पुरुषने कहा कि 'ब्राह्मण-

देवता ! तुम वहाँतक कैसे जा सकोगे, तुममें चलनेकी शक्ति तो है ही नहीं, अच्छा हो तुम यहींसे लौट जाओ ।' इस प्रकार उस पुरुषने बहुत मने किया, तब ब्राह्मण बोला कि 'मैंने तो अपना शरीर श्रीजगन्नाथजीके अर्पण कर दिया है, इसलिये बिना उनके दर्शन किये मैं लौट नहीं सकता ।' इसपर उस पुरुषने कहा कि 'यदि श्रीजगन्नाथजीके दर्शन तुम्हें इसी जगह हो जायँ तब तो लौट जाओगे ?' तब ब्राह्मण बोला कि 'हमको तो श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने हैं, कहींपर हो जायँ ।' तदनन्तर उस ब्राह्मणको वही पुरुष भगवान् श्रीजगन्नाथजीके रूपमें दीखने लगा । ब्राह्मणने श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके उनसे कहा कि 'हे नाथ ! आपके दर्शन तो मुझे हो गये हैं, परंतु मेरे गाँववाले इस बातको नहीं मानेंगे, इसलिये आप कोई चमत्कार दिखलाइये जिससे उनके मनमें सन्देह न रहे ।' तब भगवान्‌ने उसकी एँड़ीपर अपना चरण रखकर एक झटका देकर उसे सीधा, सुन्दर पुरुष बना दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर वह ब्राह्मण भगवत्प्रेमसे प्लावित होकर उनकी अहैतुकी असीम दयाका तथा उनके माधुर्यरूपका चिन्तन करता हुआ अपने पैरोंसे चलकर घर पहुँचा और यह घटना सबसे कही, तब सब लोगोंने इस बातको मान लिया । इस घटनाको हुए करीब सत्तर-अस्सी वर्ष ही हुए होंगे । उस ब्राह्मणकी संतान उसी ग्राममें अभीतक मौजूद है । यह घटना भी ईश्वरकी सत्ता और उनकी विशेष दयाकी परिचायक है ।

(ग) थोड़े ही वर्ष पहलेकी बहुत प्रसिद्ध वृन्दावनकी घटना है । श्रीनारायण स्वामीजी एक बड़े प्रसिद्ध भक्त हुए थे, जिनके

बनाये हुए बहुत-से पद तथा दोहे आजकल बहुत प्रचलित हैं। उन्हीं महात्माकी एक अमृतसरमें रहनेवाली कुबड़ी शिष्या थी। वह प्रायः प्रतिवर्ष श्रावणके झूलोंके समय वृन्दावन जाया करती और वहाँपर नारायण स्वामीकी मढ़ीपर रास कराया करती थी। एक समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप बननेवालेसे रासके समयमें उस कुबड़ी माईने प्रार्थना की कि 'भगवन्! मथुरामें रहनेवाली कुबड़ीकी कूबड़ तो भगवान्ने तत्काल दूर कर दी थी, आप भी भगवान् हैं, इसलिये मेरी कमर भी सीधी कर दीजिये। इतनेमें जो भगवान्के रूप बने थे, उन्होंने आकर उस कुबड़ी माईके कमरमें एक लात मारी, जिससे तत्काल उसकी कमर सीधी हो गयी। यह थोड़े ही वर्षोंकी घटना है, जिसे बहुत लोग जानते हैं। हमें भी एक महात्माने यह बात उस कुबड़ी माईकी जबानी सुनी हुई सुनायी थी। सिद्धान्तसे भी यह कोई असम्भव या दुर्घट बात नहीं है। यह घटना भी ईश्वरकी सत्ता एवं उसकी विशेष दयाको प्रकट करती है। तात्पर्य यह कि जिसका ईश्वरकी सत्ता और उसकी दयापर पूर्ण विश्वास है, उसको उससे लाभ भी पूर्ण होता है। अनेक भक्तोंकी जिन घटनाओंका वर्णन सुना जाता है, वे सब ध्रुव सत्य हैं। इसलिये ईश्वरमें और उसकी दयामें पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। इसमें किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं करना चाहिये; क्योंकि भगवान्ने गीतामें कहा है 'संशयात्मा विनश्यति' (४।४०) संशयवाला पुरुष विनाशको प्राप्त होता है।

(घ) सं० १९६० में हरिद्वारका कुम्भ था। यह हमारे आँखों देखी बात है। रात्रिमें एक बेरीके वृक्षके नीचे हमलोग नेत्र मूँदे

हुए ध्यानमें बैठे थे। उसी समय एक सिंह हमलोगोंके पास आ गया और गरजने लगा। हमने कभी सिंहकी गर्जना सुनी नहीं थी, इसलिये हमें डर नहीं लगा। और हमने अपने वस्त्रको हिलाकर थोड़ा शब्द किया, जिससे वह सिंह पीछे हट गया। इतनेमें वहाँ हल्ला होने लगा, तब किसी महात्माने आकर हमसे कहा 'अभी यहाँ सिंह आया था।' इसी प्रकार कई वार सर्प हमारे शरीरपर चढ़ गये, चोर भी हमारे पास आये। उस समय हमारी सहायता करनेवाला कोई व्यक्ति हमारे पास नहीं था और जब हमने ईश्वरका स्मरण किया, तब उसने हमारी रक्षा की। इसलिये ईश्वर सत्य है! सत्य है! सत्य है! ईश्वरपर अवश्य विश्वास करना चाहिये।

जब देवताओंको अपनी विजय देखकर अभिमान हुआ, तब उनका मान भङ्ग करनेके लिये उमादेवीके रूपमें वहाँपर ईश्वर प्रकट हुए, यह कथा 'केन-उपनिषद्'में विस्तारपूर्वक वर्णन की गयी है। प्रह्लादके लिये वे खंभेमेंसे प्रकट हो गये; क्योंकि वे सब जगह व्याप्त हैं। द्रौपदी, गजेन्द्र, ध्रुव आदिकी कथाओंको पढ़ने, सुनने और मनन करनेसे उनकी सत्ता तथा दयामें विश्वास अधिक होता है। जिस समय, जिस जगह दृढ़ विश्वासपूर्वक उन्हें पुकारो, उसी समय वहींपर वे प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं।

एक ब्राह्मण बड़ा गरीब था, उसके पास कुछ भी न था; किंतु उसके मनमें यह इच्छा हुई कि मैं किसी प्रकारसे राजाके दर्शन करूँ। इसी चिन्तामें वह दिन-रात दुखी रहा करता। वह यह बात जानता था कि मुझ-जैसे कँगलेको राजाके पास कौन जाने देगा? एक दिन वह एक महात्माके पास जाकर उनसे बोला कि

'महाराज ! मुझे राजाके दर्शन कैसे हों, मुझे इसी बातकी चिन्ता हर समय लगी रहती है ।' तब उस महात्माने कहा कि 'भाई ! राजाका मकान बन रहा है, उसमें जाकर कुछ भी मजूरी न लेकर राजाके दर्शनके लिये मन लगाकर खूब उत्साहपूर्वक काम करते रहो। ऐसा करते रहनेसे किसी दिन राजाके दर्शन भी हो जायँगे ।' यह बात सुनकर वह पुरुष राजाके मकानमें प्रेमपूर्वक काम करने लगा। संध्या-समय जब अन्य सब मजदूरोंको मजदूरी दी गयी, तब उस ब्राह्मणको भी बुलाकर मजदूरी देने लगे। तब वह बोला कि 'मैं तो कुछ भी नहीं लूँगा; क्योंकि मैं तो केवल महाराजाके लिये ही काम करता हूँ ।' जब इस प्रकारसे काम करते हुए कई दिन बीत गये, तब बढ़ते-बढ़ते यह बात राजाके पास पहुँची कि 'एक मजूर कुछ भी मजदूरी न लेकर केवल आपके दर्शनके लिये ही काम करता है ।' इस बातको सुनकर राजा बोला कि 'उस मजूरको मेरे पास ले आओ' जब वह ब्राह्मण राजाके सामने गया, तब राजाने उससे पूछा कि 'तुम मुझसे क्या चाहते हो ?' इसपर वह ब्राह्मण बोला कि 'मुझको तो आपके दर्शनकी इच्छा थी, सो हो गये, अब कुछ भी इच्छा नहीं है ।' राजाने उसको बहुत-से द्रव्यादि पदार्थ देने चाहे किंतु उसने कुछ भी नहीं लिया। तब राजाने उसको अपने बराबरका अधिकार देकर अपने सदृश बना लिया।

तात्पर्य यह है कि जो लोग धन, मान, स्त्री, पुत्रादि सांसारिक पदार्थोंकी कामना करके ईश्वरकी आराधना करते हैं, वे तो राजाके मजदूरोंकी भाँति नियत किये हुए पैसे पानेके ही अधिकारी हैं; पर जो निष्काम भक्त केवल ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये ही कर्म या

उपासनादि करते हैं, परमेश्वर इस लोकमें ध्रुव-प्रह्लादकी भाँति उनके द्वन्द्वोंकी निवृत्ति करके अन्तमें उन्हें अपने धाम या मोक्ष-पदकी प्राप्ति करा देते हैं।

इसलिये ईश्वरकी शरण होकर निष्काम भावसे उनकी भक्ति करनी चाहिये। कलियुगमें यही सबसे सरल और सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

जैं प्राणी 'हौं' 'मैं' तजी, कर्ता राम पिछान।
कह नानक वह मुक्त नर, ए मन साची जान॥

जिस व्यक्तिने अपने साढ़े तीन हाथके शरीरके अहंकारको त्याग दिया है और सबके कर्ता ईश्वरको तत्त्वसे जान लिया है, गुरु नानकजी कहते हैं 'अरे मन! वह मनुष्य मुक्तस्वरूप ही है, यह बात सत्य समझ।'

एक राजा था, उसने अपने देशमें ढिंढोरा पिटवा दिया कि 'जो व्यक्ति दो घंटेके अंदर हमारे पास आ जायगा, उसको हम अपना राज्य दे देंगे।' ऐसा कहलाकर उस राजाने अपने बैठनेकी जगहके बीचके रास्तेमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके उत्तम-से-उत्तम भोग्य पदार्थ अपने पास आनेवालोंको मुफ्तमें भोगनेके लिये रखवा दिये, जैसे अच्छे-अच्छे गायन गानेवाली सुन्दर अप्सराओंके सदृश युवती स्त्रियाँ तथा फोनोग्राफ, हारमोनियम, तम्बूरे, सितार, वीणा, मृदङ्ग आदि अनेक वाद्य बजानेवाले प्रवीण लोग नाना प्रकारके गायनके साथ वाद्य बजाकर मनको मोहित करने लगे। मखमली गद्दोंकी शय्या एवं मनको लुभानेवाली इन्द्रकी अप्सराओंको भी अपने रूप-लावण्य और मन्द मुस्कानसे मात करनेवाली युवती

स्त्रियाँ अपनी ओर आकर्षित कर रही थीं। अनेक प्रकारके नाटक, सिनेमा तथा नेत्रोंको मोहनेवाले सुन्दर-सुन्दर दृश्य पदार्थ रखवा दिये कि वे देखनेवालोंको दूर जाने ही नहीं देते। खानेके लिये मेवा, मिष्टान्न, फल आदि इतनी सामग्री एकत्रित कर दी गयी कि उनकी संख्या ही नहीं की जाती तथा उनके रसास्वादन किये बिना ही मुँहमें पानी भर आता है। इसी प्रकार सुगन्धके लिये इत्र, फुलैल, एसेंस, पुष्प, बाग-बगीचे ऐसे रचे गये कि वहाँसे हटनेको चित्त ही नहीं चाहता। यह तो इन्द्रियोंके कुछ विषय हुए। अब मनको फँसानेके लिये भी नाना प्रकारकी सामग्री एकत्र कर दी गयी। इन सब मनोमोहक सामग्रियोंके यथेच्छ उपभोगका आनन्द बिना ही कुछ दिये करनेकी खुली आज्ञा राजाने सबके लिये दे दी। साथ ही यह भी कह दिया गया कि दो घंटे पूरे होनेपर सबको जबरदस्ती बाहर निकाल दिया जायगा।

हजारों-लाखोंकी संख्यामें लोग राजासे मिलनेके लिये वहाँ एकत्र हो गये। सबने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार अपना मन उन भोग्य वस्तुओंके उपभोगमें लगा दिया। अधिकांश तो उनमें इतने निमग्न हो गये कि राजाके पास जाना ही भूल गये। कुछ बुद्धिमान् थे, उन्होंने विचार किया कि अभी तो समय बहुत है, इन पदार्थोंका उपभोग कर लें। ठीक समयपर राजाके पास पहुँचकर राज्य ले लेंगे। ऐसा विचारकर वे भी उन भोग्य सामग्रियोंमें ही लिप्त हो गये। उनमेंसे किसी एक अति बुद्धिमान् व्यक्तिने ऐसा विचार किया कि यह सब सामग्री तो राजाकी है और राजाके पास जानेसे जब हम स्वयं राज्यके मालिक ही हो जायँगे, फिर यह सब सामग्री आप ही

हमारी हो जायगी, तब इनका मनचाहा उपभोग कर लेंगे, ऐसा विचारकर वह व्यक्ति किसी भी ओर जरा भी न ताक सीधा तेजीसे दौड़कर राजाके पास पहुँच गया। राजासे भेंट होते ही राजाने अपनी पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार उसको राज्य देकर स्वयं वनकी राह ली।

तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये कि ईश्वररूपी राजाने मनुष्योंके लिये सम्पूर्ण भोग्य पदार्थ रचकर उनको आज्ञा कर दी कि जो जीव मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके इन सब पदार्थोंसे मोह हटाकर केवल मेरे परायण हो जायगा, उसे मैं अपने परम धामका मालिक बना दूँगा या उसे परमपद यानी मोक्षपदकी प्राप्ति करा दूँगा। परम दयालु ईश्वरकी ऐसी आज्ञा होनेपर भी मायामरीचिकामें मोहित रहनेवाले अधिकांश जीव मायिक पदार्थोंके उपभोगमें ही अपना जीवन नष्ट कर देते हैं। कुछ समझदार लोग ऐसा विचार करते हैं कि अन्त समयमें ईश्वरमें प्रेम करके संसारी पदार्थोंसे मोह हटा लेंगे; किंतु जैसे दो घंटेकी अवधिके समाप्त होते ही उन लोगोंको धक्के देकर निकाल दिया गया इसी प्रकार श्वासोंकी अवधि पूरी होते ही इन जीवोंको कालदेव जबरदस्ती यहाँसे ले जाकर उनके अपने-अपने कर्मानुसार चौरासी लक्ष योनियोंके चक्करमें भ्रमण करायेंगे। नचिकेताके सदृश कोई विरला ही वैराग्यवान् पुरुष ब्रह्मलोकपर्यन्तके सम्पूर्ण भोग्य-पदार्थोंको नाशवान् समझकर उनमें दोषदृष्टि करके ईश्वरके भजन-ध्यानके परायण होगा तो उसको इसी जन्ममें ईश्वरका साक्षात्कार होकर परमपदकी प्राप्ति होगी।

हरिः ॐ तत्सत्

स्वामी श्रीअभेदानन्दजी, अध्यक्ष श्रीरामकृष्ण वेदान्त-आश्रम

१—ईश्वर हमारे प्राण एवं चेतनाका अनन्त स्रोत है तथा हमारे आत्माका आत्मा है। इसलिये हमें उसके अस्तित्वमें विश्वास करना चाहिये। हम उसीके अंदर रहते हैं, उसीके अंदर चलते-फिरते हैं और उसीके अंदर जीते हैं; परंतु हमें ऐसे ईश्वरकी सत्तामें विश्वास नहीं करना चाहिये, जिसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि वह इस बाह्य जगत्को शून्यमेंसे उत्पन्न करता है और जो अपने धाममें सिंहासनासीन होकर पापियोंको नरककी ज्वालामें अनन्त कालतक जलाता है और पुण्यात्माओंको अक्षय स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति कराता है। इस प्रकारका ईश्वर साम्प्रदायिक सिद्धान्तों एवं विधि-निषेधोंके पोषक प्रचारकोंकी कल्पनामें ही रहता है।

ईश्वर वह महान् समष्टि है, जिसके हम सारे जीव क्षुद्रातिक्षुद्र अंश मात्र हैं। वह सच्चिदानन्द-स्वरूप है तथा क्षणिक एवं प्रातिभासिक बाह्य सत्ताओंके मूलमें रहनेवाला वास्तविक तत्त्व है। जिस प्रकार

अंशका अस्तित्व अंशीके आधारपर है, इसी प्रकार हमारी सत्ता ईश्वरके आधारपर है। इसी प्रकारके ईश्वरको न माननेसे हमारा जीवन व्यर्थ हो जायगा। ऐसी दशामें हमारे लिये न तो सदाचारकी, न नीतिकी और न धर्मकी आवश्यकता रहेगी और हमारा जीवन पशुओंका-सा हो जायगा। दूसरे और तीसरे प्रश्नोंका उत्तर भी इसीके अंदर आ जाता है।

४—मैंने सारे संसारका भ्रमण किया है। मैं जिस समय संसार-यात्राके लिये चला था, उस समय एक बिल्कुल अकिञ्चन संन्यासी था। मैंने लंदन, पेरिस, न्यूयार्क, सैन्फ्रान्सिसको तथा अमेरिकाके संयुक्त प्रदेश, कनाडा, अलास्का एवं मेक्सिको तथा अन्यान्य देशोंके नगरोंमें भाषण दिये। अमेरिकाके संयुक्त प्रदेशमें धर्मोपदेशकके रूपमें पचीस वर्ष व्यतीत किये। अटलान्टिक महासागरको सत्रह बार पार किया। जापान, चीन एवं फिलिपाइन द्वीपमें भ्रमण किया और भारतवर्षको लौटनेपर मैंने पैदल हिमालयको पार किया और तिब्बत-को गया और पचीस वर्षतक केदारनाथ, बद्रीनाथ, गङ्गोत्तरी, यमुनोत्तरी, अमरनाथ, द्वारका, रामेश्वर एवं अन्य तीर्थोंमें भ्रमण करता रहा। मेरे जीवनके इस दीर्घकालमें हजारों ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनसे मेरा ईश्वरकी सत्तामें विश्वास दृढ़तर होता गया और मुझे सर्वत्र उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वरकी दया-ही-दया दीख पड़ी। जिसे ईश्वरमें विश्वास होता है, उसकी भगवान् स्वयं सभी अवस्थाओंमें रक्षा करते हैं। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर छोड़नेके बाद शाश्वत-सुख एवं ब्रह्म-भावको प्राप्त हो जाता है।

श्रीस्वामी निगमानन्दजी सरस्वती

ईश्वरकी सत्तामें किसीको विश्वास दिलाना या तर्क और प्रमाणके द्वारा उसकी सत्ता सिद्ध करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। श्रद्धा और विश्वास सत्सङ्ग, सदाचार तथा आत्मानुसन्धानके विना अथवा ईश्वरकी विशेष कृपाके विना नहीं उत्पन्न हो सकते। संशयात्माके लिये यह बहुत सम्भव है कि महात्माओंके जीवनकी घटनाओंको वह झूठ समझे और यदि कोई महात्मा अपने जीवनकी ऐसी कोई घटना वर्णन करे तो उसे असत्यवादी मान ले। संशयात्माको ईश्वरकी सत्ता माननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती; परंतु इससे दुःखमें, बीमारीमें, विरहमें उसके लिये कोई दिलासा नहीं होती और उसके लिये यह असम्भव नहीं है कि निराशामें वह आत्महत्यातक कर डालनेपर उतारू हो जाय; परंतु श्रद्धावान् पुरुष निराश नहीं होता, संकटकालमें उसे अपने विश्वाससे आश्वासन मिलता है।

स्वामी श्रीशिवानन्दजी

१—प्रत्येक मानव-प्राणीके लिये ईश्वरमें विश्वास करना अनिवार्य है। इसके बिना मनुष्यका चल ही नहीं सकता। अविद्या अथवा अज्ञानके प्रभावसे मनुष्यको दुःख सुख-सा प्रतीत होता है। जगत् दुःख, शोक, विपत्ति और क्लेशोंसे पूर्ण है। जगत् आगका गोला है। राग-द्वेष, क्रोध-ईर्ष्या और मत्सरसे भरा हुआ अन्तःकरण जलती हुई भट्ठी है। विषयी पुरुष भ्रमके कारण मोहमें पड़ रहे हैं। जन्म-मृत्यु, जरा, रोग और शोकसे हमें स्वयमेव मुक्त होना है। यह केवल ईश्वरमें विश्वास करनेसे ही हो सकता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। धन और ऐश्वर्यसे हमें यथार्थ सुख नहीं मिल सकता। यहाँतक कि यदि हमें सार्वभौम राज्यकी भी प्राप्ति हो जाय तो उससे भी हमें चिन्ता, क्लेश, दुःख, शोक, भय और निराशा आदिसे छुटकारा नहीं मिल सकता। केवल ईश्वरमें श्रद्धा तथा ध्यानके द्वारा भगवत्-प्राप्ति होनेसे ही यथार्थ शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो सकती है तथा हम सब प्रकारके भय और चिन्तानलसे त्राण पा सकते हैं, जो प्रतिक्षण हमें जलाते रहते हैं। ईश्वरमें श्रद्धा होनेसे हम उसका सतत चिन्तन करनेके लिये तथा उसका ध्यान करनेके लिये प्रेरित होते हैं और फलतः हमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

ईश्वरमें और ईश्वर-प्राप्तिमें श्रद्धा रखनेसे हमें परम शान्तिकी प्राप्ति होगी, उस शान्तिके प्राप्त होते ही समस्त दुःख निर्मूल हो जायँगे; फिर हमारा भटकना बंद हो जायगा। हम कर्मके बन्धनसे छूट जायँगे

हम अमर हो जायँगे। हमें शाश्वत दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति होगी। हम एक ऐसे पदको प्राप्त होंगे, जहाँसे पुनः इस दुःखमय लोकको लौटना न होगा; क्योंकि दिव्य ज्ञानके द्वारा हमारे पापोंका नाश हो जायगा। हमारा मन सदा समाहित रहेगा। फिर हमें न तो सुखकी प्राप्तिमें हर्ष होगा और न दुःखकी प्राप्तिमें विषाद ही होगा। हमारा अन्तः-करण हिमवत् शीतल हो जायगा और हम दिव्य चेतनामें सदा अवस्थित रहेंगे। हमें अक्षय सुखकी प्राप्ति होगी। हम ईश्वरके साथ एकरस हो जायँगे तथा हमें नित्य, अनन्त, अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होगी। दिव्य चेतनामें अवस्थित होनेपर हम भारी-से-भारी दुःखमें भी विचलित न होंगे। हमें अतीन्द्रिय आनन्दकी प्राप्ति होगी।

यदि हम अनन्य चित्तसे दृढ़तापूर्वक भक्तिभावसे ईश्वरकी अर्चना करेंगे तो वे हमें पूर्ण अभय प्रदान करेंगे। ईश्वर हमें बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा हम उन्हें सुगमतासे प्राप्त कर सकें। वे हमारे ऊपर कृपायुक्त हो, हमारे अज्ञानान्धकारको ज्ञानज्योतिके प्रकाशद्वारा नष्ट कर देते हैं। यदि हम दृढ़ भक्ति और श्रद्धापूर्वक अपने मनको उनमें लगायें तो वे संसार-समुद्रसे शीघ्र ही हमारा उद्धार करते हैं। हम तीनों गुणोंको पार कर जाते हैं तथा जन्म-मृत्यु, जरा-शोकसे छुटकारा पाकर अमर-सुधाका पान करते हैं। उनमें विश्वास करनेसे भक्ति और श्रद्धाके द्वारा हम उन्हें तत्त्वतः जानेंगे तथा उनमें प्रवेश करेंगे। उनकी कृपासे हम मार्गमें आनेवाली समस्त बाधाओंको दूर करेंगे तथा परमपद—परमधामको प्राप्त होंगे।

२—यदि हम ईश्वरमें विश्वास न करेंगे तो हमें इस संसारमें बार-बार जन्म लेना पड़ेगा तथा नाना प्रकारके दुःख सहने पड़ेंगे।

अज्ञानी, श्रद्धाहीन तथा संशयात्मा पुरुष विनाशको प्राप्त होते हैं । उन्हें तनिक भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती । संशयात्माके लिये न तो इहलोक है और न परलोक । जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास नहीं करता, वह सत्य और असत्यको नहीं पहचान सकता, उसे विवेक-शक्ति नहीं रहती । ऐसे पुरुष असत्यवादी, अभिमानी और अहंकारी होते हैं। उन्हें अतिशय काम, क्रोध और लोभ होता है । वे गर्हित उपायोंसे धनका अर्जन और संग्रह करते हैं । वे आसुरी स्वभावके मनुष्य बन जाते हैं । वे नाना प्रकारके घोर पाप करते हैं । उनके जीवनका कोई आदर्श नहीं होता, वे आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं तथा जन्म-जन्मान्तर मूढ़ताको प्राप्त हो हीनतम नरकमें गिरते हैं।

३—लगभग डेढ़ सौ वर्ष हुए, दक्षिण-भारतके त्रिचनापल्ली-जिलेमें कारुर स्थानके समीप नेरुर-ग्राममें सदाशिव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती नामके एक बहुत ही प्रसिद्ध ज्ञानी-योगी रहते थे । उन्होंने ब्रह्मसूत्रवृत्ति, आत्मविद्या-विलास तथा अन्य बहुतेरे ग्रन्थोंका प्रणयन किया था तथा नाना प्रकारके चमत्कार दिखलाये थे । एक बार जब वे कावेरीके तटपर समाधिमग्न थे कि बाढ़से बहकर किसी दूसरे स्थानमें चले गये और बालूके नीचे गड़ गये । मजदूर खेत जोतनेके लिये गये और उन्होंने योगीके सिरपर आघात किया और उससे कुछ रक्त निकल आया । उन्होंने वहाँ खोदना शुरू किया और एक योगीको समाधिस्थ देखकर वे अत्यन्त चकित हुए ।

दूसरी बार एक समय वे अवधूतके रूपमें नंगे ही एक मुसल्मान-सरदारके जनाना खीमेमें घुस गये । वह सरदार महात्माके

ऊपर बहुत ही गुस्सा हुआ और उसने क्रोधमें उनकी एक बाँह काट डाली। सदाशिव ब्राह्मण बिना ही कुछ कहे-सुने वहाँसे चल दिये। उनके ढंगसे मालूम होता था कि उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं है। सरदार महात्माकी इस अद्भुत अवस्थापर अत्यन्त ही चकित हुआ। उसने विचारा कि यह मनुष्य अवश्य ही कोई महात्मा है। उसे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और उसने महात्मासे क्षमा माँगनेके लिये उनका पीछा किया। सदाशिवको पता ही न था कि उनकी बाँह कटी हुई है। जब सरदारने कैम्पकी सारी घटना उनसे कह सुनायी, तब सदाशिवने कह दिया कि 'हमने तो क्षमा कर ही रक्खी है' और उन्होंने अपनी कटी हुई बाँहको छू दिया। वहाँ तत्काल नयी बाँह निकल आयी।

इस महात्माके जीवन-चरित्रको जाननेसे मेरे मनपर गहरा प्रभाव पड़ा। मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मन और इन्द्रियोंकी क्रीड़ासे तथा विषयोंसे परे एक स्वतन्त्र दिव्य जीवन है। वे महात्मा जगत्‌से नितान्त अनजान रहते थे। जब उनकी बाँह कट गयी थी, तब उन्हें तनिक भी उसका अनुभव नहीं हुआ था। वे दिव्य चेतनामें तन्मय थे। साधारण पुरुष शरीरमें एक सूईके चुभनेसे भी चीत्कार कर उठता है। आप्त पुरुषोंके द्वारा जब महात्मा सदाशिवकी इस अद्भुत घटनाको मैंने सुना और जब मैंने इसे पुस्तकोंमें पढ़ा, तब मेरे मनमें एक दृढ़ विश्वास हो गया कि एक दैवी सत्ता तथा दैवी शाश्वत जीवन है, जहाँ समस्त दुःख विलीन हो जाते हैं, समस्त कामनाएँ परितृप्त हो जाती हैं तथा मनुष्यको परम आनन्द, परम शान्ति तथा परम ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

ईश्वरकी दया

निम्नलिखित विचारोंसे मुझे सदा ईश्वरकी असीम दयाका अनुभव होता है।

माताके गर्भमें कलल और भ्रूणका पालन तथा दस मासतक उनकी रक्षा कौन करता है?—ईश्वर! शिशुके उत्पन्न होनेके पूर्व माताके स्तनोंमें दूधका प्रबन्ध कौन करता है?—ईश्वर! भोजनको रस और रक्तके रूपमें कौन परिणत करता है?—ईश्वर! रक्तको हृदयसे धमनीमें कौन प्रवाहित करता है?—ईश्वर! मलको तमाम अँतड़ियोंसे अधोभागमें कौन पहुँचाता है?—ईश्वर! उस मेढकको जो अखण्ड चट्टानके भीतर रहता है, भोजन कौन पहुँचाता है?—ईश्वर! वह शरीरके भीतर मेहतरका काम करता है, वह बाह्य जगत्में सूअरका रूप धारणकर प्राकृतिक मेहतरका काम करता है। वह नारंगी-अंगूरका रूप धारणकर तुम्हारे सूखे गलेकी प्यास बुझाता है। वह एक सावधान नौकरके समान तुम्हारी आँखोंकी पलकोंको बंद कर देता है, जिससे उनमें धूल न पड़ने पावे। वह तुम्हारे लिये सब कुछ करता है। उसकी असीम अनुकम्पा प्रत्येक वस्तुमें, सृष्टिके प्रत्येक परमाणुमें दीख पड़ती है। एक छोटे-से अपराध करनेपर भी तुम्हें अपने नौकरको क्षमा करना बहुत ही कठिन जान पड़ता है। तुम कितना क्रोध प्रकट करते हो, परंतु परमात्मा असंख्य जन्मोंके तुम्हारे करोड़ों घोर अपराधोंको क्षमा कर देता है। वह कैसा अद्भुत धैर्यवान् है? उसकी अपूर्व करुणाको तो देखो! उसका सतत चिन्तन करते रहो। उसे सदा स्मरण करो। श्रद्धा और भक्तिके साथ उसके हरि, राम, नारायण, शिव प्रभृति नामोंका जप-कीर्तन करो।

भक्तराज श्रीयादवजी महाराज

१—भगवान्‌को इसलिये मानना चाहिये कि इस सारे नाशवान् जगत्‌में एक वही अचल सत्य है। उसे मानना चाहिये अपूर्णसे पूर्णतामें पहुँचनेके लिये, असत्यसे निकलकर सत्यमें पहुँचनेके लिये, मृत्युमेंसे अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये, देहसे छूटकर आत्माको पानेके लिये, मायाके पुराने बन्धनोंसे छूटकर मुक्त होनेके लिये, अधोगतिके घोर अन्धकारमय गहरे गढ़ेसे निकलकर देवताओंकी उच्च भूमिकाका दर्शन करनेके लिये, तिमिरसे निकलकर

दिव्य ज्योति प्राप्त करनेके लिये, पाप-पथको परित्यागकर पुण्य प्रदेशमें प्रवेश करनेके लिये, मायासे मुक्त होकर महापद पानेके लिये और शोक, मोह, क्लेश, संताप, रोग, जरा, मरण आदि दुःखोंसे छूटकर परमधाममें—परब्रह्मके अनन्तकालीन अलौकिक दिव्य सुख, शाश्वती शान्ति एवं अखण्ड आनन्दमें विहरनेके लिये।

इस प्रकार अपने श्रेयके लिये, हितके लिये या कल्याणके लिये परमेश्वरको मानना पड़ता है।

२—मनुष्य अपने प्रत्येक कर्मका जिम्मेवार है, इन्साफके समय उसे प्रभुके सामने हिसाब पेश करना पड़ेगा। यही समझकर संसारमें सारे पापोंको छोड़कर मनुष्य पुण्यमार्गपर चलता है।

परंतु जब मनुष्य भ्रमवश यह मान लेता है कि परमेश्वर ही नहीं है, अपने किसी भी कर्मका जवाब पूछनेवाला ही कोई नहीं है, तब उसके लिये पाप-पुण्य-जैसी कोई चीज रहती ही नहीं। उसके लिये पाप-पुण्य दोनों समान होते हैं। धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, सत्य-असत्य आदिमें आस्तिकके मनमें जो भेद रहता है, वह नास्तिकके मनसे निकल जाता है। वह उच्छृङ्खल हो जाता है।

ऐसा मनुष्य, किस समय, किस मुहूर्तमें कौन-सा दुष्कर्म नहीं कर बैठेगा, यह कहना असम्भव है। ऐसे मनुष्य देश, समाज और कुटुम्ब ही नहीं, अपने लिये भी भयंकर होते हैं।

क्योंकि ज्यों ही मनुष्य धर्मकी मर्यादा और बन्धनोंसे छूट जाता है, त्यों ही वह स्वेच्छाचारी हो जाता है। फिर मनमानी करनेको उसके लिये दसों दिशाएँ खुली हो जाती हैं।

उसे दोष तो लगता नहीं, उसके सिरपर कोई इन्साफ करनेवाला है, इस बातको वह मानता नहीं; अन्तमें अपने कृत्योंके लिये कहीं जवाब तलब होगा—यह बात उसे स्वीकार नहीं। फिर किसीका धन हर लेनेमें क्या आपत्ति है? किसीके पास कोई अच्छी चीज देखी और उसको लूट लिया, इसमें क्या खराबी है? किसीकी स्त्रीको उड़ा लेनेमें क्या हर्ज है? और यदि किसीके साथ झगड़ा हो जाय, वैमनस्य या वैर हो तो उसे सदाके लिये हटा देनेमें—मार डालनेमें, काट डालनेमें ही कौन-सा दोष है? कुछ नहीं।

सचमुच, मनुष्य जब यह मानने लगता है कि 'परमेश्वर नहीं हैं', तब वह मनुष्य न रहकर राक्षस बन जाता है। ऐसे नास्तिक जहाँ बढ़ जाते हैं, उस स्थानमें और नरकमें कोई विशेष भेद नहीं होता।

परमेश्वरको न मानना सर्वनाशको निमन्त्रण देना है।

२—शून्य अव्यक्तमेंसे व्यक्त सृष्टि कहाँसे पैदा हो गयी? मांस-मूत्र और विष्ठामें मनुष्य बन जाता है, उसमें जीव आ जाता है, फिर देखो तो वह अपार विचारवान्, अगाध बुद्धि और अत्यन्त चतुर होता है। ये सब बातें उसमें कहाँसे आयीं?

एक ही वीर पुरुष रणक्षेत्रमें सहस्रों मनुष्योंको मार देता है, उसमें यह शक्ति कहाँसे उत्पन्न हो गयी? फिर जब वही ढल पड़ता है, तब उसे श्मशानमें ले जानेके लिये उठानेको उलटे चार आदमी बुलाने पड़ते हैं; अब उसकी वह शक्ति कहाँ चली गयी?

एक राजा लाखों मनुष्योंपर हुकूमत चलाता है; परंतु मरनेपर उसकी कीमत भी मिट्टी बराबर हो जाती है। उस समय वैद्योंको बुलाइये, वे कपालपर हाथ रखकर कहेंगे 'मरे मनुष्यपर हमारी दवा कोई काम नहीं करती। जबतक जीव होता है, तभीतक दवाएँ कारगर होती हैं।' वैद्य यदि जिला सकते हों अथवा उनकी दवाओं-में यदि जीवन देनेकी शक्ति हो तो मृत देहपर उनका असर क्यों नहीं होता? क्या उस समय औषधका तत्त्व निकल जाता है? क्या वैद्योंकी होशियारी मारी जाती है?

अन्धेरेमें दीपक झलमलाता है, वैसे ही शून्यमेंसे एकाएक चेतन प्रकट होता है। और जैसे दीपकके बुझते ही अन्धकार छा जाता है, वैसे ही चेतनके निकल जानेके साथ ही देहके लिये समस्त सार वस्तुएँ असार हो जाती हैं। ऐसा वह जीवन-तत्त्व क्या वस्तु है?

पञ्चभूतोंसे प्राणी बनते हैं, वैज्ञानिक कहते हैं कि हमने पाँच तत्त्वोंपर विजय प्राप्त की है, उनको अपने वशमें कर लिया है। पवन, जल, अग्नि और आकाशी तत्त्व आज मनुष्यके दास बनकर नौकरोंकी भाँति काम कर रहे हैं, यह हमारा प्रताप है।

इन वैज्ञानिकोंसे पूछिये, क्या आप इन तत्त्वोंसे प्राणियोंकी रचना कर सकते हैं? क्या आप मृत देहको जीवित कर सकते हैं?

जीव क्या है? कहाँसे आता है? किस तरह आता है? देहमें कब और कैसे प्रवेश करता है? मरनेके समय वह देहसे निकलकर कहाँ जाता है? इन प्रश्नोंका निश्चित उत्तर आप दे

सकते हैं ? हमारी नजरके सामने मनुष्य मरते हैं; परंतु किसीने जीवको जाते देखा है ? उसे रोकनेकी शक्ति किसीमें है ? देहमेंसे निकलनेके बाद कोई वापस उसी देहमें प्रवेश कर सकेगा ? दुनियामें बड़ी-बड़ी खोज हुई है, हजारों नये हुनर और सहस्रों गुप्त कलाएँ मनुष्यके हाथ लगी हैं, यह सत्य है; परंतु बड़ी-बड़ी डींग हाँकनेवाले वैज्ञानिक, बहुमूल्यवान् ओषधियाँ रखनेवाले प्राणाचार्य वैद्यराज एवं चतुर कलाकार आदिसे यह प्रश्न है कि क्या आप जीवन-मरणके भेदका पता पा सके हैं ? उसका संचालन-सूत्र क्या आपके हाथमें है ? आप इस विषयमें अपने इच्छानुसार कर सकते हैं ? आप इसका उत्तर दे सकते हैं ? सभी सिर हिलाकर अपनी असमर्थता प्रकट करेंगे । सभी कबूल करेंगे कि हमारा ज्ञान अपूर्ण है, हम अपूर्ण हैं, हमारी समझ अभी अधूरी है ।

इस प्रकार हार मानकर जहाँ मनुष्यमात्र अपनी असमर्थता घोषित करते हैं, वहाँ हमें यह निश्चय विश्वास होता है कि इस विश्वका संचालक और नियन्ता कोई है । जगत्‌में नित्य होनेवाली अद्भुत घटनाएँ इस महासमर्थ प्रभुके अस्तित्वकी साक्षी दे रही हैं और दृश्यमें क्रीड़ा करनेवाला समस्त क्रीड़ाओंका सूत्र उस सर्वशक्तिमान् महान् परमात्माके हाथमें है, इस बातको साबित कर रही हैं ।

स्वामीजी श्रीभोलानाथजी महाराज

१. प्रश्न—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

उत्तर—रोटी क्यों खानी चाहिये ? पानी क्यों पीना चाहिये ? श्वास क्यों लेना चाहिये ? सोना क्यों चाहिये ? इन प्रश्नोंका यही उत्तर मिलता है कि क्षुधाका कष्ट विवश करता है कि खाना खाओ। प्यास पानी पीनेको विवश करती है। जीवन श्वास लेनेको विवश करता है। थकावट सोनेको विवश करती है। इसी प्रकार कष्ट और दुःखका संसारमें अनुभव और दुःखका संसारमें होना विवश करता है कि ईश्वरको जानो। यदि संसारमें दुःख न होता अथवा संसारमें दुःखका प्रतीकार होता तो अवश्य इस प्रश्नकी उपेक्षा कर दी जाती;

परंतु आजतक किसी दार्शनिक, महात्मा या वैज्ञानिकने हमको यह नहीं बताया कि संसारमें कष्टको दूर करनेका क्या उपाय है।

इसमें संदेह नहीं कि विज्ञान (साइन्स) ने दुःखको कम करनेकी बहुत-सी रीतियाँ समझायीं अपितु शुद्धभावसे बहुत सीमातक इस दुःखको दूर करनेका यत्न किया, जिसके लिये हमारे हृदयमें असीम कृतज्ञता है; परंतु शोक ! ऐसा करनेसे संसारका दुःख कम न हुआ। बाह्य उन्नतिसे हार्दिक उन्नति न मिली। विज्ञानने क्या किया—हवाई जहाज बनाये, रेलें बनायीं, तार बनाये, जहाज बनाये, बिजलियाँ निकालीं इत्यादि। इनसे मनुष्यको बहुत आराम मिला। दुःख कम हुआ; परंतु क्यों इन बातोंसे हार्दिक शान्ति नहीं मिली ? सकल सुख-साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी हैरान हैं और पूछते हैं कि शान्ति कहाँ है ?

पूर्वकालमें यदि युद्ध होते थे तो शस्त्र कम होनेके कारण लोगोंपर आक्रमण निर्बलरूपमें होता था और जीवन कम नष्ट होते थे। अब विज्ञानने इस प्रकारके शस्त्रास्त्र प्रत्येक देशमें तैयार कर दिये, जिनसे बहुत अधिक मनुष्योंका संहार सामान्य-से प्रयत्नसे हो सकता है ! यह मानव-उन्नति मनुष्यकी ही हत्याके लिये हुई ! विषय-भोगकी सामग्री जितनी बढ़ी, उतनी ही ईर्ष्या, एक दूसरेसे बढ़नेकी डाहभरी इच्छा बढ़ती गयी। परिणाममें एक दूसरेसे हार्दिक वैर हो गया। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि यह सब व्यर्थ हुआ, पर हाँ, इससे चैन नहीं मिला।

जिस शान्तिकी खोजमें विज्ञान और संसारका प्रत्येक परमाणु

लगा हुआ है, वह संसार और उसके पदार्थोंमें विद्यमान नहीं है; परंतु इस वैज्ञानिक उन्नतिने हमें वह शिक्षा दी, जिसकी प्राप्ति अन्य हर प्रकारसे कठिन थी। इसका कहना है कि तुमलोग जिन पदार्थोंमें आराम चाहते हो, वह इनमें नहीं; देख लो, मैंने संसारकी आत्यन्तिक उन्नतिका दृश्य तुमलोगोंके सम्मुख ला रक्खा है, परंतु फिर भी उस सुखका कोई पता ही नहीं मिला, जिसकी खोजमें स्वभावतः ही प्रत्येक व्यक्ति है। यदि यह उन्नति न होती तो यह विचार बना रहता कि शायद इस प्रकारकी उन्नति होनेसे वह सुख मिल जाता। विज्ञानने बहुमूल्य अनुभव अपने सच्चे और न थकनेवाले प्रयत्नोंसे हमारे समक्ष रक्खा है, जिसके लिये इस (विज्ञान) को अपार धन्यवाद है। लौकिक दृष्टिसे सुख-साधनमें जो उन्नति हो सकती है, वह इसने प्रस्तुत की; परंतु फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इससे सुख मिल गया?—जिसका उत्तर चारों ओरसे यही मिलता है कि 'नहीं।'

क्या आप इस दुःखमें प्रसन्न रह सकते हैं? नहीं। क्या आप सुखकी खोज और इच्छाको छोड़ सकते हैं? नहीं।

अब संसारमें तो सुख नहीं और सुखकी खोज छूटती नहीं, फिर क्या करें? इसका उत्तर यही मिलता है कि या तो भटक-भटककर उस मृगकी भाँति मर जायँ, जो प्यासका मारा मरुभूमिमें माया-मरीचिकाके पीछे दौड़ता है, पर वहाँ कहीं भी उसे पानी नहीं मिलता और इससे तड़पकर प्राण त्याग देता है और या किसीसे

पूछकर जलकी खोज करें।

अब इस प्रश्नका क्या उत्तर है? क्या आप संसारमें सुखको पा सकते हैं? या किसीने पाया है? अथवा इस सुखकी खोजको छोड़ सकते हैं? तो उत्तर केवल 'नहीं' मिलता है। हाँ! इस उत्तरमें कितनी बेबसी और कितना दुःख है, परंतु इसका यही एक उत्तर है कि कोई प्रश्न विना उत्तरके नहीं हो सकता। जिसका उत्तर नहीं, वह प्रश्न ही नहीं। कोई आवश्यकता विना पदार्थके उत्पन्न नहीं हो सकती। जिसके प्रति पदार्थ नहीं, वह आवश्यकता ही नहीं।

यह सिद्धान्त माना हुआ है; थोड़े-से मननके पश्चात् समझमें आ सकता है।

फिर इस प्रश्नका उत्तर क्या है कि सुख कैसे मिले? उत्तर केवल यही है कि ईश्वरको जानो। ईश्वर हमारी उस आवश्यकताकी पूर्ति है, जो संसारसे पूरी नहीं हो सकती। मेरे विचारमें अब तो समझमें आ गया होगा कि हमें ईश्वरको क्यों जानना चाहिये।

किसीने पूछा किसीसे जाकर हुसूले[1] वहदतमें लुत्फ[2] है कुछ?
लगे वो कहने तलाशे[3] क़तरामें वहर[4] मिलना मलाल[5] है क्या?

२. प्रश्न—ईश्वरको न माननेसे क्या-क्या हानियाँ हैं?

उत्तर—यह स्वयमेव विदित हो जायगा जब कि प्रथम उसके जाननेके लाभ ज्ञात हो जायँगे, परंतु इस प्रश्नपर विचार करनेसे पूर्व यह देखना है कि ईश्वर क्या वस्तु है? ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, दयालु और मोक्षके देनेवाले हैं। अतः

१—एकत्वप्राप्ति। २—आनन्द। ३—बूँदकी खोज। ४—समुद्र। ५—रंज।

ईश्वरसे मिलनेके लाभ हुए कि हमको वह आनन्द मिलेगा जिसकी हमको खोज है; और उस सर्वशक्तिमान्‌से सम्बन्ध जोड़नेसे हमारी निर्बलताएँ दूर होंगी और सर्वव्यापक समझनेसे पाप कम होंगे, चित्त प्रसन्न रहेगा, दयालु समझनेसे धैर्य स्थिर रहेगा और न माननेसे इसके विपरीत सब बातें होंगी अर्थात् अशान्ति रहेगी जो कि सब दुःखोंकी जननी है।

२. प्रश्न—ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण क्या है ?

उत्तर—ईश्वरकी सत्ताका मुख्य प्रमाण तो हमारी आवश्यकता तथा हमारी इच्छा है, जिसका उत्तर संसारमें नहीं मिलता। दृष्टान्तके रूपमें पतङ्गके हृदयमें दीपकके प्रति प्राकृतिक प्रेम है। वह प्रत्येक वस्तुके पास बैठा हुआ यह समझता है कि मैं इसके लिये नहीं और न यह मेरे लिये है; क्योंकि उसको उसमें शान्ति नहीं मिलती; परंतु जिस समय वह दीपकको देखता है तो तत्क्षण समझ लेता है कि यह वही वस्तु है जिसके लिये मैं बेचैन था।

संक्षेपतः जीवकी स्वाभाविक परमानन्दकी इच्छा ही ईश्वरके अस्तित्वका मुख्य प्रमाण है; क्योंकि संसारकी कोई वस्तु पूर्ण आनन्द नहीं दे सकती।

दूसरे—संसारका दृश्य और उसका नियम ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण बनता है। बताइये वह कौन शक्ति है, जिसने शिशुके लिये जन्मते ही स्तनोंमें दूध उत्पन्न किया ? नेत्रोंके लिये सूर्य किसने बनाया ? जीवनके लिये वायु किसने उत्पन्न की ? इत्यादि।

वह शक्ति निर्जीव है या सजीव अर्थात् जड है या चेतन ? यदि निर्जीव या जड है तो उसने यह समझा क्योंकर ? और यदि

चेतन है तो वह अल्पशक्ति है या सर्वशक्ति ? पुनः यदि अल्पशक्ति है तो उसने यह सब कुछ कैसे बनाया ? और यदि सर्वशक्ति है तो फिर वही ईश्वर है।

तीसरे—दूधमें माखन होता है, पर दिखायी नहीं देता; परंतु बिलोनेसे मिल जाता है। इसी प्रकार ईश्वर हृदयमें विद्यमान है; परंतु हृदयकी शुद्धिसे मिलता है। हम नेत्र बंद करके सूर्यकी सत्ताका प्रमाण पूछते हैं। यदि कोई अंधा सूर्यको उसके प्रकाशसे नहीं देख सकता तो फिर मोमबत्तीसे उसको कैसे देखेगा ?

चौथे—अच्छा ! जलके अस्तित्वका प्रमाण क्या है ? प्यास। और वायुकी सत्ताका प्रमाण ?—श्वास लेनेकी आवश्यकता। इसी प्रकार हमारी निर्बलताएँ और संसारमें आनन्दका अभाव उसकी सत्ताका बड़ा प्रमाण है। बिन्दु समुद्रका प्राकृत प्रमाण है। किरण सूर्यको प्रकाशित करती है। व्यष्टि समष्टिका प्रमाण है। अतः हमारा जीवत्व ही ईश्वरत्वका प्रमाण है। यदि ईश्वर न होता हो हम संसार और उसके पदार्थोंमें ही प्रसन्न रहते, क्योंकि फिर हमारा मूलतत्त्व यह संसार ही होता और प्रत्येक मनुष्य अपने मूलसे मिलकर प्रसन्न होता; परंतु यहाँ कोई प्रसन्न नहीं। वह किसी अन्य वस्तुको पाना चाहता है। राजा, महाराजा, महात्मा, दार्शनिक विद्वान्—सब किसी वस्तुकी खोजमें हैं। वह वस्तु क्या है ?—ईश्वर। यह आँखमिचौनीका खेल है। हम उसको बाहर ढूँढ़ते हैं, वह हृदयमें छिपा बैठा है; क्योंकि वह यह जानता है कि यहाँ मुझे ढूँढ़ने सहसा कोई आयेगा नहीं। कौन समझ सकता है कि जिसको मुझे

पकड़ना है, वह मेरे ही अंदर आकर छिप गया होगा ? यदि कोई ईश्वरके अस्तित्वको समझना चाहे तो वह प्रथम उसकी आवश्यकता प्रतीत करे, जिस प्रकार तृषार्तको जलकी होती है और क्षुधापीडितको भोजनकी। तत्पश्चात् एकान्तमें जाकर ईश्वरसे प्रार्थना करे—व्याकुलताके साथ—तड़पके साथ—आँसुओंके साथ करे और कहे कि हे ईश्वर ! मुझे आपकी आवश्यकता है; मेरी बुद्धि मुझे भ्रान्तिमें डालती है, मेरी निर्बलताकी ओर देखकर मुझे अपनी सत्ताका प्रमाण दो। मैं आपकी परीक्षा नहीं लेता अपितु विश्वास चाहता हूँ—

माना कि तेरी दीद[१]के काबिल[२] नहीं हूँ मैं,
तू मेरा शौक़[३] देख मेरा इन्तज़ार[४] देख।

इसके पश्चात् यदि आपको अपने जीवनमें इस प्रकारके वृत्तान्त मिलने लगें जो आपको स्वयमेव विश्वास दिलाते जायँ तो आपको अपने-आप ही ज्ञात हो जायगा कि ईश्वर है और सच्चा विश्वास भी वही होता है जो अनुभवके आधारपर स्थापित हो। जो कहते हैं कि ईश्वर है, उनसे मिलो, और अतीव नम्रतापूर्वक याचना करो कि हमको भी दिखाओ—, वह कहाँ है। फिर जिस प्रकार वे कहें, करो, और उसके पश्चात् परिणामको देखो। इन महानुभावोंके मिलनेसे पूर्व यदि आपको उसकी सत्ता स्वीकार करना कठिन होता हो तो नकार भी किस बलपर करते हैं ?

उसकी सत्ताका प्रबल प्रमाण उसकी सत्ताको न माननेवाले हैं; क्योंकि जिन शक्तियों—अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि आदिद्वारा वे अस्वीकार करते हैं, वे शक्तियाँ ही उसके अस्तित्वके प्रमाण हैं।

१—दर्शन। २—योग्य। ३—उत्सुकता। ४—प्रतीक्षा।

क्योंकि उनकी रचनामें पूर्ण रचयिता (ईश्वर) के स्पष्ट दर्शन होते हैं; और दूसरे, ये नास्तिक ही तो उसके लिये स्वीकृतिके प्रमाण उत्पन्न करनेवाले हैं। यदि ये नकार न करें तो आपको अस्तित्वके लिये युक्तियाँ कहाँसे सूझें ? सच बात तो यह है कि ये नकार करनेवाले अपने नकारके तानेसे उसको प्रकट करते हैं। यदि ये नकार न करें तो उसको अपना आपा क्यों दिखाना पड़े ? इसका ऐतिहासिक प्रमाण भी यह मिलता है कि जब-जब नास्तिकता प्रबल हुई, तब-तब आस्तिकताका भी बल बढ़ा। वस्तुतः ईश्वर भी तो इन्हींसे मिलने आते हैं। अज्ञान ज्ञानको उत्पन्न करता है, अन्धकार प्रकाशको और अविद्या विद्याको। यदि पहले न हों तो दूसरे क्यों आयें ?

वस्तुतः ये न माननेवाले (नास्तिक) उन माननेवालों (आस्तिकों) से श्रेष्ठ हैं, जिनको उसकी सत्तामें विश्वास ही नहीं; क्योंकि पहले सच्चे हैं और दूसरे झूठे। पहले समझते नहीं इसलिये अङ्गीकार नहीं करते; दूसरे जानते नहीं, किंतु स्वीकार करते हैं। झूठे दावेदार ईश्वरको मानते-मानते सत्का भी त्याग कर बैठते हैं। उनकी अपेक्षा ईश्वर न माननेवालों (नास्तिकों) को शीघ्र मिलेगा, क्योंकि ये सच्चे तो हैं। झूठे दावेदार लोगोंको पहले नकार करना पड़ेगा अर्थात् सच्चे बनना पड़ेगा, फिर ईश्वर इनको मिलेगा।

(२) ये नकार करनेवाले किससे नकार करते हैं ? ईश्वरसे अर्थात् इनका नकार ईश्वरसे स्थिर होता है। नकार स्वयं कुछ वस्तु

नहीं। नकार किससे स्थिर होता है? 'ईश्वर नहीं' इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर 'नहीं' को स्थिर कर रहा है—निःसन्देह 'नहीं' के रूपमें। अतः जिससे 'नहीं' स्थिर हुआ, उस 'नहीं' से वह कैसे मिटा? जब कि ईश्वर सत्तामात्र है, तब यह 'नहीं' भी तो बिना सत्ताके व्यक्त नहीं हो सकता। अतः जिसकी सत्तामात्रसे 'नहीं' कहते हैं, वही ईश्वर है।

नास्तिक कहता है, वह है नहीं। हम कहते हैं—कौन नहीं? वह कहता है ईश्वर नहीं। हम कहते हैं ईश्वर सत् है, अतः तुम सत्तासे क्योंकर नकार कर सकते हो जब कि तुम्हारा नकार भी अपने अस्तित्वके लिये सत्ताके अधीन है। अब या तो तुम्हारा नकार 'है' या 'नहीं' है। यदि नहीं है तो भी ईश्वर स्थिर रहा। यदि नकार 'है' तो भी स्थिर रहा, क्योंकि 'है' से 'नहीं' और 'है' दोनों सिद्ध होते हैं।

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः 'सत्' उसका पहला गुण है। संसारमें प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्वकी सिद्धिके लिये उस सत्‌रूपी परमात्माकी अपेक्षा करती है। अँगूठी बनकर स्वर्णकी सत्ताका प्रमाण पूछती है तो क्या वह हास्यका विषय नहीं। बुलबुला जलका प्रमाण पूछे। घड़ा मिट्टीका प्रमाण पूछे तो आप क्या कहेंगे जब कि ये प्रथम उनको सिद्ध करके स्वयं सिद्ध होते हैं? पुत्र उत्पन्न होकर पितासे किस प्रकार नकार कर सकता है?

सच्चा प्रमाण—ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण, उसके भक्त और उनके हृदय हैं, जहाँ वह बैठकर लोगोंको अपने दर्शन देता है।

जिन मनुष्योंको कोई आस्तिक न बना सका, उनको इन (भक्तों) की एक दृष्टिने परिवर्तित कर दिया। विश्वास दिया, श्रद्धा-दान दिया—

अर्ज़ो[1] समा कहाँ तेरी वुसअत[2]को पा सके।
मेरा ही दिल है वो कि जहाँ तू समा सके॥

ईश्वरके नामकी उन्नतिका कारण नास्तिकजन हैं; क्योंकि जितना ही ये नकार करते हैं, उतनी ही उसकी सत्ताकी चर्चा बढ़ती जाती है अर्थात् न मानने और माननेवाले दोनों नाम लेने लगते हैं। ईश्वर सर्वव्यापक है, अतः उसको सर्वत्र होना चाहिये—इस हेतुसे वह नास्तिकके साथ 'नहीं' में और आस्तिकके साथ 'है' के रूपमें विद्यमान है। दृष्टिकी सत्ताका प्रमाण अन्य वस्तुएँ हैं। यदि कोई वस्तु सम्मुख न हो तो दृष्टिका ज्ञान ही नहीं हो सकता। श्रोत्र (कानों) की सत्ताका प्रमाण शब्द है। यदि शब्द न हो तो कान (सुननेकी शक्ति) का ज्ञान कैसे हो! इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण नकार और अङ्गीकार करनेवाले हैं। यदि ये न हों तो उसका ज्ञान क्योंकर हो?

एक नास्तिकने प्रश्न किया कि आप मुझसे प्रेम क्यों करते हैं? मैंने कहा कि जिसकी सत्तासे आप 'नाहीं' करते हैं, मैं उसीको आपमें देखकर प्यार करता हूँ।

वस्तुतः ईश्वरकी सत्ता युक्तियोंकी अपेक्षा नहीं करती, अपितु युक्तियाँ अपने अस्तित्वके लिये उसकी अपेक्षा करती हैं। युक्तियाँ

१—भूमि, आकाश। २—विस्तार।

मस्तिष्कसे निकलीं। मस्तिष्क शरीरसे सम्बन्ध रखता है। शरीर संसारसे और संसार ईश्वरसे। यदि ईश्वर न होता; संसार न होता, अतः शरीर न होता और मस्तिष्क भी न होता तो फिर युक्तियाँ कहाँसे आतीं ? अतः ईश्वरकी सत्ता युक्तियोंके अधीन नहीं, अपितु ये सब वस्तुएँ उसकी सत्ताके अधीन हैं; वह संसारके प्रत्येक परमाणुमें बैठकर 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' कह रहा है, किंतु हम 'नाम रूप'को देखकर उसको भूल जाते हैं। यदि आप चाहते हैं कि सिनेमाके पर्देपर चित्र आवें तो खिड़कियाँ बंद करके देखिये ! जब बाह्य प्रकाश बंद हो जायगा, चित्र प्रकट हो जायँगे।

इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ बाह्य प्रकाश अर्थात् इच्छाओंको लाकर मनपर फेंकना बंद कर देती हैं, तब उसकी सत्ताका प्रमाण मिल जाता है।

ईश्वरको पानेसे पूर्व उसकी इच्छाको उत्पन्न करना आवश्यक है। चक्षु सूर्यकी सत्ताका प्रमाण है; परंतु उसीके प्रकाशसे उसको देखता है। नेत्रमें सुर्मा जिस दृष्टिको बढ़ाता है, उसीसे छिप जाता है। वस्तुतः ईश्वरकी सत्ताका बड़ा प्रमाण वे महात्मा हैं, जिन्होंने अपने आपको उसके मार्गमें मिटा दिया है। ये महात्मा कैसे मिलें और उनकी पहचान क्या है ? इसका उत्तर यह है कि इच्छा होनेपर ये स्वयं ही मिल जाते हैं और उनकी पहचान केवल यह है कि सम्मुख आते ही हृदय उन्हें मान लेता है, जिससे बड़ी गवाही कोई नहीं। किसी व्यक्तिने किसी महात्मासे प्रश्न किया कि 'महाराज ! ईश्वरकी सत्ताका बड़ा प्रमाण क्या है ? हम उसको क्योंकर मानें ?'

उन्होंने कहा—'बेटा ! तुम मुझे अपने जीवनकी कोई ऐसी घटना सुनाओ जब कि तुमपर कोई घोर कष्ट आया हो ।' उसने कहा—'महाराज ! एक बार मैं जहाजपर सवार था । जहाज नष्ट हो गया, मेरे सम्मुख एक तख़ता था, मैंने तैरकर उसको पकड़ना चाहा । उस समय मुझको बहुत कष्ट हुआ था ।' महात्माजीने कहा—'बेटा ! उस समय तुम्हारे अंदर क्या भाव उत्पन्न हो रहा था ?' उसने कहा—'महाराज ! यही कि कोई बचावे, कहींसे सहायता मिले, कोई हाथ पकड़नेवाला प्रकट हो अर्थात् हर प्रकार हृदय सहायताको चाहता था और बार-बार किसीकी ओर सम्बोधित होता था ।' महात्माने कहा—'बेटा ! वही ईश्वर है अर्थात् जिस समय तुम अपनी विवशताको अनुभव करते हो, उस समय जिसकी ओर तुम्हारा हृदय सम्बोधित होता है और सहायता माँगता है, वही ईश्वर है । यह सहायता मिलनेका विचार प्राकृतिक है, कल्पित और बुद्धिसम्बन्धी नहीं । अतः इस स्वाभाविक इच्छाका जो प्रतीकार है, वही ईश्वर है । यदि कोई ईश्वर न होता तो मनुष्यमें अपनी विवशताके समय ईश्वरका विचार ही उत्पन्न न होता । तुम्हारी विवशता ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण है । दूसरे, जो तुम्हारे संकल्पोंके विरुद्ध करता है; वही ईश्वर है । अर्थात् जिस समय तुम विचार करते हो कि मैं यह अवश्य करूँगा और उसके लिये सब साधन भी विद्यमान होते हैं, ऐसे समयमें जो उस सारे संकल्पोंको तोड़ देता है और परिणाम तुम्हारे विचारके विरुद्ध निकालता है, वही ईश्वर है ।'

देखिये तो आपके सम्मुख एक कुर्सी है । आपने उसके बनानेवालेको नहीं देखा; परंतु उसकी रचना और निर्माणशैलीने तत्काल निर्णय कर दिया है कि इसका कोई कर्ता अवश्य है। फिर इतनी सुन्दर सृष्टिको देखनेसे क्या उसके बनानेवालेका ज्ञान नहीं होता ? कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि स्वयमेव बन गयी है। क्या कोई वस्तु स्वयं बन सकती है ? अच्छा, यदि यह ठीक है तो मैं पूछता हूँ, सृष्टि इच्छासे बनी या बिना इच्छाके ? इसका बनना सिद्ध करता है कि वह पहले न थी। अर्थात् जब सृष्टि न थी, तब सृष्टि स्वयं बन गयी। 'स्वयं' शब्द सृष्टिके अभावमें किससे सम्बन्ध रक्खेगा ? सृष्टिने स्वयं सृष्टिको बनाया या किसी अन्यने ? स्वयं बनानेके ये अर्थ हैं कि मैं अपने कंधेपर आप सवार हूँ। और यदि किसी अन्यने बनाया तो वही ईश्वर है। यदि कोई यह कहे कि नहीं, अनादिकालसे सृष्टिका प्रवाह इसी प्रकार चला आ रहा है, इसलिये किसी कर्ताकी आवश्यकता नहीं तो क्या मैं पूछ सकता हूँ कि सृष्टि सावयव है या निरवयव ? यदि निरवयव है तो बनना असंगत हो गया और यदि सावयव है तो इसके अर्थ ये हैं कि कभी इसके अवयव मिले और कभी पृथक् हुए । अब वह मिलाने और पृथक् करनेवाली शक्ति कौन है ? जड प्रकृतिमें तो संकल्पका अभाव है। अमुक रूप इस प्रकार है और अमुक इस प्रकार, ऐसा कोई संकल्प जडमें नहीं हो सकता। और यहाँ तो अखिल सृष्टि विधिपूर्वक बनी है। नेत्रके लिये सूर्य, श्रोत्रके लिये शब्द, जीवनके लिये वायु, प्यासके लिये पानी इत्यादि। दिनके लिये सूर्य, रात्रिके लिये चन्द्रमा ।

पुनः आकर्षण अर्थात् Law of gravitation के सिद्धान्त और संसारका इस प्रकार स्थिर रहना, ऋतुओंका समयपर बदलना क्या जड प्रकृतिका खेल है ? अतः सृष्टि अपना कारण आप नहीं बन सकती, इसलिये इसका कर्ता ईश्वर है ।

(३) ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण वे महात्मा हैं, जो कहते हैं कि हमने उसको जाना है। नास्तिक तो केवल यही कहते हैं कि हमारे अनुभवमें कोई ईश्वर नहीं आयो, पर इनसे बड़े प्रेमसे केवल इतना ही पूछना है कि कभी उन्होंने उसके मार्गपर चलकर उसके देखनेका प्रयत्न किया, जिसका वर्णन महात्माओंने अनुभव करके लिखा है ? जाइये और टुक उनसे पूछिये, फिर यदि समझ न आयी तो नकार कर देना ।

तेरी नासिहा ! यह चुना ओ चुनी ।
कि है खुदपसन्दी के ये सब करीं ॥
न वेगी दिखाई तुझे ये कहीं ।
सुझाया किसीने कभी जो कहीं ॥

अर्थात् हे उपदेशक ! तेरी ये युक्तियाँ और कुतर्क सब अहंमानिताको अलंकृत करनेवाली हैं। ये तुझे दिखायी भी न देंगी, जो कभी किसी (गुरु) ने बोध करा दिया अर्थात् फिर तर्क-वितर्ककी आवश्यकता न रहेगी—सब संशय निवृत्त हो जायँगे ।

यह आपके सम्मुख एक पुष्प है। आप नेत्रसे उसमें वर्ण, श्रोत्रसे शब्द, जिह्वासे रस, नासिकासे सुगन्ध, त्वचासे कोमलता (नरमी) आदिका अनुभव करते हैं; परंतु चक्षुके लिये केवल वर्णका संसार

है और कुछ नहीं। यदि उससे पूछा जाय कि इसमें सुगन्ध आदि भी है? तो वह स्पष्ट नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसके लिये तो केवल रंग एवं रूपका ही संसार है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंकी अवस्था है; परंतु जैसे नेत्रके शब्दसे नकार करनेपर भी, श्रोत्र उसे अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार कौन कह सकता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके अतिरिक्त भी पुष्पमें और कोई वस्तु विद्यमान नहीं है? जिस प्रकार शब्दसे चक्षुने नकार किया था और श्रोत्रने उसको अङ्गीकार किया था, उसी प्रकार इन्द्रियाँ उस छठी (६ वीं) सत्तासे नकार करती हैं, परंतु हृदयके नेत्र अर्थात् पवित्र हृदय—प्रेमपूर्ण हृदय—उसको अङ्गीकार करता है। सभी महात्माओंने लिखा है कि उसको पवित्र हृदयसे जानो।

प्रथम हृदयको पवित्र करो। हृदयकी पवित्रता क्या वस्तु है? नम्रता (विनय), प्रेम, विश्वास, प्रार्थना, सहनशीलता, आत्मसमर्पण। इन बातोंको प्रथम अन्धविश्वाससे मान लेनेपर हृदय शुद्ध हो जाता है। इसके उपरान्त जिसकी सत्तासे नकार किया जाता है, वह स्वयं ही स्वीकृति (आस्तिकता) में परिवर्तित हो जाती है।

एक घटना सुनाता हूँ। एक बार लाहौरमें कुछ प्रेमी मुझको सैरके लिये नहरपर ले गये और वहाँ जाकर कुछ फल खानेको दिये। उन फलोंको देखकर मेरे मनमें गन्नेका ध्यान उत्पन्न हुआ। वह स्थान नगरसे बहुत दूर था, इसलिये गन्नेका लाना बहुत कठिन था। मैंने मनसे कहा—'भाई! एक गन्नेके लिये अपना साम्राज्य क्यों बेचते हो? जबतक तुम्हारे अंदर कोई इच्छा नहीं, तुम राजा

हो; क्योंकि इच्छाकी दासतासे जगत्की दासता करनी पड़ती है ।' मैंने उस इच्छाको बड़ी सरलतासे उठाकर फेंक दिया या ईश्वरार्पण कर दिया । अब सुनिये—वह प्रेमी जो मुझे मोटरमें नहरपर लाये थे, अपनी टोपीको सिरसे उतारकर कहने लगे, 'महाराज ! यह मैली हो गयी है' और झट नहरमें फेंक दी । मैंने उनसे कहा कि 'आपने यह क्या किया ?—अच्छा होता यदि आप इसको किसी निर्धनको दे देते; क्योंकि उसके लिये यह मुकुटका काम देती । चाहे आपके लिये यह एक अनुपयोगी वस्तु थी ।' उनको अपनी इस चेष्टापर अनुताप हुआ और उन्होंने टोपी पकड़नी चाही, परंतु टोपी उनसे रुष्ट होकर दूसरे तटपर जा लगी । इनको यह ध्यान हो गया था कि मैंने अच्छा नहीं किया जो टोपीको इस प्रकार उतारकर फेंक दिया । इसलिये दौड़े और टोपीको लानेका यत्न किया । पार जानेके लिये एक पुल था जो कि बहुत दूर था, किंतु ये दौड़े और पुलपर जा पहुँचे । क्या देखते हैं कि वहाँ एक गन्नेवाला खड़ा है । उन्होंने उससे कहा कि 'क्या आप मुझे टोपी निकालनेके लिये गन्ना दे सकते हैं, इसके अनन्तर मैं वापस कर दूँगा ।' उसने देखा कि भले आदमी हैं और गन्ना दे दिया । उन्होंने गन्नेसे टोपीको निकाला और मुझे पुकारा कि 'महाराज ! क्या गन्ना चूसेंगे ? मैं ले आऊँ ?' मैंने कहा, 'जैसे आपका मन चाहे ।' अस्तु, वह गन्ना लाये और आकर गीली टोपीको अपने सिरपर रख लिया । मैंने कहा—'यह किसी दरिद्रको दे दो, आप क्यों पहनते हैं ?' उन्होंने कहा, 'मुझसे अधिक दरिद्र कौन है ? मैं

इसे अवश्य पहनूँगा।' इधर टोपी उनके सिरपर थी, उधर गन्ना उनके हाथमें था। मैं इस घटनाको देखकर हँसने लगा। उन्होंने कहा, 'महाराज! आप क्यों हँस रहे हैं?' मैंने कहा—'क्या बताऊँ। अभी-अभी गन्नेका विचार उत्पन्न हुआ था। यहाँ गन्ना मिलना कठिन था, मैंने उस विचारका त्याग कर दिया अर्थात् ईश्वरार्पण किया। भगवान्‌ने गन्ना मुझतक पहुँचानेके लिये आपके अंदर यह विचार उत्पन्न किया कि आपकी टोपी मैली है और उसको आपके सिरसे नहरमें फिंकवाया और मुझसे यह कहलवाया कि 'अच्छा होता यदि आप इस टोपीको किसी निर्धनको दे देते।' तदनन्तर आपको पश्चात्ताप हुआ और आप पकड़ने भागे; परंतु टोपी दूसरे तटपर जा लगी; आपको यहाँ भी संतोष न हुआ, इसलिये आप दौड़कर पुलपर गये, वहाँ गन्नेवाला खड़ा था। आपने उससे गन्ना लेकर अपनी टोपी निकाली और उसके साथ गन्ना भी मोल ले आये। अब टोपी फिर आपके सिरपर है और गन्ना मेरे सामने है।' वे हँसकर कहने लगे कि यदि आपको गन्ना चूसना था तो आपने मुझसे क्यों न कहा, मैं बाजारसे ले आता। मेरी टोपी क्यों फिंकवायी? और हँसने लगे। मैंने कहा—'यही ईश्वर है, जो हमारे संकल्पोंको इस प्रकार पूरा करता है। कतिपय मनुष्य इसको संयोग वा 'यदृच्छा' (Chance) कहते हैं; परंतु इतनी नियमितता क्या 'संयोग' से सम्बन्ध रख सकती है, फिर 'यदृच्छा' तो वह वस्तु है जिसका कोई कारण न हो—और जिसका कारण नहीं, वह वस्तु ही मिथ्या है, वहम (भ्रम) है, धोखा है।'

एक दिन मुझे प्यास लगी। मेरे पास सुराही और गिलास था। मैंने गिलासमें पानी डालकर पीना चाहा, सब प्रेमी उस समय मुझको सुलाकर चले गये थे। पानी पीते समय ध्यान आया कि जब मैं बच्चा हूँ, तब अपने हाथसे क्योंकर पानी पी सकता हूँ। बुद्धिने कहा, 'तो फिर यहाँ कौन-सी मा बैठी है, जो पानी पिलायेगी!' मैंने कहा, 'क्या यही आस्तिकता है कि यहाँ कौन-सी मा बैठी है? मेरी मा तो हर समय उपस्थित है।' मैं पानी अवश्य पी लेता, परंतु उस समय मैं अपने आपको नन्हा बच्चा कल्पना कर रहा था, इसलिये मैंने पानी न पिया और माके हाथोंसे पानी पीनेका विचार किया। उधर प्यास पानीके लिये बेचैन कर रही है, इधर बचपनका विचार पीने नहीं देता! बुद्धि हँसी उड़ा रही है और मैं चुपकेसे लेटा पड़ा हूँ। माकी प्रतीक्षा है। कुछ ही मिनटके पश्चात् एक प्रेमी श्री आर० आर० खन्ना आकर कहने लगे—'महाराज! क्या पानी पीयेंगे?' मैं हँसने लगा। उन्होंने कहा 'आप हँसते क्यों हैं?' मैंने कहा कि 'मेरी मा मुझको पानी पिलाने आयी है, क्या आप नहीं देखते?' बुद्धि लज्जित और चकित थी और मैं हँस रहा था—यही ईश्वर था। इस प्रकारकी सहस्रों घटनाएँ जीवनमें प्रायः आती रहती हैं और प्रत्येक मनुष्यके ही आती हैं; परंतु हमारी बुद्धि या तो उनको भूल जाती है और या संयोग कहकर टाल देती है; परंतु मैं पूछता हूँ कि जब हमारे प्रश्नोंका उत्तर कोई निरन्तर देता रहे और स्वयं दृष्टि न आये; तब क्या हम यह न समझेंगे कि हमारे प्रश्नोंका उत्तर देनेवाला अवश्य कोई है?

एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ, जिसमें ईश्वरके दर्शनका प्रमाण तो नहीं मिलता, परंतु उसके दर्शन करानेवालोंका प्रमाण अवश्य मिलता है। जो दृष्टिसे काया पलट सकते हैं, उनमें ये शक्तियाँ यदि ईश्वरकी नहीं तो किसकी हैं? जिस समय मैं बालक था, मेरे मनमें एक दिन विचार उत्पन्न हुआ कि 'मुझे ईश्वरको जानना चाहिये जिसकी चर्चा कोने-कोनेमें हो रही है; क्योंकि उसके जाननेसे बहुत आनन्द मिलता है। संसारके सब पदार्थ मिटनेवाले हैं, इनमें चैन कहाँ?' मैं इस इच्छाको लेकर अपने श्रीमहाराजके चरणोंमें उपस्थित हुआ और प्रार्थना की, 'हे पिता! हे गुरो! लोग दूर-दूरसे आपके दर्शनोंको आते हैं और आनन्दित होकर जाते हैं। आपसे भगवान्‌का नाम पूछते हैं और आप बताते हैं। क्या मैं भी अपनी बाल्यावस्थामें यह प्रश्न कर सकता हूँ कि ईश्वर क्या वस्तु है?' महाराज मेरी इस बातको सुनकर मुसकराये और आदेश किया, 'बेटा! तुम्हारा खेलना-कूदना ही इस समय तुम्हारा ईश्वर है।' मैंने निवेदन किया—'भगवन्! इस इच्छासे पूर्व मैं इसीको सब कुछ समझता था; परंतु जब उसके जाननेका ध्यान उत्पन्न हुआ, मेरा ईश्वर यह नहीं।' महाराजने आदेश किया—'तो क्या तुम ईश्वरको जानना चाहते हो? अच्छा, यदि यह बात है तो अमुक-अमुक बात किया करो, तुमको ईश्वर मिल जायगा।' मैंने विनती की—'भगवन्! मेरी उत्सुकता मुझे इस धैर्यका पाठ नहीं पढ़ा सकती। भगवान् अपनी कृपासे उसको दिखायें, मेरी उपासनाकी ओर न देखें।' मैंने कहा, 'भगवन्! अपनी ऐनक दे दीजिये, मैं देखकर लौटा दूँगा।' बोले 'मेरी ऐनक तुम्हें क्योंकर लगेगी?' मैंने

कहा—'पुत्र अपने पिताकी सम्पत्तिको ले सकता है या नहीं ? यदि यह सत्य है तो मुझे अपनी कमाईमेंसे भाग दीजिये ।' कहने लगे 'अपने ही स्वार्थकी वात करते हो ।' मेरे हृदयमें उस समय ईश्वरके लिये अपार उत्सुकता थी । महाराजने आदेश किया—'वेटा जाओ, एकान्तमें जा वैठो, जो होगा, स्वयं ही ज्ञात हो जायगा ।' मैं आज्ञानुसार अपना कमरा वंद करके वैठ गया । मैं वालक था और यह समझता था कि शायद ईश्वर इस प्रकारका होगा या उस प्रकारका होगा । एक वालकके ईश्वरके सम्वन्धमें क्या विचार हो सकते हैं ? परंतु थोड़े ही समयके पश्चात् विना किसी उद्योगके सव वस्तुएँ वाहरकी लुप्त होने लगीं । मैं क्या देखता हूँ कि सृष्टि अन्तर्हित हुई जा रही है । मैं चकित हुआ । इसके साथ-साथ शरीरका दृश्य भी लुप्त हो गया, केवल यह ध्यान रहा कि कुछ नहीं रहा । चिरकालके पश्चात् इससे भी पृथक्ता मिली । अव क्या अनुभव किया—किस प्रकार वर्णन करूँ ! हाँ, इतना कह सकता हूँ कि आनन्दका अनन्त समुद्र लहरा रहा था । मैं उस अवस्थामें गया और पुनः लौट आया । किस प्रकार गया ? किस प्रकार आया ? विदित नहीं । हाँ, जो कुछ अनुभव किया । उसकी स्मृति शेष रही । पुनः प्रयत्न किया—किस प्रकार पहुँचता ? अन्तको महाराजकी सेवामें उपस्थित होकर कहा—'क़दहे वलवम् वूदो शिकस्ती रव्वी' अर्थात् अमृतका प्याला मेरे मुखतक आया और तूने उसे तोड़ दिया । आदेश किया 'यथासमय मिल जायगा, तुम विश्वास चाहते थे सो तुमको दिया गया ।'

जो कुछ उस अवस्थामें अनुभव हुआ, वह ईश्वर था या कोई अन्य, इससे कोई सम्वन्ध नहीं; परंतु इतना अवश्य कहता हूँ कि वह अवस्था वालकका हृदय वदलनेके लिये अद्भुत प्रभाव रखती थी। इस दृष्टान्तसे यदि ईश्वरकी सत्ताका दर्शन नहीं प्रमाणित होता तो उसतक पहुँचनेके साधन तो ज्ञात होते हैं अथवा मार्गकी वस्तुएँ तो दृष्टि आती हैं चाहे लक्ष्यस्थान न आता हो। इसमें पहली वात यह है कि इस प्रकारके महात्मा एक दृष्टिसे ईश्वरका विश्वास देते हैं; काया पलट देते हैं तो क्या ये महात्मा ईश्वरकी सत्ताके लिये प्रमाण नहीं हैं? लोग कहते हैं, प्रथम ईश्वर दिखाओ फिर विश्वास करेंगे। महात्मा कहते हैं कि पहले इंग्लैंड दिखाओ फिर चलेंगे। यदि इंग्लैंड विना गये देखा नहीं जाता तो ईश्वर विना विश्वासके क्योंकर मिलेगा? महात्माओंका वाक्य मानकर इतना मान लीजिये कि 'वह है' और इस धारणासे जीवन व्यतीत करना सीखिये। हर समय उसको स्मरण रखिये। उसको आवश्यकताके समय वुलाइये। आनन्दके समय उसको धन्यवाद दीजिये, अन्तमें अपने आपको उसके अर्पित करके दुःख और सुखके विचारको छोड़ दीजिये। यदि आपकी पुकारोंका उत्तर मिलने लगा तो फिर किसी प्रमाणकी क्या आवश्यकता रहेगी? जिस मनुष्यने पानी पीकर प्यास वुझायी है, उसका विश्वास कौन खण्डित कर सकता है? परंतु जिसने केवल यह समझा है या सुना है युक्तियोंद्वारा सिद्ध किया है कि पानीमें प्यास वुझानेकी शक्ति है तो सम्भव है उसके इस विश्वासको कोई दूसरा उससे अधिक ज्ञान रखनेवाला तोड़ दे।

फल्सफी[1] को बहस[2] के अन्दर खुदा[3] मिलता नहीं।
डोर को सुलझा रहा है और सिरा मिलता नहीं ॥ १ ॥
मार[4] फत खालिक[5] की आलम[6] में बहुत दुसवार[7] है।
शहरे तनमें[8] जब कि खुद[9] अपना पता मिलता नहीं ॥ २ ॥

वस्तुतः यह खोज ही उसको गुप्त कर देती है यथा—आप और आपकी 'मैं' हर समय उपस्थित है, परंतु जैसे ही आप इसको ढूँढ़ना आरम्भ करते हैं तो उसका पता नहीं मिलता। सच बात तो यह प्रतीत होती है कि यह सृष्टि स्वयं नहीं बनी। इसका बनानेवाला अवश्य कोई है, जिसकी आज्ञा या नियम इस संसारके अंदर कार्य कर रहे हैं। इन सिद्धान्तोंकी नियमितता उसकी सत्ताका प्रमाण है। जो अनियमितताएँ संसारमें प्रतीत होती हैं, वे हमारी बुद्धिकी निर्बलताएँ हैं। हम जिस समय सूर्यको किसी छिद्रद्वारा देखते हैं तो बहुत छोटा प्रतीत होता है। अतः ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण अन्धविश्वास है अथवा थोड़ा विश्वास है। पहले विश्वास फिर सुना-सुनाया स्मरण कीजिये। तत्पश्चात् परिणाम स्वयं ही सामने आ जायगा।

अन्तमें मेरी ईश्वरसे यही प्रार्थना है कि वह स्वयं ही अपनी कृपासे हम सृष्टिके क्षुद्र जीवोंको अपना विश्वास दे; नहीं तो जिस बुद्धिसे संसारका एक परमाणु भी समझमें नहीं आता, उससे उसके कर्त्ताका ज्ञान कैसे हो सकता है?

१—नैयायिक। २—विवाद। ३—ईश्वर। ४—वेदान्त। ५—ईश्वर। ६—संसार। ७—कठिन। ८—शरीररूपी नगरी। ९—स्वयं।

पण्डितप्रवर श्रीपञ्चानन तर्करत्न

१—अपने मनुष्य-जन्मको सार्थक करनेके लिये ईश्वरको मानना चाहिये ।

व्याख्या—

जीवमात्र ही त्रिगुणात्मिका मायाके अधीन हैं । सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं । सत्त्वगुण ज्ञान और सुखप्रधान है, रजोगुण कर्म और दुःखप्रधान है एवं तमोगुण आवृतभाव और मोहप्रधान है । सभी जीवोंमें न्यूनाधिकरूपसे ये तीनों गुण अपनी शक्तिको प्रकट करते हैं । अन्यान्य जीवोंमें ज्ञानका विकास अल्प होनेके कारण वे तमःप्रधान हैं; मनुष्य कर्मठ होनेके कारण साधारणतः रजःप्रधान होनेपर भी उसमें जाति-वर्ण-भेदसे सत्त्वादि गुणोंका आपेक्षिक तारतम्य रहता है । इन तीनों गुणोंकी त्रितन्त्री-रज्जुसे जीवमात्र बँधे हुए हैं । सत्त्व-प्रधान मनुष्य ज्ञान और सुखके बन्धनमें, राजस मनुष्य कर्म और दुःखके बन्धनमें और तामस मनुष्य निद्रा, प्रमाद, आलस्य और भयसे अभिभूत होनेके कारण इनके बन्धनमें बँधे हैं । इस बन्धनसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय है—ईश्वरकृपा । । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

'जो मेरी शरण होते हैं, वे मेरी मायासे तर जाते हैं' इस प्रमाणसे ही नहीं, जरा-सा प्रयत्न करनेपर इस बातको प्रत्यक्ष भी किया जा सकता है ।

मनकी कैसी भी अवस्था हो, कुछ देरतक बलात् बैठ जाओ और मनको अपने हृदय-कमलपर स्थित इष्टदेवके चरणोंमें लगा दो, थोड़ी ही देर क्यों न हो, फिर देखो उस समय जो शान्ति मिलती है, वह कितनी मधुर है ! इस प्रकार जितनी अधिक देर बैठ सकोगे, उतना ही शान्तिका आस्वादन अधिक होगा। इस प्रशान्त भावके स्थायी होनेपर यदि इसी अवस्थामें देह-त्याग हो जायगा तो तुम सहज ही बन्धनसे मुक्त होनेके मार्गपर चले जाओगे। ईश्वरको न माननेपर यह शान्ति तुम्हें कभी नहीं मिल सकती। सम्भव है कि शराबके नशेकी भाँति तुम्हें कामिनी-काञ्चनमें उद्दाम आनन्दका अनुभव हो, किंतु वह शान्ति नहीं है, बन्धन-मुक्तिका मार्ग नहीं है। पता नहीं, संसार-नदीके प्रवाहमें बहते-बहते तुम किस भयानक अथाह सागरमें जाकर गिर पड़ोगे। ईश्वर-भक्ति इसभव-नदीके बीचमें एक आनन्द-द्वीप है। इस द्वीपका आश्रय मिल जानेपर नदीमें बहना नहीं पड़ता। नहीं तो, इस बातका कोई निश्चय नहीं है कि इस जन्मका मनुष्य दूसरे जन्ममें किस योनिको प्राप्त होकर पुनः भ्रमणके चक्रमें पड़ जायगा, ईश्वरका आश्रय लेनेपर ही मनुष्य-जन्म सार्थक होगा, तभी वह उल्टा बहकर संसार-सरिताके मूलस्थानपर पहुँच सकेगा।

२—ऐसी कोई हानि ही नहीं है जो ईश्वरमें अविश्वास करनेपर न हो।

व्याख्या—

ईश्वरमें अविश्वासी मनुष्य नीतिके रूपमें सत्यनिष्ठताको ग्रहण कर सकता है; परंतु ऐसी अवस्थामें गुह्यरूपसे उसका

सत्यनिष्ठासे गिर जाना बहुत सम्भव है। जिसका ईश्वरमें विश्वास नहीं है, जिसके मनमें भगवत्कृपा प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है, वह कितना ही समाजसेवक क्यों न हो, केवल नीतिका आश्रय लेकर वह काम-क्रोधादि रिपुओंकी सामयिक उत्तेजनासे कभी नहीं बच सकता और उपर्युक्त शान्तिके मार्गकी ओर तो वह जा ही नहीं सकता। अतएव ईश्वरको न माननेमें सत्यसे गिरना, इन्द्रिय-संयमका अभाव और शान्तिपथके अनुसंधानमें असमर्थता आदि अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं।

३—ईश्वर समस्त प्रमाणोंसे अतीत है, ऐसा दार्शनिकगण कहते हैं, उनके इस कथनका क्या अर्थ है, इस विषयपर मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता; पर मेरा अपना मत यह है कि ईश्वर सर्व-प्रमाण-सिद्ध हैं। एक तृणसे लेकर बड़े भारी ग्रहतक जिस ओर भी देखो, सभी ईश्वरका प्रमाण है। यह अनन्त विचित्रतामय विश्वपट कोई आकस्मिक नहीं है, अचेतनका विकास नहीं है, इसके अन्दर जो निपुणता भरी है, उसको सर्वज्ञ और सर्वशक्तियोंके स्वामीके अतिरिक्त और कोई नहीं दिखला सकता। इसके सिवा, मैं अपने विश्वासपर यह भी कहता हूँ कि भगवान् भक्तके दृष्टिगोचर और वाक्य-प्रयोगके द्वारा श्रुतिगोचर भी हुआ करते हैं। शास्त्रप्रमाण तो है ही; मैं पुनः कहता हूँ कि ईश्वर सर्व-प्रमाण-सिद्ध हैं। उनको प्रत्यक्ष किया जाता है, तत्त्वसे जाना जाता है और उनमें प्रवेश किया जाता है—ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप। ईश्वरकी सिद्धिके लिये प्रमाण नहीं ढूँढना पड़ता।

४—प्रायः ३३-३४ वर्ष पहलेकी बात है। श्रावणके कृष्णपक्षकी रात्रि थी, आकाश बादलोंसे आच्छादित था। मैं रातको आठ बजेकी ट्रेनसे, कलकत्तेसे अपने घर जा रहा था। हमारा मकान भट्टपल्ली गाँवमें कलकत्तेसे साढ़े बाईस मील उत्तरकी ओर है। बाईस मीलपर काँकनाड़ा स्टेशन है, स्टेशनसे उत्तर छः-सात मिनटके रास्तेपर हमारी पाठशाला है, उससे उत्तर तीन-चार मिनट चलनेपर हमारा घर मिलता है। रेलकी पटरीके नीचे इस समय स्टेशनसे लेकर हमारे घरके पासतक पक्की सड़क बन गयी है; किंतु उस समय पक्की सड़क नहीं थी। बल्कि पाठशालाके सामने एक पुष्करिणी थी और पूर्वकी ओर रेलके तार लगे हुए थे; पुष्करिणीके पूर्वांश और तारोंके पश्चिमांशके बीचसे एक छोटी-सी पगडंडी थी। ट्रेन आनेके समय भगवत्कृपासे मेरा मन उनके नाम-कीर्तनमें लग गया। जिस समय ट्रेन बारकपुर स्टेशनपर पहुँची, उस समय थोड़ा-थोड़ा पानी बरस रहा था, बारकपुरमें सारी गाड़ी खाली हो गयी। उच्चस्वरसे नाम-कीर्तनका सुयोग देखकर मेरे मनमें अत्यन्त आनन्द हुआ, परन्तु वर्षा और अन्धकारको देखकर कुछ क्षणोंके लिये मन जरा चञ्चल हो गया। रेलके किनारे रास्तेकी फिसलाहट और अंधेरेमें पुष्करिणीके बीचसे होकर जानेमें क्लेशकी बात याद आ गयी, मनमें स्फुरणा हुई कि कहाँ तो यह आनन्द और कहाँ ट्रेनसे उतरते ही उतना क्लेश; परंतु दूसरे ही क्षण यह विचार जाता रहा और मैं नाम-कीर्तनके आनन्दमें निमग्न हो गया। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय मुझे बाह्य ज्ञान नहीं था; क्योंकि काँकनाड़ा स्टेशन

आते ही मुझे पता लग गया और मैं गाड़ीसे उतर पड़ा। अब नाम-कीर्तन बंद हो गया। सब ओर अन्धकार छा रहा था, सीधे रास्तेमें बड़ी फिसलान है और दूरके राज-पथपर शराबियोंका उपद्रव है। अन्तमें मैंने सीधे रास्तेसे ही जाना स्थिर किया और धीरे-धीरे चल पड़ा। कुछ ही दूर चला था कि मैंने देखा, लालटेन लिये कोई आ रहा है और दक्षिणकी ओर जोरसे आगे बढ़ रहा है। रास्तेके बगलमें आते ही मैंने देखा, मेरे ही दो विद्यार्थी हैं। मैंने विस्मित होकर उनसे पूछा 'तुमलोग कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने कहा—'आपको लेने।' मैंने फिर पूछा 'तुमलोगोंको कैसे पता लगा कि मैं इसी ट्रेनसे आ रहा हूँ?' विद्यार्थियोंने उत्तर दिया—'अभी जो ट्रेन स्टेशनसे निकल गयी, उसमेंसे आप ही तो बड़े जोरसे हमलोगोंका नाम लेकर पुकारते हुए कह रहे थे कि रोशनी लेकर जल्दी स्टेशनपर आओ, इसीसे हमलोग दौड़ आये हैं।' मैंने छात्रोंसे पूछा—'ट्रेन स्टेशनसे उत्तरकी ओर गयी, फिर तुम दक्षिणकी ओर क्यों आये?' उन्होंने कहा, 'ठीक तो नहीं कह सकते कि ऐसा क्यों किया; परंतु यह सोचा कि पहले काँकनाड़ा स्टेशन देखकर तब उत्तरके नैहाटी स्टेशन जायँगे, इसीसे इधर चले आये।' मैंने सोचा, 'मैं कितना हतभाग्य हूँ, मुझे इस सामान्य क्लेशका स्मरण न होता, तो पता नहीं कितनी भगवत्-कृपा प्राप्त होती!' उस समयकी मनकी स्थितिका क्या वर्णन करूँ? मेरी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। मैंने गद्गद-कण्ठ होकर दोनों छात्रोंसे कहा, 'अरे, तुम बड़े भाग्यवान् हो, तुमने आज भगवान्‌के शब्द श्रवण किये, मैंने तुम्हें नहीं

पुकारा था, यह पुकार तो उन्हींकी थी ।'

वे दोनों ही छात्र अध्यापक हुए। दोनोंने ही उपाधियाँ प्राप्त कीं। इनमेंसे मथुरेश तर्कतीर्थ तो सिमलापाल राज्यके सभा-पण्डित हुए; अब इनका परलोकवास हो गया है और दूसरे श्रीमान् रामरक्ष तर्कतीर्थ इस समय मेदिनीपुर जिलेकी प्रधान चतुष्पाठीके प्रधान अध्यापक हैं।

उस समय मुझे इस प्रकारकी कृपाके और भी अनुभव होते, किंतु वयोवृद्धिके साथ-ही-साथ मेरी अवनति होती गयी। इस समय मैं प्रभुसे दूर हूँ। उनका परित्यक्त अपराधी भृत्य हूँ। ये सब बातें खोलनेकी नहीं थीं, किंतु बहुत दिनोंसे मैं उन्हें भूल रहा हूँ, उनकी कृपाका अनुभव नहीं कर पाता हूँ, इसीसे निराश होकर आज यह लिख रहा हूँ।

चौथे प्रश्नका उपसंहार यह है कि मैं अपनी दस वर्षकी उम्रमें ही, केवल बाईस घंटेके अंदर पहले पितृहीन और फिर मातृहीन हो गया था। तबसे वही—'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।'—भगवान् मेरे पिता-माता बन गये और उन्होंने ही मेरी रक्षा और शिक्षादिकी सारी व्यवस्थाएँ कीं। इस सम्बन्धकी प्रत्येक घटना मेरे लिये उनके माता-पिता होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है; किंतु इन बातोंका केवल मुझको ही पता है, दूसरा कोई साक्षी नहीं, इसीसे मैंने इनका उल्लेख न करके केवल एक उसी घटनाका वर्णन किया है, जिसका एक अप्रमादी साक्षी अभीतक जीवित है। लालटेन लेकर स्टेशनपर छात्रोंको बुलाना मेरे उन पिता-माताका ही कार्य था, इसमें कोई संदेह नहीं। कारण,

छात्र मेरी पाठशालामें पढ़ रहे थे, अनेक छात्र थे, चलती हुई गाड़ीसे मनुष्यके पुकारनेपर उसका बाहरके लोगोंद्वारा सुना जाना असम्भव है। यद्यपि हमारी पाठशाला रेलसे ५०-६० फुटकी दूरीपर ही थी, किंतु चलती गाड़ीसे और मेरे ही स्वरसे पुनः-पुनः पुकारना भगवान्‌की लीलाके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। छात्रोंने मुझसे कहा था कि 'हमलोग निःसंदेह आपकी ही आवाज सुनकर दौड़े आये हैं, काँकनाड़ासे उत्तर डेढ़ मीलकी दूरीपर नैहाटी स्टेशन है, आप यहाँ न मिलते तो हमलोग नैहाटी जाते, परंतु यहाँसे छूटकर नैहाटीको जाती हुई गाड़ीसे आपकी आवाज सुनकर भी हम यहाँ क्यों आये, इस बातका ठीक उत्तर हम नहीं दे सकते, प्रबल इच्छा हुई कि पहले यही स्टेशन देख चलें।'

कृपाकी यह घटना अति क्षुद्र होनेपर भी उन माता-पिताने यह सोचकर कि इस अँधेरी बरसातकी रातमें हमारा बच्चा क्लेशकर मार्गसे कैसे जायगा, उसका उपाय किया था। मेरे घर लौटनेका कोई समय निश्चित न होनेके कारण मैं पहलेसे कोई व्यवस्था न कर सका; किंतु मेरे मा-बापने वह व्यवस्था—प्रकाश लेकर सामने जानेवालेकी व्यवस्था कर दी!

इस समय मैं भक्तिशून्य कठिन-हृदय होनेपर भी उनकी कृपाकी बातका स्मरणकर सचमुच मुग्ध हो जाता हूँ और भी कितनी ही बातें हैं, पर उन्हें कह नहीं सकता।

पोद्दारजी! आप चिरजीवी हों। आपके इस प्रश्नसे उस समयके भावने जाग्रत् होकर क्षणकालके लिये मेरे हृदयको शीतल कर दिया।

श्रीपरमहंस बाबा श्रीअवधविहारीदासजी महाराज, त्रिवेणीबाँध

१–ईश्वरको दो कारणोंसे माना जाता है। पहला कारण यह है कि जीव ईश्वरका अंश है और अंशका धर्म है अंशीको मानना; क्योंकि अंशीके बिना अंशका निर्वाह ही नहीं हो सकता। अतः अंश यदि अपने धर्मका पालन करनेके लिये ईश्वरको (अंशीको) न मानेगा तो उसे नाना प्रकारके दुःख उठाने पड़ेंगे। जीव ईश्वरका अंश है, इसमें ये प्रमाण हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५।७)

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(रामचरितमानस)

दूसरा कारण है कि ईश्वरको माननेवाले ही त्रियोग कर सकते हैं। त्रियोग अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन्हींमेंसे किसीके द्वारा साधन करता हुआ जीव अपने जीवनके चरम लक्ष्य ईश्वरको प्राप्त होकर जन्म-मरणके चक्रसे छूट-कर अचल हो जाता है। ईश्वरके न माननेसे मनुष्यका उद्धार कभी नहीं हो सकता है। प्रमाण यह है—

सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होई अचल जिमि जिव हरि पाई॥

अतः ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये।

२—ईश्वरको न माननेवालेको त्रियोग दुर्लभ है और योगसे श्रेष्ठ दूसरा कोई लाभ नहीं, इसमें प्रमाण है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(गीता ६। २२-२३)

लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा। × × ×॥
लाभ कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥

(रामचरितमानस)

ईश्वरको न माननेवाले इस प्रकारके भक्तियोगसे वञ्चित रह जाते हैं। भक्तियोगसे रहित होनेके समान दूसरी कोई हानि नहीं है। इसका प्रमाण यह है—

हानि कि जग यहि सम कछु भाई। भजिअ न रामहि नरतनु पाई ॥

सारांश यह है कि ईश्वरको न माननेवाला अधोगतिको प्राप्त होता है और इससे बढ़कर कोई हानि नहीं हो सकती।

३—पुराणोंमें यह बात स्पष्टरूपसे लिखी मिलती है कि समुद्रके मन्थन करते समय जब हलाहल विष निकला और उसकी ज्वालासे देवता-दैत्य सब जलने लगे, तब शिवजीने भगवान्‌का नाम लेकर उसको पान कर लिया। भगवान्‌ने उनकी रक्षा की। उस हलाहल विषसे मृत्युके स्थानमें अमृतका फल उन्हें प्रदान किया। इससे ईश्वरका होना सिद्ध होता है। दूसरी एक कथा सबको विदित ही है। दुर्योधनकी सभामें दुःशासनने द्रौपदीका चीर खींचकर उसे नंगी करना चाहा। द्रौपदीने ईश्वरका स्मरण किया, दुःशासन चीर खींचते-खींचते हार गया, उसकी एक ओर चीरका पहाड़-सा लग गया, परंतु द्रौपदीको वह नंगी न कर सका। द्रौपदी वैसी ही चीर पहने खड़ी रही। यह ईश्वरकी रक्षाका सुन्दर उदाहरण है, इससे ईश्वरके होनेमें कोई संदेह नहीं रह जाता।

ईश्वरके होनेका तीसरा प्रमाण यह है कि गर्भगत शरीरमें प्राण-वायुका प्रवेश करना और पुनः शरीरसे उसका बाहर निकलना किसका खेल है? सिवा ईश्वरके ऐसी सामर्थ्य और किसमें है, इससे भी ईश्वरका होना सिद्ध है।

महात्मा श्रीबालकराम विनायकजी

प्रश्न–ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

उत्तर–एक सुप्रसिद्ध महात्माने शरीर त्यागते हुए अपने सुयोग्य शिष्यसे कह दिया था कि अमुक प्रान्त एवं ग्राममें अमुक व्यक्तिके यहाँ जन्म लूँगा। तुम वहाँ आना, वहीं कुटी बनाकर रहना और जब-तब रामरक्षाका पाठ सुनाया करना। उस शिष्यने वैसा ही किया। संतका जन्म एक पठित वैष्णवकुलमें हुआ था। कुछ सयाने होनेपर उस समयकी प्रथाके अनुसार (मुसलमानी जमानेमें) वे फ़ारसी पढ़नेके लिये 'मकतब' में बैठाये गये। वह शिष्य भी अपनी कुटीपरसे आकर मकतबमें बैठा करता था। बाल संतने थोड़े ही समयमें फ़ारसी भाषामें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। अध्यापक (मौलवी) प्रसन्न होकर उन्हें चावसे पढ़ाते थे। एक दिन पठन-पाठनमें यह पद्य आया—

दर हर दरो-दीवार व दिले हर कसो-नाकस।
खुद जिल्वए दारद व-अदब बायद बूदन॥

अर्थात्—

जग-जग सुजन-अजानमें, बसत बरद श्रुति नीत।
ताते परुष न बोलिए, सबसों रहिय बिनीत॥

प्रत्येक द्वार और दीवारमें एवं प्रत्येक चर और अचरमें वह (ईश्वर) स्वयं विराजमान है; (इसलिये) अदबके साथ रहना चाहिये।

इस पद्यकी व्याख्या उस मौल्वी आलिम फाज़िलने ऐसी की कि उस बालसंतके हृदयमें वे बातें सदाके लिये खचित हो गयीं। उसका जो प्रभाव पड़ा था, उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिये। 'मेरे हृदयमें आतङ्क समा गया। मुझे मालूम होने लगा कि कोई हर घड़ी मेरे पास खड़ा है और मेरी सब करतूत देख रहा है, मेरी बातें सुन रहा है। क्या रात्रिके एकान्तमें और क्या दिनके प्रकाशमें, वह ईश्वर सदाके लिये मेरा साथी बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं कोई खेल भी न खेल सका, न किसीसे मित्रता करके उससे खुलकर बातें कर सका। झूठ बोलना और कुकर्मोंमें प्रवृत्त होना तो मेरे लिये एकदम असम्भव हो गया। सदा शान्त और गम्भीर बना रहना मेरा स्वभाव हो गया।' इस प्रत्यक्ष घटनासे इतना तो स्पष्ट ही है कि ईश्वरको क्यों मानना चाहिये और माननेसे कितना लाभ है। मनुष्यका जीवन सुधर जाता है, सब पाप-तापसे बचाव हो जाता है। और संसारमें रहते हुए भी निर्लिप्त जीवन बना रहता है।

प्रश्न—ईश्वरको न माननेसे क्या हानि है ?

उत्तर—ईश्वरको न माननेवाले दो प्रकारके हैं—(१) कथनीसे और (२) करनीसे। कथनीसे ईश्वरको अस्वीकार करनेवाले मूर्ख नहीं होते, बड़े-बड़े बुद्धिमान् होते हैं। बुद्धिरूपी शरीरमें ज्ञानरूपी भोजनका अच्छी तरह परिपाक न होनेसे अफरा अथवा अजीर्ण दोषके रूपमें अनीश्वरवाद उत्पन्न होता है। अथवा बुद्धि-शरीरके संचालक तर्क, युक्ति और वादके रूपमें कफ-पित्त-वातके एकीकरणसे उत्पन्न सन्निपातका वक-झक ही अनीश्वरवाद है। कथनीसे अनीश्वरवादी यों तो बहुत मिले, परंतु उनमेंसे दो, अर्थात् एक संस्कृतके विद्वान् और दूसरे अंग्रेजीके विद्वान्से तो मुठभेड़ हो गयी थी। गोड़े-शरीफमें संत जगजीवनसाहबकी बेटीकी समाधि-भूमिपर, सागर नामक पोखरेपर, हिंदुस्तानी क़ब्रघरके पास नित्य संध्यासमय सत्सङ्ग हुआ करता था। एक पण्डित उस सत्सङ्गरूपी चन्द्रमाको ग्रसनेके लिये राहुके रूपमें नित्य धावा करने लगे और ईश्वर-खण्डनरूप वाग्वाणसे सब सत्सङ्गियों-को व्यथित करने लगे। बात बढ़ने न पावे और शान्ति भङ्ग न हो, इसलिये मैं उनके किसी तर्कका उत्तर नहीं देता था, चुपचाप सुन लेता था और मुसकरा देता था। मेरा रुख देखकर और सत्सङ्गी भी चुप रहते थे। पाँच-सात दिन लगातार ऐसा होनेपर एक दिन पण्डितने कहा—'कुछ तो उत्तर दीजिये, समाधान कीजिये।' मैंने कहा—'क्या आपकी सब दलीलें खतम हो गयीं ?' उन्होंने कहा—'हाँ, अब उत्तर चाहता हूँ।' मैंने कहा—'अच्छा, आज जाइये, कल रातभरमें और भी नयी-नयी युक्तियाँ निकालिये, कल उन्हें भी सुना दीजिये, तब समाधान करूँगा।' दूसरे दिन जब वे फिर आये तब

चुप-चाप बैठे रहे और लोगोंके चले जानेपर भी बैठे रहे। एकान्त पाकर उन्होंने कहा—'रात जब मैं सोया, तब एक विचित्र स्वप्न देखा। उसे ही कहनेके लिये आया हूँ।' मैंने कहा—'पण्डितजी! आप स्वप्नके पचड़ेमें क्यों पड़े हैं। ईश्वरके खण्डनकी नयी दलील, नयी सूझ सुनाइये। आप-जैसे ज्ञानी पुरुषोंको मिथ्या वस्तुके पीछे नहीं पड़ना चाहिये।'

पण्डितजी—'नहीं, नहीं, ऐसा मत समझिये। जागनेपर भी उसका प्रभाव बना हुआ है। अब भी मेरी छाती धड़क रही है, वह स्वप्न त्रिकालमें मिथ्या नहीं हो सकता।'

मैं—'यह भी आपकी अनोखी सूझ है। सारा संसार स्वप्नको मिथ्या समझता है, परंतु आप कह रहे हैं कि वह स्वप्न त्रिकालमें मिथ्या नहीं हो सकता। इस विरोधाभासको आप ही समझिये। अच्छा कहिये, क्या कहते थे। मैं ध्यान देकर सुनूँगा।'

पण्डितजी—'रात दस बजे जब आँख लगी, तब मैंने एक भयंकर स्वप्न देखा। सुनसान जंगलमें एक कुण्डमें आग धधक रही थी। कापालिक परिक्रमा कर रहा था। मुझे देखते ही उसने अपने शिष्योंको आज्ञा दी—'बलिप्रदान के लिये निर्दोष जीव चाहिये, यह वैसा नहीं है। इसकी जीभ काट लो और छोड़ दो।' फौरन् मेरे हाथ-पैर पुष्ट रस्सीसे बाँध दिये गये और एकने मेरी जीभ पकड़कर उसे काटना आरम्भ किया। मैं बहुत चिल्लाया, रोया; परंतु उन्हें दया नहीं आयी। सारा शरीर रक्त रञ्जित हो गया। मैं मूर्छित हो पड़ गया। उस बेहोशीकी दशामें मैंने देखा कि मैं काशीकी गलियोंमें

विचर रहा हूँ और एक कोठेपर बैठी हुई सुन्दरी मुझे देख-देखकर लुभा रही है। मैं तुरत कोठेपर चढ़ गया। दरवानने मेरा हाथ पकड़ लिया और लगा जूतोंसे पीटने। वह सुखसे बैठी हुई सुन्दरी मेरी दशाको देख-देखकर खूब हँस रही थी। चपरासीने मार-पीटकर मुझे नालीमें गिरा दिया, जिसमें असंख्य कीड़े रेंग रहे थे। मुर्देकी तरह शक्तिहीन मैं वहाँ पड़ा-पड़ा अपनी दुर्दशापर आँसू बहा रहा था। जो कोई उस रास्तेसे जाता, मुझे दो लात और जमा देता था। किसीका हृदय मेरे कारुणिक दशापर द्रवीभूत नहीं होता था। लात खाते-खाते मैं बेहोश हो गया। तब, मैंने देखा कि मैं ससुरालमें हूँ। भोजन करके रातमें अपनी स्त्रीके साथ पलंगपर सोया हुआ हूँ। इतनेमें खिड़कीपर उसका जार आया। संकेत पाकर वह उठकर चली गयी। थोड़ी देर बाद वह खड्गहस्ता होकर और क्रुद्ध होकर मेरे पास आयी और मेरा सिर काटकर चली गयी। फिर कुछ देरमें लौटकर उसने सिर धड़से जोड़ दिया और विलाप करने लगी। सूक्ष्म शरीरसे मैं यह सब देख रहा था। उस कुलटाको समुचित दण्ड देनेके लिये मैंने फिर उस शरीरमें प्रवेश किया या किसीने बलात् मुझे उसमें प्रविष्ट कर दिया—यह मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। उसकी चिल्लाहटसे जब लोग वहाँ एकत्र हुए, तब मैं चारपाई-पर उठ बैठा था। गर्दनमें पट्टी बाँध ली थी। मैंने सब वृत्तान्त लोगोंसे धीरे-धीरे कह दिया। मेरी स्त्री उसी समय भाग गयी और फिर मेरे सामने नहीं आयी। घाव अच्छा होनेपर मैंने संसारको असार समझकर जंगलका रास्ता लिया। सुन्दर वनमें पहुँचा। एक गुफा बनाकर रहने लगा और फल-मूल खाने लगा। रातमें पाँच

बड़े-बड़े सर्प मेरी गुफाके सामने कुछ दूरपर आकर बैठे। मैं भयभीत होकर चुपचाप बैठा रहा। बचावकी सूरत दिखायी नहीं पड़ती थी। इतनेमें एक सिंह आकर सामने ही गुर्राने लगा। मेरे होश उड़ गये। बड़ी बेबसी और करुणाके साथ एकबारगी स्वतः मेरे मुखसे निकल पड़ा 'हे राम! इस घोर विपत्तिसे मुझे उबारो।' बस, तुरत आँखें खुल गयीं और स्वप्नका सब दृश्य बिला गया। देखा, घड़ीमें पाँच बजे हैं। केवल सात घंटेमें ये सब लीलाएँ हुई हैं; परंतु स्वप्न-संसारमें वर्षोंका लेखा हो गया। इस विचित्र घटनापूर्ण स्वप्नका रहस्य मुझे बतलाइये। अब मैं ईश्वरका खण्डन कभी न करूँगा। ईश्वरकी ईश्वरता मुझपर प्रकट हो गयी। रामके नामने मेरी रक्षा की। मेरी सम्मतिमें ईश्वरकी सबसे अच्छी परिभाषा यही हो सकती है कि दीन-दुखियोंकी सुनता है, उनकी रक्षा करता है! ऐसे कठिन समयमें सुध लेता है, ऐसी विकट परिस्थितिमें काम आता है जब किसी प्रकार भी उनकी रक्षा होना सम्भव नहीं। ऐसे दया-निधान ईश्वरके खण्डन करनेवालेकी जबान अवश्य काटी जाती है।"

पण्डितजीकी वार्ता हो चुकी। अब अंगरेजीके एक विद्वान्की वार्ता भी सुन लीजिये—

प्रयागजी, युनिवर्सिटी कालिजमें पढ़नेवाले छात्रोंमें एक सज्जन फिलासफीमें एम० ए० की परीक्षाकी तैयारी करते थे। दुर्भाग्यसे यहाँके विश्वविद्यालयमें अनीश्वरवादी दर्शन ही कोर्समें हैं। अंगरेजी भाषामें आध्यात्मिक दर्शन भी है, परंतु अधिकारी लोग किसी कारणविशेषसे उन्हें यहाँके छात्रोंको पढ़ाना नहीं चाहते। उक्त सज्जन

पढ़ते तो म्योर कालिजमें, परंतु रहते थे 'ऑक्सफोर्ड ऐण्ड केम्ब्रिज होस्टल' में जो ईसाइयोंकी संस्था है । वहाँके सुपरिंटेंडेंट मिस्टर होलैंडसे उनकी खूब छनती थी । ईश्वर और ईश्वरके एकलौते पुत्र ईसामसीहपर तरह-तरहके आक्षेप करना हो वहाँ उनका उद्देश्य रहता था । इसी तरह मौलवी और पण्डितसे भी वह भिड़ जाते थे । सब लोग उनसे तंग आ गये थे । यहाँतक कि लोगोंने उनके कुतर्कोंका उत्तर देना भी बंद कर दिया । उन दिनों राधास्वामी-सम्प्रदायके आचार्य स्वर्गीय पं० ब्रह्मशंकर मिश्रजी, महाराज साहब वहीं रहते थे और नित्य अतुरसुहिया मुहालमें उनके निवासस्थानपर सत्सङ्ग हुआ करता था । कभी-कभी उक्त सज्जन वहाँ भी पहुँच जाते थे और आक्षेपोंकी झड़ी लगा देते थे । महाराज साहब उनकी सुन लेते थे और यह कहकर टाल देते थे कि हमलोग बहस नहीं करते ।

छुट्टियोंमें हम आलफ्रेड पार्कमें बैठे हुए कुछ राम-चर्चा किया करते थे । धीरे-धीरे हमारे सत्सङ्गमें भी बहुत लोग आने लगे । उक्त अनीश्वरीवादी और विवादप्रिय सज्जनको पता लग गया और वह भी आने लगे । पहले तो दो-चार दिनोंतक चुपचाप बैठे हुए सत्सङ्ग-वार्ता सुना करते थे । एक दिन विसर्जनके समय उन्होंने मुझसे कहा कि 'आपसे मैं ईश्वर-सम्बन्धी जिज्ञासा करना चाहता हूँ, समय मिलना चाहिये ।' मैंने कहा—'हम-आप तो छात्र ही हैं, एक ही कालिजमें पढ़ते हैं, अबोध हैं, अभी सीख रहे हैं; किसी लब्धप्रतिष्ठ महान् पुरुषसे जिज्ञासा कीजिये ।' परंतु उन्होंने बड़ा हठ किया और अन्तमें महाशिवरात्रिकी छुट्टीमें तेरह जनवरीको वार्ता होना

निश्चित हुआ। उस दिन दो बजेसे ही आल्फ्रेड पार्कमें सब लोग एकत्र हुए। मानसजीका पाठ हुआ और उसके अनन्तर उनको समय दिया गया। पहले तो उन्होंने ईश्वरपरक अपने संदेहोंको स्पष्टरूपसे प्रकट किया, फिर हिंदू-धर्मपर जितने आक्षेप वे कर सकते थे, कर गये। संयोगसे 'हिंदी-प्रदीप' के सम्पादक भट्टजी किसी कार्यवश वहाँ आ गये थे। और लोग तो चुप रहे, परंतु उनके आक्षेपोंको सुनकर भट्टजीसे नहीं रहा गया। उन्होंने उक्त सज्जनको खूब फटकारा और उनके प्रश्नोंका समुचित उत्तर भी दिया; परंतु उनको संतोष नहीं हुआ। उन्होंने भट्टजीसे कहा—'आप बड़े हैं, इसलिये आपकी बात दबी जबानसे मान लेता हूँ, परंतु मेरा दिल आपकी बात माननेको तैयार नहीं है।' इसपर भट्टजी उठकर चले गये। अब मेरी बारी आयी। मैंने कहा कि 'हिंदूधर्मपर जो आपने अनर्गल आक्षेप किये हैं, उन्हें तो वापस लीजिये और ईश्वरपरक जो आपका सन्देह है, उसका समाधान सुनिये।' इसपर वह राजी हो गये। मैंने कहा, 'क्या आप कोई वैज्ञानिक कारण बता सकते हैं कि चमगादुरको दिनमें क्यों नहीं सूझता?'

उन्होंने कहा—'मैंने इसपर कभी विचार नहीं किया।'

मैं—'अच्छा, यह तो बताइये कि सूर्यके उदय होते ही कमल क्यों खिल जाता है और सूर्यास्तपर क्यों सम्पुटित हो जाता है? आकाशचारी सूर्य एवं जलविहारी कमलमें घनिष्ठता क्यों है?'

अनीश्वरवादी—'मैंने तो कह दिया कि मैंने इन बातोंपर कभी विचार ही नहीं किया है।'

मैं—'जब आप प्राकृतिक नियमोंको समझनेमें असमर्थ

हैं, तब मन-बुद्धि-वाणी——इन सबसे परे ईश्वरसम्बन्धी सूक्ष्म बातें कैसे समझ सकेंगे ? सुनिये, ईश्वरको समझनेके लिये ईश्वरीय बुद्धि चाहिये—'तुलसी रघुपतिसे नयन रघुपति देखनहारि ।' यदि आप सच्चे दिलसे ईश्वरको जानना चाहते हैं तो ईश्वरीय बुद्धि प्राप्त कीजिये ।'

अनीश्वरवादी——'हाँ, मैं सच्चे दिलसे चाहता हूँ । आप ईश्वरीय बुद्धि प्राप्त करनेका उपाय बताइये ।'

मैं——'अच्छा, तो आप एक घंटेतक प्रतिदिन एकटक दृष्टिसे ध्रुवताराको देखें और अगले रविवारको फिर यहीं मुझसे मिलें । हाँ, जब आप यह साधन करें, तब आपके साथ और कोई न हो ।' वह मान गये, सभा भङ्ग हुई, सब अपने-अपने स्थानको चले गये ।

दूसरे रविवारको जब वह महाशय सत्सङ्गमें उपस्थित हुए, तब उन्होंने मुझे एक पत्र दिया; जो उन्हींका लिखा हुआ था । पत्र अंग्रेजी भाषामें था । उसके हाशियेपर लिखा हुआ था 'प्राइवेट ऐण्ड कौन्फिडेंशियल(Private and Confidential) ।' इसलिये उस पत्रको पढ़कर सबको सुनाना मैंने उचित नहीं समझा । उसमें लिखा हुआ था——महाशय ! आपके निर्देशानुसार मैं लगातार चार दिनोंतक, प्रतिनिशि, एक घंटेतक ध्रुवको टकटकी लगाकर देखता रहा । पहले दिन तो कुछ मालूम नहीं हुआ । दृष्टि जमानेमें ही सारा समय निकल गया । दूसरे दिन ध्यान स्थिर हो गया और अनेक रंगोंके अनेक दृश्य दिखायी पड़े, जिनका रहस्य कुछ समझमें नहीं आया; परंतु जब मैं अपने रूम (घर) में चारपाईपर उत्तान लेट गया और देखे हुए दृश्यपर विचार करने लगा, तब एकाएक मेरा प्यारा कुत्ता

आकर मेरी छातीपर खड़ा हो गया और कानसे झुककर मनुष्यकी भाषामें बोला—'क्या ईश्वरमें अब भी अविश्वास करोगे ?' यह कहकर गरजकर और तड़पकर वह कूद गया। दूर जाकर बैठा और आँखोंसे आँसू बहाता हुआ तुरंत शरीर त्यागकर परलोकको सिधारा। इस अलौकिक घटनाका गहरा प्रभाव मेरे दिलपर पड़ा। मेरा सब सन्देह काफ़ूर हो गया। मुझे निश्चय हो गया कि कुत्तेके मुखसे निकली हुई नर-वाणी ईश्वरकी ही थी। तीसरे दिन जब मैं फिर ध्रुवको देखने बैठा, तब न जाने किसने मेरी जबान ऐंठ दी और तबसे मैं मूक हो गया हूँ। मैं कुछ नहीं बोल सकता। यही कारण है कि आज सब वृत्तान्त लिखकर लाया हूँ। अब मैं आपको शतशः धन्यवाद देता हुआ यही प्रार्थना करता हूँ कि अब कोई ऐसी तदबीर बताइये जिससे मेरा मूकपन दूर हो। मैं आपका आजन्म आभारी रहूँगा।

आपका स्नेहभाजन—

सैमुअल सैक्सन

इस पत्रको बाँचकर मैं सन्न रह गया। मेरे नेत्रोंसे आँसू निकल पड़े। मैं भी कुछ देरतक मूक हो गया। सब साथी चकित हो गये। मेरे अनन्य मित्र मिस्टर त्रिपाठीने मेरे हाथसे पत्र ले लिया और पढ़ने लगे। पत्र-लेखक महाशयने उनके हाथसे पत्र छीन लिया और तुरंत उसे फाड़कर फेंक दिया। मिस्टर मजीदने सब टुकड़े चुनकर अपने जेबमें रख लिये और यह कहते हुए वे चले गये कि इन टुकड़ोंको जोड़कर मैं पढ़ूँगा।

कुछ देरमें जब मेरा चित्त सावधान हुआ, तब मैंने सैमुअल महाशयसे कहा कि 'यदि आप प्रतिज्ञा करें कि अबसे ईश्वरका खण्डन व्याजसे भी नहीं करूँगा और प्रतिज्ञाका साक्षी ध्रुवको बनावें तो बहुत सम्भव है कि आपकी जबान खुल जाय।' उन्होंने ऐसा ही किया। दूसरे दिन उनकी जबान खुल गयी और वह फिर एक बार मुझसे मिले। तबसे पता नहीं चला कि कहाँ गये। यहाँ एक बात और बता देना आवश्यक है कि उनका असली नाम 'श्यामलाल सक्सेना' था; परंतु ईसाइयोंके सङ्गमें रहनेके कारण और अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा पानेके कारण उन्होंने अपना नाम 'सैमुअल सैक्सन' रख लिया था, जिस तरह आक्सफोर्ड प्रोफेसर मैकडोनेलने संस्कृत पढ़नेके प्रभावसे अपना नाम 'श्रीमुग्धानलाचार्य' और स्वर्गीया डाक्टर ऐनी बेसेंटने हिंदूधर्मसे प्रेम होनेके कारण अपना नाम 'वासन्ती देवी' रख लिया था।

करनीसे अनीश्वरवादी

मनुष्यका स्वभाव है कि वह पापकर्म छिप-छिपाकर करता है। आँख पसारकर देख लेता है कि मुझे ऐसा करते हुए कोई देखता तो नहीं, परंतु उस समय उसे यह मोटी बात याद नहीं रहती कि सर्वत्र व्यापी ईश्वर तो देखता है और एक-न-एक दिन वह मेरे पापोंका भण्डाफोड़ अवश्य करेगा। यह बात भी सच है कि आजतक जितने पाप हुए हैं, चाहे कितना भी छिपाकर किये गये हैं, सब-के-सब प्रकाशमें आये हैं। कातिलने स्वयं वर्राहटमें कत्लके मामलेको प्रकट कर दिया है और वह पकड़ लिया गया है। कर्मानुसार जिस समय हम पाप करते हैं, उस समय जरूर ईश्वरको

भूल जाते हैं और 'करनीसे' निरीश्वरवादी वन जाते हैं। आठों पहर आस्तिक वने रहना केवल संतके लिये ही सुलभ है।

प्रश्न—ईश्वरके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—ईश्वरके अस्तित्वके पक्के प्रमाण—

(१) अवतार-पुरुषके रूपमें अथवा संत, आचार्य, पीर-पैगम्वर, औलियाके रूपमें ईश्वरका इस पृथ्वीपर प्रादुर्भूत होकर धर्मकी संस्थापना करना, सभी मानवीय भावोंको विकसित करके सवकी मर्यादा वाँधना और अपने अलौकिक चरित्रसे इतिहासकी महत्ता वढ़ाना—यह ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण है जिसको नास्तिक लोग भी मानते हैं। एक सज्जनने क्या ही अच्छा कहा है—

वजूद भगवतकी है निशानी, सनेह आचार्यकी कहानी।
यही तो है शक्ले आसमानी, सिवाय इसके पता नहीं है॥

(२) जो वात हम चाहते हैं, वह नहीं होती और जिसकी हमने कभी कल्पना भी नहीं की थी, वही घटना घटित होती है। कोई भी मनुष्य दुःख नहीं चाहता, परंतु तरह-तरहके दुःख मनुष्यको घेरे रहते हैं। 'अन इच्छित आवहिं वरिआईं।' यह कार्य जड प्रकृतिका नहीं है, किसी चेतन सत्ताधारीका है, जो न्यायपूर्वक निरपेक्षता, किंतु सावधानतापूर्वक इस विश्वका शासन कर रहा है। प्रत्येक शासितको अर्थात् दुःखग्रस्त प्राणीको अपने शासककी अनुभूति हुए विना नहीं रह सकती। दुखी जीव नास्तिक और निरीश्वरवादी नहीं हो सकता। यह ध्रुव सिद्धान्त है। वड़े-वड़े तार्किक, नास्तिक और अनीश्वरवादी भी विपन्नावस्थामें प्राप्त होते ही सव तर्कवाद भूल गये हैं और उन्होंने उस चेतन सत्ताधारीका

प्रत्यक्ष अनुभव किया है । संसारमें दुःखकी मात्रा विशेष होनेसे ही यह आशा की जा सकती है कि ऐसा समय कभी नहीं आवेगा, जब संसारमें ईश्वरके माननेवालोंका अभाव हो जाय ।

(३) संसारकी अद्भुत घटनाएँ भी किसी अद्भुत चेतन सत्ताधारीका पूरा पता देती हैं । संसारका इतिहास ही इसका पुष्ट प्रमाण है ।

(४) प्रसिद्ध मेधावी पुरुषोंने भी मुक्त कण्ठसे स्वीकार किया है कि अप्रतिहत इच्छा एवं शक्तिका चैतन्य आधार ही ईश्वर है ।

(५) समुद्रमें वायुके झोंकेसे तरङ्गें उठती ही रहती हैं, उसी तरह स्वभावकी प्रेरणासे जिस चेतन सत्तासे इच्छामयी शक्तिकी प्रादुर्भावना होती है और उस इच्छाके द्वारा कार्यका विकास होता है उसी चेतन सत्ताको ईश्वर कहते हैं ।

(६) सृष्टि-विकास तथा क्रमबद्ध संचालनके अटल एवं अखण्ड नियम, जिस अखण्ड एकरस-विहारी चेतन सत्ताधारीके भ्रूविक्षेपपर निर्भर हैं, वही ईश्वर है ।

(७) वेद-शास्त्रोंमें शुद्ध आधारमें प्रतिष्ठित ज्ञान-क्रिया-सम्पन्न चैतन्यको ही ईश्वर कहा है ।

(८) स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—इन तीनों लोकोंमें एकरस विहार करनेवाला यह जीवात्मा ही सर्वशक्तिमान् ईश्वरके अस्तित्वका सिद्ध प्रमाण है; क्योंकि यह जीवात्मा ईश्वरका ही अंश है । जीव अल्पशक्तिसम्पन्न है और ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, एक अणु (जुज़) है, दूसरा विभु (कुल) है । भेद इतना ही है । यह

अल्पशक्ति-भाजन जीव सदा पूर्णत्वको प्राप्त होनेके लिये चेष्टा किया करता है। कारण, लोकमें जहाँ भूत, भविष्य, वर्तमानके रूपमें कालका विभाग नहीं है अर्थात् सदा वर्तमान-ही-वर्तमान है, जहाँ भाव और क्रिया पृथक्-पृथक् नहीं है, यह जीव जब अज्ञानका परिधान फेंककर अपने स्वरूपका अनुभव करता है, तब जिस ज्योतिमें वह तन्मयताको प्राप्त होता है, वही ज्योति ईश्वर है।

(९) संसारमें विश्वास और प्रेम ईश्वरके ही प्रतीक हैं। हर एक मनुष्यको इसका बोध है। विश्वासरूप हर और प्रेमरूप हरि हैं—इस बातको अनुभवी संत कहते हैं। विश्वासमूलक ही सब धर्म-सम्प्रदाय हैं। इनका दार्शनिक आधार काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं। प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है, कहते हुए लोग अघाते नहीं। बिना विश्वास और प्रेमके सांसारिक व्यवहारका संचालन भी असम्भव ही है। इसीलिये यदि स्त्रीका निष्कपट प्रेम उसके पतिमें है तो उसके लिये उसका पति ही ईश्वर है। पुत्रका सच्चा प्रेम यदि पितामें है तो उसका पिता ही उसका ईश्वर है।

प्रश्न—आप अपना कोई निजी अनुभव बतला सकते हैं?

उत्तर—निजी अनुभवकी बातें अत्यन्त गोपनीय हैं, वे लिपिबद्ध नहीं की जा सकतीं। उनका प्रकाशन तो बहुत दूरकी बात है। हाँ, ऐसी घटनाएँ जो अबोधावस्थामें किसी-किसीसे कह दी गयी हैं, कुछ लोगोंको विदित हैं, उन्हें प्रकाशित कर देनेसे, यदि पाठकोंके हृदयपर कुछ प्रभाव पड़े तो उन्हें प्रकट कर देनेमें कोई हानि नहीं है। उनमेंसे एक विशिष्ट घटना यहाँ दी जाती है—

जन्मभूमि खेड़ाय ग्राममें एक ठाकुरद्वारा है। वहाँ उस समय एक पण्डितजी वाल्मीकीय रामायणकी कथा कहते थे। ठाकुरजीके दर्शन और कथाश्रवणके लिये मैं नित्य जाने लगा। जिस दिन कथाकी समाप्ति हुई, मैं यह सोचकर रोने लगा कि अब कलसे यह कथा सुननेको नहीं मिलेगी। लोगोंने बहुत समझाया-बुझाया, पण्डितजी-ने अच्छे-अच्छे श्लोक और 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन'वाली स्तुति लिखकर दी; किसीने फल, किसीने मिठाई देकर फुसलाया, बड़ोंने डाँटा-फटकारा भी; परंतु रोना बंद नहीं हुआ। लोग पकड़कर घर लाये। माताजीने गोदमें लेकर बहुत प्यार किया; परंतु सब व्यर्थ। रुलाई बंद नहीं हुई। रात बीत गयी। इस प्रकार तीन दिनोंतक एक-सी दशा बनी रही। कोठेपर अकेला पड़ा रहता और कथाकी बातें याद करके बिलख-बिलख रोया करता। पिछली रातमें अँधेरा कमरा एकबारगी प्रकाशित हो गया और एक मुकुटधारी महापुरुषने प्रकट होकर, कभी छुक-छिपकर, जीवन-यात्रा-निर्वाहके लिये, छन्दो-बद्ध भाषामें ऐसे उपदेश दिये कि वे ज्यों-के-त्यों हृत्पटलपर खचित हो गये।

सवेरे उन्हें लिपिबद्ध कर लिया और नित्य पाठ करने लगा। वह कविता 'पयामे यार' के नामसे सं० १९६५ में एक पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित भी हो चुकी है। इस आध्यात्मिक जीवनका आधार वही कविता है। इस अधम जीवपर जैसी कृपा भगवान्‌ने उस समय की थी, वैसी ही कृपा श्रीहरि सबपर करें।

महामहोपाध्याय पण्डित श्रीहाथीभाई शास्त्री

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

इस प्रश्नका उत्तर पूज्यपाद भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने शारीरक मीमांसा प्रथम अध्यायके प्रथम पाद 'जन्माद्यस्य यतः' नामक द्वितीयाधिकरण भाष्यमें बड़ी युक्तिके साथ दिया है। वे लिखते हैं—

'प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे निश्चित होनेवाला यह जगत् नाम और रूपसे व्याकृत अर्थात् प्रकट भावापन्न, अनेक तरहके कर्ता-भोक्ता आदिसे युक्त और प्रतिनियत देश, काल, निमित्त, क्रिया तथा फलका आश्रय है।'

इस कथनका तात्पर्य यह है कि इस जगत्में कितने ऐसे हैं जो कर्ता हैं, पर भोक्ता नहीं; और कोई भोक्ता हैं पर कर्ता नहीं। जैसे रसोइया और ऋत्विक् आदि केवल कर्ता हैं तथा श्राद्धीय ब्राह्मण आदि केवल भोक्ता हैं। इसके अतिरिक्त इस जगत्के सभी पदार्थ ऐसे हैं जो किसी नियत देश, काल, निमित्त और क्रियादिके अधीन हैं, जैसे स्वर्गरूप क्रियाफलका मेरुपृष्ठ 'देश' है, देहपातानन्तर काल है। और उत्तरायण-मरणरूपी निमित्त है। कोई पदार्थ किसी देशविशेषमें ही मिलते हैं; जैसे—कस्तूरीमृग केवल हिमालयमें ही होता है। कई एक ऐसे हैं जो नियत कालमें ही होते हैं, जैसे कोकिलाका शब्द केवल वसन्त-ऋतुमें ही सुनायी पड़ता है और कितने ऐसे हैं जो किसी नियत निमित्तसे ही होते हैं, जैसे नवीन मेघकी ही गर्जना बलाकाके गर्भधारणका कारण

बनती है। इसी तरह इस संसारकी कितनी ही क्रियाएँ भी नियत हैं; जैसे याजन तथा अध्यापनकी क्रियाएँ केवल ब्राह्मणोंके लिये ही हैं और कितने ही फल भी नियत हैं; जैसे कोई दुखी है तो कोई सुखी है अथवा जो सुखी हैं, वे ही फिर दुखी हो जाते हैं। अस्तु।

ऐसी परिस्थितिमें यह निश्चय होता है कि इस प्रकारका यह जगत् यादृच्छिक, आकस्मिक या स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्‌द्वारा प्रणीत है; क्योंकि ऐसी निर्माणशक्ति किसी परिमित ज्ञान या शक्तिधारीमें नहीं हो सकती। इसी बातको श्रीशङ्कराचार्य भगवान्‌ने भी कहा है कि 'यह जगत् ऐसा है कि मनुष्यके मनमें इसकी रचनाकी कल्पना भी नहीं हो सकती।' वास्तवमें यदि हम अपने शरीरकी रचनापर ही विचार करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। लौकिक दर्जी यदि एक बिना बंदका भी कुरता बनाता है तो उसको सीनेमें सैकड़ों धागे लगाता है; परंतु हमारे शरीरकी रचना जिसमें अनेकों अवयव हैं, ऐसी कुशलतासे हुई है कि अंगुल्यादि किसी भी स्थानपर एक भी संधान दृष्टिगोचर नहीं होता। और तो जाने दीजिये, अपनी टाँगकी ही ओर निगाह दौड़ाइये तो मालूम होता है कि डेढ़ फुटकी हड्डीका एक नल न जाने किस मार्गसे अंदर ले जाकर कितनी खूबीके साथ घुटनेमें जोड़ा गया है। क्या इसमें किसी महाकारीगरकी भी दाल गल सकती है? यदि नहीं, तो ऐसी अनर्घ्य रचनाओंसे भरा हुआ यह सारा जगत् अवश्य किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् कर्ताके बिना नहीं बन सकता। यही कारण है कि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरको इस जगत्‌का कारण मानना पड़ता है। जिस प्रकार कुम्भकार पहले कुम्भका नाम और रूप (जैसे शङ्खके समान कण्ठ और विशाल उदर आदि)

अपने हृदयमें लिख लेता है। तदनन्तर दण्ड-चक्रादि साधनोंद्वारा वैसा ही घड़ा बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर सर्वत्र होनेके कारण सब कुछ जानता है तथा सर्वशक्तिमान् होनेके कारण सर्वनामरूपसम्पन्न पदार्थों और प्राणियोंका सृजन करता है। अतएव 'जगत्कारणत्वेन', ईश्वरको मानना अत्यावश्यक है; क्योंकि परमाणु, प्रधान अथवा अन्य कोई भी इस जगत्का कारण नहीं बन सकता।

यदि स्वभावको जगत्का कारण माना जाय तो इसका यह अर्थ होता है कि 'स्वभावसे जगत्की उत्पत्ति होती है।' इसमें दो विकल्प हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि जगत् अपना निमित्त स्वयं बनता है, दूसरे यह कि यह जगत् किसी निमित्तकी अपेक्षा नहीं रखता; परंतु ऐसा माननेसे पहले विकल्पमें तो आत्माश्रय दोष आता है, दूसरे पक्षका विचार करते हैं तो वह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि लोकमें कार्यार्थी पुरुषोंद्वारा विशिष्ट (असाधारण) देश-काल-निमित्तादिका ग्रहण किया जाता है। ऐसी अवस्थामें उनका कोई निमित्त न मानना सर्वथा अयोग्य ही है। अस्तु, यह जगत् अपने कारणरूप ईश्वरका उसी तरह ज्ञापन करता है, जिस तरह सूर्यकी देशान्तर-प्राप्ति उसकी गतिको ज्ञापित करती है। इस कार्यलिङ्गक अनुमानसे ईश्वर अवश्य मान्य हो जाता है।

'ईश्वरको माननेमें कौन-कौनसे प्रबल प्रमाण हैं' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर भी यहीं मिल जाता है; क्योंकि जब 'जगत्कर्तृत्वेन' ईश्वरकी सिद्धि हो गयी, तब यही ईश्वरके अस्तित्वमें भी प्रमाण बन जाता है।

कुसुमाञ्जलिकार महात्मा उदयनाचार्यने पञ्चम स्तबककी—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

—इस कारिकामें नौ अनुमानोंसे ईश्वरकी सिद्धि की है; परंतु इसका पूर्ण विवेचन करनेसे लेखके लम्बा हो जानेका भय है, अतः संक्षेपतः तात्पर्य बतलाया जाता है। पहला कार्यानुमान है–जैसे, यह पृथ्वी और अङ्कुरादि सभी कर्तृजन्य हैं, अतएव 'कार्य' होनेके कारण 'घटवत्' हुए और इससे कर्ताकी सिद्धि हुई। इस अनुमानमें प्रतिपक्षी (नास्तिक) इनको शरीराजन्यत्व प्रतिपादन करते हुए आपत्ति कर सकते हैं, परंतु उनको यह याद रखना चाहिये कि जिस तरह कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दन्त, ओष्ठ आदि अवयवोंके बिना क, च, ट, प आदि वर्णोंका उच्चारण नहीं हो सकता—इस असम्भवको भी डाक्टर एडीसन-जैसे साधारण मनुष्यने फोनोग्राफका आविष्कारकर सम्भव कर दिया तो सर्वशक्तिमान् ईश्वरने विना शरीरके सृष्टि-रचना कर दी, इस बातको माननेमें सन्देह ही क्या है ? किंतु श्रुतिने तो 'स वै शरीरी प्रथमः, स वै पुरुष उच्यते' आदि संदर्भों-द्वारा ईश्वरके अलौकिक शरीरका भी बोध कराया है।

उदाहरणमें एक किंवदन्ती है कि महात्मा उदयनाचार्य एक बार भगवान् जगदीशके दर्शनार्थ पुरीधाममें गये और मूर्तिके सामने खड़े होकर स्तुति करने लगे। स्तुति करते-करते घंटों बीत गये फिर भी भगवान्के दर्शन न हुए तो उन्होंने भक्तिके उद्रेकसे चिल्लाकर कहा—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय तिष्ठसि।
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

'हे जगदीश ! ईश्वरत्वके ऐश्वर्यसे मद-मत्त होकर मेरी अवज्ञा कर रहे हो; परंतु तुमको उन दिनोंकी याद नहीं आती, जब बौद्धोंने

तुम्हें समूचा उड़ा देनेका होहल्ला मचाया था ? उस समय तुम्हारी स्थिति मेरे ही अधीन थी। यदि मैं कुसुमाञ्जलि आदि ग्रन्थोंका निर्माण करके तुम्हारी स्थिति दृढ़ नहीं करता तो बौद्धोंके 'निरीश्वर-वाद'का भयंकर झंझावात तुम्हारे नाम-स्मरणको भी उड़ा ले जाता।' यह कहते-कहते उदयनाचार्यजीकी आँखोंमें आँसू आ गये और भगवान्‌ने तत्काल ही दर्शन देकर उनको कृतार्थ किया।

दूसरा धृतिहेतुक अनुमान है। यह भी बड़ा विचित्र है। जब पाषाण-खण्ड-जैसे साधारण पदार्थकी धृति (धारणा) के लिये भी हस्तादि धारककी अपेक्षा होती है, तब इस भूगोलका भी—जिसका मान पंद्रह सौ परार्द्ध टन बतलाया जाता है, कोई-न-कोई धारयिता (धारण करनेवाला) अवश्य है। केवल पृथ्वी ही क्यों, इसका व्यास तो सिर्फ एक हजार योजनका है; सूर्य जो पृथ्वीसे एक करोड़ चौबीस लाख योजनकी दूरीपर और पृथ्वीकी अपेक्षा १३४१ गुना बड़ा है, एवं जिसका वजन यदि दोके बाद सत्ताईस शून्य रक्खे जायँ तो उतने टन माना जाता है, उसको और उससे भी दूर शनिश्चर तथा उसके बीचके मंगल, बुध, शुक्र आदि समस्त ग्रहोंका धारणकर्ता कोई है ही। इतना ही क्यों, अभी हालहीमें एक शोधकने सूर्यसे भी बड़े ग्रहका पता लगाया है—ज़िसका प्रकाश पृथ्वीपर चार वर्षोंमें पहुँचता है। विचार करनेकी बात है कि प्रकाशकी गति एक सेकेंडमें १५७०० मीलकी मानी गयी है और इस हिसाबसे सूर्यके प्रकाशको पृथ्वीतक पहुँचनेमें आठ मिनट लगते हैं, परंतु जिस ग्रहका प्रकाश पृथ्वीतक चार वर्षोंमें पहुँचता है, उस ग्रहकी दूरी

और उसके पिण्डग्रहका माप तो सर्वथा कल्पनातीत ही है। अतः इस तरहके अनन्त ग्रह-नक्षत्र-तारकादिको जो धारण करनेवाला है, वही ईश्वर है; क्योंकि यह महान् कार्य किसी अन्य प्रयत्नवान्से साध्य नहीं हो सकता। धृति होनेसे आकाशस्थित पक्षिकर्तृक फल धृतिवत् अनुमानसे सारे ब्रह्माण्डका धारक ईश्वर ही है, यही सिद्ध होता है।

भूत अर्थात् प्राणी आदि पदार्थोंका जो अपनी-अपनी मर्यादाका अनुल्लङ्घन दिखायी देता है, वह किसी नियामकके अधीन है। अतएव नियतिबद्ध होने अर्थात् जिस प्रकार सैनिक अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार कभी नियमका अतिक्रमण न करनारूप अनुमानसे और 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' अर्थात् उसके भयसे वायु सर्वदा अपने नियमित गतिसे चलता है, आदि श्रुति-वचनोंसे इस जगत्का नियन्ता ईश्वर ही सिद्ध होता है।

संसारमें रेखादि चिह्नोंसे अक्षरोंका बोध होना, नदीमें प्रवाह-वृद्धिको देखकर ऊपर वृष्टि हुई है ऐसा ज्ञान होना एवं किसी दूर देशस्थ बान्धवके दुःखपूर्ण समाचारसे दुःख और सुखपूर्ण समाचारसे सुख होना— ये सब अनुमान प्रमाणके-प्रामाण्यको अनुपेक्षणीय सिद्ध करते हैं। अतएव अनुमानसिद्ध विषयको अवश्य अङ्गीकार करना और मानना पड़ता है।

जीवोंको जो दुःखादिका तारतम्य अथवा न्यूनाधिकभाव जान पड़ता है, वह तरतम-भावापन्न अर्थात् उनके कर्मोंके परिणामभूत हैं, जिस तरह लोकमें मनुष्योंकी विद्या, शौर्य, बल आदिके तारतम्यके अनुसार उनके पारितोषिकमें तारतम्य होता है, उसी तरह सुख-

दुःखादिका तारतम्य मनुष्योंके प्राक्तन कर्मोंकी सिद्धि करता है और इतना मान लेनेपर कर्मोंके फलोंका तारतम्य किसी विचारक या दाताके अभावमें घटित नहीं हो सकता । अतः कर्म-फलनियामकके रूपमें ईश्वरकी सिद्धि बहुत सरलतासे हो जाती है ।

पाठशालाका कोई विद्यार्थी यदि अपने पाठ्यग्रन्थका पहलेसे अभ्यास किया रहता है तो उसको दूसरी बारके अध्ययनमें पहलेकी अपेक्षा शीघ्र अर्थबोध हो जाता है—जो उसके पूर्वाभ्यासका संस्कार होता है । इसी तरह जिस विद्यार्थीमें पहले-पहले अध्ययन करनेके समय ही ग्रहण और धारणकी विलक्षण सामर्थ्य है, उसे उसके पूर्वसंस्कारकी अपेक्षासे ही मानना पड़ेगा और इतना मान लेनेपर पूर्वजन्मकी सिद्धि अपने-आप हो जायगी ।

बछड़ेको जो जन्म लेते ही बिना किसीकी प्रेरणाके स्तनपानमें प्रवृत्तिरूप इष्ट भान होता है, वह भी इस विषयमें गमक या साधक बनता है । उसमें इस प्रकारके संस्कारका उद्बोधन करानेवाली क्षुधा होती है । किसी अन्य उद्बोधकके बिना पूर्वजन्मानुभूत संस्कारका उद्बोधन नहीं होता ।

पाकादि कर्मोंका नियतरूपसे सफलत्व देखनेसे यह विदित होता है कि इस जन्ममें किये गये उन कर्मोंका अवश्यम्भावी फल, जो कि इस जन्ममें नहीं भोगा गया, भोगनेके लिये भावी जन्म निश्चित है । इसलिये जीव भी इस शरीरके अतिरिक्त जन्मान्तरमें जाने-वाला सिद्ध होता है ।

प्राण आदिसे युक्त होनेके कारण यह शरीर सात्मक कहा जाता है और जो प्राणादिसे युक्त नहीं हैं, वे पाषाणादि सात्मक

नहीं हैं । यहाँ यह शङ्का होती है कि जब प्राणादिकी स्थितिमें ही सात्मकत्व और निर्गतिमें निरात्मकत्व दीखता है, तब प्राणादिको ही आत्मा क्यों न कहा जाय ? इसका समाधान यह है कि प्राण तो प्रतिक्षण शरीरसे निकलते रहते हैं, किंतु फिर भी शरीर निर्जीव नहीं देखा जाता; अतः प्राण कदापि आत्मा नहीं हो सकता । दूसरी शङ्का यह होती है कि जिस तरह घड़ीमें उसके अवयवोंकी रचना और योजनाविशेषसे उसकी गतिक्रिया प्रतीत होती है, उसी तरह शरीरमें भी अवयवोंके सन्निवेशसे सात्मकता क्यों न मानी जाय ? इसका भी यही समाधान है कि पार्थिव और अचेतन पदार्थोंका व्यापार अर्थात् उनकी नियमित गत्यादि चेष्टाएँ किसी चेतन प्रेरकके ही अधीन होती हैं, जैसे पंखेका पवन । यदि इसी शङ्काको यों कहा जाय कि जिस प्रकार द्राक्षादिका किसी विधिविशेषसे संयोग होनेपर मद-शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भूतोंका विशिष्ट रीतिसे संयोग होनेपर चैतन्यकी सृष्टि होती है—तो यह कथन भी समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि इससे मृत-शरीरोंमें भी चैतन्य होनेकी आपत्ति खड़ी हो जायगी । कदाचित् यह कहा जाय कि प्राण-सहकारी कारणोंके अभावसे मृत-शरीरमें चैतन्य होनेकी आपत्ति न होगी, तो इस अवस्थामें भी सुषुप्तिमें विज्ञानधाराके अनुच्छेदका प्रसंग आ जायगा । अतएव यह सिद्ध होता है कि इस देहके अतिरिक्त देहाधिष्ठाता कोई चेतन आत्मा अवश्य है ।

अध्ययनकालमें आद्य अध्ययन उपदेशमूलक ही होना चाहिये । आधुनिक युगमें जैसा अध्ययन होता है, उससे आदिविद्वान् सर्वथा

ईश्वर ही सिद्ध होता है। यहाँ यदि कोई कहे कि 'इस सारे जगत्का कारण स्वभाव मान लिया जाय तो बीचमें ईश्वरकी कोई जरूरत नहीं पड़ेगी' तो इसके उत्तरमें यह पूछना है कि यदि जगत्का कारण स्वभाव है तो वह स्वभाव एक है या अनेक ? यदि एक है तो आम्रफलमें निम्बफलकी उत्पत्ति होनी चाहिये ! इसके अतिरिक्त यदि स्वभावको अनेक माना जाय तो वे नित्य हैं या अनित्य ? नित्य हैं तो सहकारिकारण सापेक्ष हैं या निरपेक्ष ? यदि वे स्वभाव अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षावाले और कार्यारम्भक हैं तो सहकारी नित्य होनेके कारण सर्वदा कार्यारम्भकी आपत्ति आवेगी; और यदि सहकारी अनित्य होंगे तो फिर उनका भी आरम्भ कोई दूसरा स्वभाव माना जायगा और तब अनवस्था उत्पन्न हो जायेगी जो सर्वथा अनिष्ट ही है। अथवा यदि सहकारी कारणोंकी अपेक्षा अवश्य है ही और उन सहकारी कारणोंसे ही कार्यारम्भ होना सम्भव है तो फिर स्वभावको कारण मानना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है एवं सहकारीकी भी अपेक्षा न करनेपर सर्वदा कार्यारम्भके प्रसंगकी आपत्ति खड़ी रहेगी। यदि स्वभावको अनित्य माना जाय तो उसको किसी अन्य स्वभावकी अपेक्षा रहेगी और उस स्वभावान्तरके विषयमें फिर नित्यत्व तथा अनित्यत्वके विकल्पोंका झंझट उठानेपर निरुत्तर हो जाना पड़ेगा।

एक बात और भी विचारणीय है, यदि स्वभावको जगत्का आरम्भ माना जायगा तो उसको सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी मानना ही पड़ेगा; क्योंकि जिस वस्तुका निर्माण होता है, उसका निर्माता

उस वस्तुसम्बन्धी सारी ज्ञातव्य बातोंकी जानकारी रखता है और उस वस्तुको पूरी तरहसे तैयार करनेकी शक्ति रखता है, ऐसा नियम है। ऐसी अवस्थामें दूसरे जिसको 'सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् स्वभाव' कहेंगे, उसीको हम 'ईश्वर' कहते हैं; परंतु ऐसी स्थितिमें उसे 'स्वभाव' नहीं कह सकते। हाँ, एक बात यह शेष रहती है कि स्वभावका अर्थ किसी हेतुका अभाव माना जाय तो काम चल सकता है, किंतु इस अर्थसे भी विना भोजनकी तृप्ति या विना बीजके अङ्कुरादिकी उत्पत्ति आदि होनेका प्रश्न उपस्थित हो जायगा और जगत्के कार्य-कारणभावको जलाञ्जलि दे देनी पड़ेगी। अस्तु।

यही समझकर मैं तो श्रुतिकी लकीरोंका ही फकीर हूँ। मेरी दृष्टिमें—

'आत्मा नारायणः परः' (नारायणोपनिषद् १२।१)
'उमां हैमवतीम्' (तलवकारोपनिषद् ३।२५)

उमासहायं परमेश्वरं विभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

अर्थात् आत्मा ही परम नारायण है, उमा हैं सहाय (अर्द्धाङ्गिनी) जिनकी, उन तीन नेत्रोंवाले, नीलकण्ठ, प्रशान्तमूर्ति, व्यापक, सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक, समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी श्रीसदाशिवका ध्यान करनेसे उपासक अज्ञान (संसार) से पार हो जाता है, इत्यादि श्रुति वाक्योंसे नारायण, पराशक्ति और महेश्वर आदि ईश्वर-विग्रहोंकी निःसन्देह सिद्धि हो जाती है। अतएव और प्रमाणोंके झंझटसे क्या दरकार है?

२—ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं? यह देखा जाता है कि जो बालक अपना हिताहित समझनेमें सर्वथा असमर्थ

है, उसको सीढ़ीपरसे गिर जानेसे मरणान्त दुःख होगा, इसका जरा भी ख्याल नहीं होता; परंतु कोई दयालु पुरुष यदि खड़ा होकर उसको देखता है तो वह झट दौड़कर बालकको गिरनेसे बचानेका प्रयत्न करता है। इसी तरह इस मृत्युलोकमें अज्ञ और प्राकृत पामरजनोंको तो अपने घरके लकड़ी, तैल, नमक-मिर्च आदिके प्रपञ्चोंसे ही फुरसत नहीं मिलती। उसीमें वे अपनी सारी उम्र बिता देते हैं और उनके सामने कभी ईश्वरको मानने न माननेका प्रसंग भी नहीं आता; परंतु विश्व-हितैषी अनुग्रहमूर्ति महात्मा लोगोंने डंकेकी चोट कह दिया है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

अर्थात् इस मनुष्य-जन्ममें ही 'सत्य-परमात्मा है' ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। यदि प्रकृष्ट-पुण्य-परिपाकलभ्य इस अमूल्य मानवजन्ममें परमात्माको जाननेका यत्न नहीं किया गया—मौका नहीं मिला तो 'महती विनष्टिः'—बहुत बड़ी हानि हुई; क्योंकि बार-बार मनुष्य-जन्मकी प्राप्ति कठिन है।

एक अंधा घरसे बाहर निकलनेके लिये द्वार खोजने लगा। घूमते-घूमते—हाथोंसे घरकी दीवारको टटोलते-टटोलते जब द्वारके पास पहुँचा, तब उसके सिरमें खुजली मालूम हुई और दोनों हाथोंसे सिरको खुजलाते-खुजलाते द्वारसे बहुत दूर चला गया। इसी प्रकार उसने न जाने कितने चक्कर लगाये, परंतु जब दरवाजेके समीप पहुँचता तभी सिर खुजलाने लगता और दोनों हाथ उसीमें रुक जानेसे द्वार न पाता तथा आगे बढ़ जाता।

इसी तरह अज्ञानान्ध जन मनुष्य-जन्मरूपी मुक्तिका द्वार सामने पाकर भी यदि परमात्माको जाननेकी चेष्टा नहीं करते तो सांसारिक प्रपञ्चरूपी खुजलीमें फँस जाते हैं और उससे उनको कदापि मुक्ति नहीं मिल पाती। वे वार-वार जन्म-मरणके चक्करमें घूमते रहते हैं। इस हानिसे बढ़कर दूसरी और कौन-सी हानि हो सकती है? इसीसे कहा गया है कि 'महती विनष्टिः'। अर्थात् ईश्वरको न माननेसे केवल हानि ही नहीं, जिसका प्रतीकार न हो सके, प्रत्युत ऐसा महान् विनाश होता है।

चौथे प्रश्नके सम्बन्धमें मेरा यह निवेदन है कि यदि मैं कोई महात्मा, सिद्ध, योगी अथवा तपस्वी होता तो ईश्वरसाक्षात्कारका दावा रख सकता और तत्सम्बन्धी कुछ बातें भी बतलाता; परंतु यहाँ तो एक सामान्य ब्राह्मण कहलानेका ही अधिकार है। अतएव मेरे लिये ईश्वरानुग्रहाकाङ्क्षी ही बना रहना गनीमत है। इससे आगे फलातिशयका कुछ निश्चित लाभ नहीं दिखायी देता।

आजसे करीब दो सौ वर्ष पहले काठियावाड़ प्रान्तके मोरबी नगरमें एक महाराजा कायाँजी थे। उसी नगरमें माँडण नामक एक वृद्ध भक्त कुम्हार भी निवास करता था। वह अपने घरका सब उद्योग-धंधा अपने बाल-बच्चोंको सौंपकर स्वयं भगवान्का भजन करता था। एक दिन किसीने राजाको खबर दी कि 'आपके नगरमें माँडण नामका एक कुम्हार भक्त रहता है, जिसकी सहायता भगवान् करते हैं।' इसपर राजाने घोड़ा-गाड़ी भेजकर भक्त माँडणको अपने राजमहलमें बुलवाया। जब वह सामने पहुँचा, तब राजाने बड़े

स्वागतके साथ 'आइये भगतजी !' कहकर अपने सामने गद्दीपर विठाया, फिर हाथ जोड़कर वे कहने लगे कि 'आपको भगवान्‌की सहायता प्राप्त है, हमको भी थोड़ा-सा उनका परिचय कराइये ।' इसके उत्तरमें माँडण भगतने कहा कि 'महाराज ! मैं जो कुछ हूँ, उसको आप जानते ही हैं । कुम्हारकी जातिका पेशा मिट्टीके वरतन वनाना और उनको भाड़में पकाकर वेंचना होता है । भाड़के लिये घास-फूसकी जरूरत होती है, जिनको जुटानेमें हमारे कुम्हार लोगोंको वड़ी मुसीवत उठानी पड़ती है । यहाँतक कि उनको आपकी घुड़सालमें भी आना पड़ता है । वहाँ उन्हें आपके सईसोंकी अवाच्य गालियाँ और चावुकोंकी मार सहनी पड़ती है, फिर भी गरजवस वे गालियाँ और मार सहकर घोड़ोंके मूत्रसे गीली और सड़ी हुई घासको उठा ही ले जाते हैं । अव आपको मेरी जातिका कुछ ख्याल आया होगा । ऐसी हीन जातिमें पैदा होनेवाले मुझ-जैसे एक गरीव आदमीको जव आप-जैसे राजाने दूत भेजकर इतने सम्मानके साथ वुलवाया, वड़ी नम्रतासे 'आइये भगतजी !' कहा और अपने समक्ष गद्दीपर विठाया, तव इससे अधिक और क्या चमत्कार आप देखना चाहते हैं ? यह सव भगवान्‌के नाम लेनेका ही फल है । यदि आप भी सच्चे दिलसे भगवत्स्मरण करेंगे तो इस राजवैभवसे कई गुना सुख आपको मिलेगा ।'

वास्तवमें यही वात सच्ची है । जो सच्चे भक्त होते हैं, वे ईश्वर-साक्षात्कारका ढिंढोरा नहीं पीटते और सांसारिक सम्मानकी भी उन्हें कमी नहीं रहती ।

सर श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहबजी महाराज'

१—हमें ईश्वरमें विश्वास करना चाहिये, क्योंकि ईश्वर आत्मतत्त्वके लिये सम्भवनीय आध्यात्मिक विकासकी सर्वोच्च अवस्था है।

२—यदि हम ईश्वरमें विश्वास न करेंगे तो या तो निरुद्देश्य जीवन बिताते रहेंगे या किसी तुच्छ विषयकी प्राप्तिमें इसे लगा देंगे, जिससे हमें जीवनकी सर्वोच्च अवस्थाका आनन्द प्राप्त नहीं हो सकेगा।

३—ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें मेरे पास दो प्रमाण हैं—व्यक्तिगत अनुभव और भगवत्प्राप्त महात्माओंके अखण्डनीय आप्तवाक्य।

४—सन् १८५७ ई० में मैं अम्बालासे मैट्रिक्यूलेशनकी परीक्षामें सम्मिलित हुआ था। सभी कहा करते थे कि मैं अनुत्तीर्ण हो जाऊँगा; क्योंकि मैं क्लासमें कमजोर था। मैं बहुत ही खिन्न रहा करता था और किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा हो गया था। मैं एक मिशन हाई स्कूलसे परीक्षामें बैठा था। उस स्कूलमें पढ़ाई आरम्भ होनेके पहले प्रतिदिन प्रातः ईश्वर-प्रार्थना हुआ करती थी; परंतु कोई भी विद्यार्थी उसमें दिलचस्पी नहीं रखता था। परीक्षाफलके प्रकाशित होनेके एक दिन पहले, जो नियमतः लाहौरसे प्रकाशित होनेको था, जब मैं अत्यन्त खिन्न-सा हो रहा था, तब मेरे मनमें आया कि मैं भी तनिक प्रार्थना करनेकी चेष्टा करूँ। अपने अबोध बालभावसे मैं पाँच मिनटतक ईश्वरकी प्रार्थना करता रहा और तत्काल ही मुझे एक ऐसा आन्तरिक भान हुआ, जिससे मुझे निश्चय हो गया कि मेरा परीक्षाफल सर्वथा अनुकूल होगा, तब मुझे बहुत ही आश्चर्य और आनन्द हुआ। इस अनुभवसे मुझे स्वभावतः सान्त्वना मिली और मैं तमाम चिन्ताओंसे मुक्त हो गया। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं पुनः प्रार्थनाके लिये बैठा तब फिर मुझे वही अनुभव हुआ, परंतु जिस समय मैं आसनपर बैठा इसका आनन्द ले रहा था, मेरी उस कोठरीकी खिड़कीके नीचेसे किसीने पुकारकर कहा कि 'तुम अनुत्तीर्ण हो गये।' लाहौरसे मेरे एक सम्बन्धीका इसी आशयका तार आया था। मैं इस समाचारको सुनकर अवाक् रह

गया । मैं धीरेसे अपनी कोठरीके दरवाजेपर पहुँचा और बड़ी आशङ्कासे उसे खोला; परंतु एक अन्तर्ध्वनि बलात् मुझे शान्त और निर्भय रहनेके लिये प्रेरित करने लगी । मैं सड़कपर गया और तारको अपने हाथमें ले लिया । उसे एक, दो, तीन बार पढ़ा और भीतर-ही-भीतर बहुत दुखी हुआ । मेरी दादी, जो वहाँ आ गयी थीं, मुझे सान्त्वना देने लगीं; परंतु मैंने उसे यह कहकर चुप करा दिया कि मैं फेल नहीं हो सकता । मैं पोस्ट-आफिस गया, जो मेरे घरसे दो फर्लांगकी दूरीपर था और वहाँ मैंने अपने सहपाठियों और उनके सम्बन्धियोंका जमघट देखा, जो अनुत्तीर्ण छात्रोंकी नामावलीकी प्रतीक्षा कर रहे थे । करीब साढ़े नौ बजे पोस्टमास्टरने हमारे हाई स्कूलके एक प्रतिनिधिको एक बंद लिफाफा दिया । लिफाफा खोलकर नामावली निकाली गयी । उसके देखनेपर यह पता लगा कि मैं भी अनुत्तीर्ण नहीं हुआ हूँ, बल्कि विचाराधीन (Under consideration) रक्खा गया हूँ । इस 'विचाराधीन' शब्दका अर्थ कोई भी नहीं समझा सका, क्योंकि यह शब्द प्रथम बार ही अनुत्तीर्ण छात्रोंकी सूचीमें आया था । एक ही सप्ताहमें जब मुझे उत्तीर्ण होनेकी सूचना मिल गयी, तब इस शब्दका अर्थ स्पष्ट हो गया ।

यही मेरे जीवनकी पहली घटना है, जिससे भगवान्के अस्तित्व और उसकी दयामें मेरा विश्वास दृढ़ हुआ ।

पण्डित श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, काशी

(१)

यह उस समयकी घटना है, जब मैं चौदह वर्षका था। पंजाब गया था। वहाँ मेरे ननिहालके लोग आये और मुझे घोड़ेपर सवार कराकर ले चले। मैंने अपने ठाकुरजीको भी साथ ले लिया था। रास्तेमें मेरे अन्य साथियोंने अपने-अपने घोड़े दौड़ाये। मेरा घोड़ा भी उनके पीछे दौड़ने लगा। मुझे सवारी करनेका पूरा अभ्यास न था, इससे मैं थोड़ी दूर जाकर घोड़ेसे गिर पड़ा। पास ही एक नहर बड़े वेगसे बह रही थी, मेरे ठाकुरजी उसमें जा गिरे।

उठनेके बाद मैंने सबसे पहले ठाकुरजीको खोजा। बहुत छान-बीन की, पर पता न लगा। फिर तो मैं अधीर हो उठा। मेरे

साथियोंने मुझे बहुतेरा समझाया-बुझाया, पर मेरी अधीरता बढ़ती ही गयी। वे लोग मुझे समझा-बुझाकर अपने घर गये और मैं अपने मामाके घर गया, परंतु ठाकुरजीका वियोग मुझे असह्य था। मैं अनाथके समान व्याकुल होकर रोता रहा। मुझे खाने-पीनेकी इच्छा ही नहीं होती थी। मेरे मामाके घरमें सब लोग मेरी इस अवस्थासे बहुत ही उदास हो गये। भोजनके लिये जब उन लोगोंने आग्रह किया, तब मैंने कह दिया कि अब तो जबतक ठाकुरजी न मिलेंगे अन्न ग्रहण न करूँगा।

संध्याको मेरे माता-पिता भी आ गये। मुझे रोता हुआ देखकर उन्होंने मुझे आश्वासन दिया और जबरन् दूध पिलाया। दूधके घूँट बड़ी कठिनाईसे मेरे गलेके नीचे उतरे। रोते-रोते संध्या हो आयी और रोते-ही-रोते मैं रातको सो गया।

सोनेपर मुझे एक स्वप्न दीख पड़ा। एक सुन्दर पुरुष मेरे ठाकुरजीको हाथमें लिये हुए आया और उसने मुझसे कहा—'लो अपने ठाकुरजीको। पहचानो तो, यही न हैं तुम्हारे ठाकुरजी?' मैंने उनके हाथसे अपने ठाकुरजीको ले लिया और मैं मन-ही-मन आनन्दित हो उठा; परंतु नींदके टूटते ही न तो वह मनुष्य ही रहा और न ठाकुरजी ही मेरे पास रहे। मैं पछताने लगा और फिर मुझे निराशाने आ घेरा।

दूसरे दिन प्रातःकाल दो घंटे दिन चढ़नेपर खबर मिली कि ठाकुरजी मिल गये। घटना इस प्रकार हुई कि जिस समय मेरे ठाकुरजी नहरमें गिरे थे, उस समय उसमें बाढ़ आयी थी। फिर

पीछे पानी कम हो गया। वहाँ एक स्त्री अपने एक लड़केको साथ लेकर वस्त्र धोनेके लिये गयी। ठाकुरजीके खोने और मेरे रोनेकी खबर तो फैल ही रही थी। बालकने ठाकुरजीको किनारे पाया और उस स्त्रीने उससे उन्हें लेकर एक आदमीके द्वारा शीघ्र ही मेरे पास भेजवा दिया।

अपने खोये हुए ठाकुरजीको पुनः पाकर मुझे जो आनन्द हुआ, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर तो ठाकुरजीकी पूजा करके और उनका प्रसाद पाकर मैं कृतार्थ हो गया। मुझे इस घटनाका वर्णन भेजते समय डर लग रहा है कि कहीं मैं दण्डनीय न बनूँ।

(२)

करीब साठ वर्षकी बात है। बाबू शिवदयालजी अपनी पत्नीको साथ ले पंजाबसे काशी पहुँचे और वहाँ जाकर उन्होंने यह निश्चय किया कि परमात्मा जैसे रक्खेंगे वैसे ही रहकर निर्वाह करेंगे, पर मोक्षदायिनी काशीको न छोड़ेंगे। महल्ला नीची ब्रह्मपुरीमें उन्होंने एक छोटा-सा मकान खरीदा। साधारण कारोबार शुरू किया और सदाचारपूर्वक सरलतासे भगवान्का भजन करते हुए भगवत्-शरण होकर जीवन बिताने लगे।

एक दिन रात्रिको उन्हें एक स्वप्न हुआ। आनन्दकन्द नन्द-नन्दन मुरलीमनोहर श्रीकृष्णचन्द्रजीने उन्हें दर्शन देकर कहा—'भाई! मैं तुम्हारे मकानकी दीवालमें हूँ। पास ही नाली बह रही है। उससे बड़ी दुर्गन्ध आती है। मुझे यहाँसे निकालो।' इस

स्वप्नके देखते ही शिवदयालजीकी आँखें खुल गयीं। सामने देखा तो वह परम मनोहर मूर्ति गायब है। इस विचित्र स्वप्नसे उन्हें बड़ा ही कुतूहल हुआ। नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प मनमें उठने लगे। सवेरा होते ही उन्होंने कुछ विद्वानोंसे इस विषयपर सम्मति माँगी। एक विद्वान्ने कहा—'भाई! स्वप्नकी बात है, इसमें क्या कहा जाय? हाँ, आज भगवान्की प्रार्थना करके सोना। यदि पुनः वैसा ही स्वप्न हुआ तो कल विचार किया जायगा।' पण्डितजीको विश्वास नहीं हुआ, उन्होंने यह कहकर सरल शिवदयालजीको टाल दिया।

उन्होंने वैसा ही किया। सोनेके पूर्व पवित्रतापूर्वक शुद्ध हृदयसे भगवान्की प्रार्थना करके सोनेपर पुनः वैसा ही स्वप्न हुआ। भगवान्ने पुनः उसी मनोहर मूर्तिसे दर्शन दिया और बोले—'तुम दूसरे लोगोंसे क्यों पूछते हो? क्या मैं तुम्हें व्यर्थ ही आदेश देता हूँ?'

बस, क्या था! शिवदयालजी चौंककर उठ बैठे और भगवत्-स्मरण करते हुए उन्होंने ज्यों-त्यों रात बितायी। प्रातः होते ही राजोंको बुलाकर मकान खुदवाना शुरू कर दिया। उनके इस कामको देखकर पड़ोसी लोग तरह-तरहकी बातें करने और हँसने लगे। इतनेमें एक मजदूरने जैसे ही दीवालमें एक झटका मारा, वैसे ही चूनेके एक ढेलेमें सटी हुई भगवान् वृन्दावन-विहारीलालकी एक मनोहर स्वर्ण-मूर्ति एकाएक नीचे गिरी। उस समय वहाँ कितने ही स्त्री-पुरुष-बच्चे खड़े थे। श्रीशिवदयालजीकी छोटी कन्या भी, जिसका नाम मुन्नादेवी था, वहाँ खड़ी थी। उसकी निगाह उस

ढेलेमें चिपकी हुई मूर्तिके ऊपर पड़ी और उसने शीघ्र ही कहा—'देखिये बाबूजी, यह क्या चीज है ?'

शिवदयालजीने जो भगवान्की उस स्वर्णमयी मनोहर मूर्तिको देखा, वे आनन्दसे उछल पड़े। उनके हर्षका पारावार न रहा। वे प्रेम-गद्गद हो उठे, आँखोंसे अश्रुधारा बह चली। भगवान्की उस मूर्तिको ढेलेसे अलग करके विद्वानोंको बुलाकर उन्होंने विधिपूर्वक पूजा करके एक घरमें स्थापित किया। उसी दिनसे दम्पति श्रीभगवान्की सेवामें तन-मन-धनसे लग गये। दिन-रात ठाकुरजीकी चर्चा और अर्चामें बीतने लगे।

अब भगवान्की कृपासे उनके व्यवहारमें भी उन्नति होने लगी। कुछ ही दिनोंमें उनके पास काफी सम्पत्ति हो गयी। उन्होंने उस मकानको नये ढंगसे बनवाया। चौमासा, सर्दी, गरमीके लिये ठाकुरजीके निमित्त भाँति-भाँतिके सामान, शृङ्गार आदिके समारोहमें ही उनके दिन बीतने लगे। अब तो उनकी निष्ठा इतनी बढ़ी कि जो कुछ करना होता, सब भगवान्के आगे निवेदन करते और उनसे जो आदेश होता उसीके अनुसार आचरण करते।

सुख-दुःख, शादी-गमी सब प्रकारके व्यवहारमें ठाकुरजीकी आज्ञाका पालन करते हुए उन्होंने अपने जीवनमें अन्त समयतक भगवान्की सेवामें ही शान्ति-लाभ किया। *

---

* पूज्य शास्त्रीजी महाराजने कृपा करके काशीमें मुझे भगवान्की इस मूर्तिके दर्शन कराये थे।—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीक्षितीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रश्न १—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

इसलिये मानना चाहिये कि इससे हमारा सब प्रकारसे कल्याण होता है और सब प्रकारकी उन्नतिके लिये हम सरल-से-सरल मार्ग पा जाते हैं । यही कारण है कि गत शताब्दिके सुप्रसिद्ध उपयोगितावादी दार्शनिक जान स्टुअर्ट मिलने भी यह कह-कर इसकी उपयोगिताको स्वीकार किया है कि 'कम-से-कम यह एक कल्याण-साधन करनेवाली कल्पना है (At least this is a good

working hypothesis)' ईश्वरमें जो अचल श्रद्धा रखते हैं, उनके मनमें अगाध शान्ति प्राप्त होती है; क्योंकि वह एक ऐसे 'अजेय चट्टान' के समान है, जो शरणमें आनेवालोंकी रक्षा करनेके लिये सदा तैयार रहता है। ईश्वरमें विश्वास करनेसे ही हम दृढ़तापूर्वक कर्तव्य-पालनमें लग सकते हैं। इस विश्वाससे यह संसाररूपी मरुभूमि असंख्य सुगन्धपूर्ण सुमनराशिकी सुरभिसे आमोदित उद्यान बन जाती है। इससे भगवान्‌को प्रिय लगनेवाले सत्कर्मोंके करनेमें मनुष्यकी स्वाभाविक प्रेरणा होती है तथा उसकी क्षमता भी बढ़ती जाती है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करनेसे ही हम अपने उच्चतम भावों और आदर्शोंकी पूर्णताको प्राप्त हो सकते हैं और इसीसे पापके ऊपर पुण्य विजयी हो सकता है। प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुषका यही आन्तरिक विश्वास है।

प्रश्न २—ईश्वरमें विश्वास न करनेसे हानि ही क्या है?

उत्तर—यदि कोई मनुष्य ईश्वरके अस्तित्व तथा इसके ऊपर अवलम्बित आत्मा और मरणोपरान्त जीवनमें विश्वास नहीं करता किंतु प्रकृतिके नियमोंका दृढ़तापूर्वक पालन करता है तो कदाचित् उसकी कोई प्रत्यक्ष हानि नहीं होगी; क्योंकि प्राकृतिक नियम मनुष्य तथा अन्यान्य प्राणियोंके हितके लिये इस जगत् तथा प्रकृतिके 'स्रष्टा'के द्वारा बनाये गये हैं, जिसे भगवान्, ईश्वरादि अनेकों नामोंसे पुकारा जाता है; परंतु जो परमात्मा तथा इसपर अवलम्बित आत्मा और मरणोपरान्त जीवनमें भी विश्वास नहीं करता, उसकी अप्रत्यक्षरूपसे तो हानि होती ही है। साथ ही इससे प्रत्यक्ष हानिका मार्ग भी खुल जाता है।

वह सत्य बोलना, माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना आदि कर्तव्योंके पालन करनेमें अपनेको परतन्त्र नहीं मानता और न वह ऊँचे-से-ऊँचे भावों और आदर्शोंको प्राप्त करनेकी मनुष्यकी लालसामें तथा उन सारे विषयोंमें ही कोई तथ्य देखता है, जिसके लिये संसारमें मानव-जीवनकी उपयोगिता होती है। वह संसारमें प्रत्येक वस्तुके पीछे मृत्युको घात लगाये हुए देखता है और अपनेको भी मृत्युके हाथका खिलौना समझता है। यदि वह अपनी तर्क-बुद्धिको काममें लावे तो असत्यके ऊपर सत्य, पापके ऊपर पुण्य और अन्यायके ऊपर न्यायकी महत्ता निश्चित करनेमें उसे एँड़ी और चोटीका पसीना एक करनेकी आवश्यकता ही नहीं हो सकती है; क्योंकि यह सारे भाव उसके लिये स्वप्नमात्र हैं। ज्ञान, प्रेम और श्रद्धाके सुन्दर भावोंको अपने भीतर उठते हुए वह देखता अवश्य है, परंतु उसके हृदयमें किसने और क्यों उन भावोंका आरोपण किया है, इस विचारके उठते ही वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। न तो समाज और न कोई व्यक्ति ही निरी नास्तिक विचारधाराका अवलम्बन कर यथार्थ कल्याण और उन्नतिके पथकी ओर अग्रसर हो सकता है।

मनकी शान्ति और आनन्दमें तथा नास्तिकतामें पूर्व और पश्चिमका अन्तर है। जगत्‌की सृष्टि और पालन करनेवाले प्रेममय प्रभुके अस्तित्वमें जो दृढ़ विश्वास रखते हैं, वे समझते हैं कि उनके बन्धु-बान्धव अथवा प्रियजन अपने-अपने कर्मफलके अनुसार इहलोक या परलोकमें जहाँ-कहीं रहें, भगवान्‌के आनन्द-पूर्ण प्रेमकी ज्योतिसे वञ्चित नहीं हो सकते। किसी भी बुद्धिमान्‌के लिये यह बिल्कुल समझके बाहरकी बात है कि एक मनुष्य जो

अपनेको और दूसरोंको केवल अणु-परमाणुओंके पुञ्जीभूत अथवा भावों और वेदनाओंकी राशिके रूपमें निर्जीव वस्तु मानता है, किसीसे प्रेम कर सकता है अथवा प्रेमकी आशा कर सकता है या विपत्तिमें उसकी सहानुभूतिकी आशा कर सकता है । मनकी वह शान्ति और आनन्द नास्तिकको सहज ही नहीं प्राप्त हो सकती, इस बातको अपने समयके नास्तिकताके जबरदस्त समर्थक श्रीडेविड ह्यूम (David Hume) ने अपने सुप्रसिद्ध 'Treatise on Human Nature' नामक ग्रन्थमें भलीभाँति व्यक्त किया है, वे कहते हैं—

'The intense view of these manifold contradictions and imperfections in human reason has so wrought upon me and heated my brain that I am ready to reject all belief and reasoning, and can look upon no opinion as more probable or likly than another. Where am I or what ? From what causes do I derive my existense, and, to what condition shall I return ? Whose favour shall I covet ? And whose anger must I dread ? What beings surround me ? And on whom have I any influence, or who has any influence on me ? I am confounded with all these questions, and begin to fancy myself in the most deplorable condition imaginable, environed with the deepest darkness, and utterly deprived of the use of every member and faculty.'

ई० स० म० २२—

'मनुष्यकी युक्तियोंकी अपूर्णता और उनमें अनेकों विरोधकी जटिलताको देखकर मैं इतना प्रभावित हुआ हूँ और इसने मेरे मस्तिष्कको इतना अस्त-व्यस्त कर दिया है कि मैं सब प्रकारके विश्वास और युक्तिको न माननेके लिये तैयार हूँ और किसी भी विचारको दूसरोंसे अधिक सम्भव और समर्थन योग्य नहीं मान सकता। मैं कहाँ हूँ और क्या हूँ? किस स्रोतसे मेरा जीवन प्रवाहित होता है और यह कहाँ जायगा? किसकी कृपाकी मैं लालसा करता हूँ और किसके कोपसे मैं डरता हूँ? मेरे चारों ओर यह क्या है? किसके ऊपर मैं प्रभाव रखता हूँ और कौन मेरे ऊपर प्रभाव रखता है? मेरे चारों ओर यह प्रश्न उठने लगते हैं और मैं अत्यन्त ही नैराश्य-पूर्ण अवस्थामें—विचारमें पड़ जाता हूँ। मेरे चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार छा जाता है और मेरी मानसिक शक्ति और सारे अङ्ग शिथिल हो जाते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें साररूपसे इसी तथ्यका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' तथा 'संशयात्मा विनश्यति।' भगवान्‌में पूरी श्रद्धा होनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उनके अस्तित्वमें संशय करनेवाला विनाशको प्राप्त होता है।

प्रश्न ३—ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें आप कौन-सी युक्तियाँ देते हैं?

उत्तर—प्राच्य और पाश्चात्त्य देशोंके संतों और महात्माओं तथा गम्भीर विचारकोंकी ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें लिखी हुई सहस्रों पुस्तकें पायी जाती हैं। मैं तो एक तुच्छ सत्यका खोजी हूँ, ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित करनेमें मैं अपनेको बहुत ही

असमर्थ मानता हूँ। तथापि मेरे प्राणोंके भी प्राण अकिञ्चन-गुरुने मेरे प्राणोंमें जिस सत्यको अभिव्यक्त किया है, उसे ही व्यक्त करनेकी मैं चेष्टा करूँगा।

सबसे पहली बात यह है कि वह सबके लिये स्वतः प्रत्यक्ष है। संत और महात्मा कहते हैं कि वे बाह्य भौतिक जगत्की अपेक्षा उसे अधिक स्पष्ट रूपमें देखते हैं; परंतु जो ईश्वरमें श्रद्धा और विश्वास नहीं रखते हैं, उनके लिये संक्षेपमें चार प्रकारकी युक्तियाँ कदाचित् उपयुक्त होंगी।

पहला प्रमाण कार्य और कारणके सम्बन्धपर अवलम्बित है। प्रत्येक कार्यका कोई-न-कोई कारण होता ही है—इसे सभी बुद्धिवादी मानते हैं। यह भावना कहाँसे उत्पन्न हुई? इस भावनाका कारण क्या है? यह कारण जड पदार्थ नहीं हो सकता, बल्कि वह कोई चेतन है, जिसे किसी दूसरे चेतनके भीतर इस भावके आरोपित करनेकी शक्ति है। इस विश्वासको अन्तर्ज्ञान कहते हैं; क्योंकि इस विश्वासको किसी बाह्य हेतुके द्वारा या तार्किक युक्तिके द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह अन्तर्ज्ञान बतलाता है कि इस जगत्का एक स्रष्टा और पालक है, जिसकी आज्ञासे जगत् अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो रहा है। साथ ही यह भी बतलाता है कि मनुष्यके कर्म उसकी इच्छाओंके परिणामस्वरूप हैं। यदि पूर्व क्षणकी घटनाको उत्तर क्षणकी घटनाका कारण कहा जाय तो बुद्धिमान् मनुष्य इससे संतुष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो पीछे ऐसी घटनातक जाना चाहता है, जिसे यथार्थ कारण या आत्माकी इच्छा कह सकें। यह विषय इतना

महान् है कि इस थोड़े-से स्थानमें उन सब बातोंका, जिन्हें मैं कहना चाहता हूँ, वर्णन करना असम्भव है ।

दूसरा दृष्टिकोण वह है, जिसमें प्रयोजन (Design) के द्वारा युक्ति दी जाती है । अन्तर्ज्ञानसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि इस जगत्के स्रष्टाने जिस वस्तुका जहाँ प्रयोजन हुआ, वहाँ ही उस वस्तुको बनाया है । जहाँ कहीं और जब कभी हम किसी ऐसे कामको देखते हैं, जिसमें उस कामके करनेवालेकी पटुता दीख पड़ती है तो हम तुरंत समझ जाते हैं कि इसे किसी बुद्धिमान्ने किसी-न-किसी प्रयोजनसे ही बनाया है । यदि कोई अपनी आँखें खोलकर देखे तो निःसन्देह वह अपने चारों ओर पद-पदपर बहुत ही उच्चकोटिकी चातुरी और प्रयोजनको देखेगा । सूर्यका क्रमशः उदय और अस्त होना, उसके चतुर्दिक् नक्षत्रोंका भ्रमण करना, जीवनका विकास, हमारे मस्तिष्ककी भौतिक क्रियाके साथ मानसिक क्रियाका सम्बन्ध आदि संसारका नियम करनेवाले उस उच्च-कोटिके ज्ञानकी ओर संकेत करते हैं, जिसे ईश्वर कहते हैं । जो कहते हैं कि आकर्षणशक्ति, विकास तथा प्रकृतिकी अन्य शक्तियाँ जगत्के अस्तित्वका कारण हैं, वे भ्रममें हैं; क्योंकि ये केवल विधान या कार्यविधि अथवा नियम हैं, जिनके द्वारा उन्नतिकी ओर क्रमशः अग्रसर होनेका मौका मिलता है और इस विधान या नियमका निर्माता ईश्वर-के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है । डेविड ह्यूमको भी एक दिन सायंकाल घर आते समय अपने एक मित्रसे कहना पड़ा था कि, 'When one looks at the sky studded with stars, he can not but feel that it is all the work of an Intelligent

Being.' 'जब कोई मनुष्य ताराजटित आकाशकी ओर देखता है, तब उसके मनमें यही उठता है कि यह सब कार्य किसी चेतनके हैं।' सर विलियम टामसनने अपने 'Recent Advances in Physical 'Science' नामक ग्रन्थमें स्पष्टाक्षरोंमें अपनी सम्मति दी है कि,

'Let no one imagine that, should we ever penetrate this mystery (what is life in reality), we shall thereby be enabled to produce, except from life, even the lowest form of life 'किसीको यह कल्पना भी नहीं करनी चाहिये कि हम कभी इस रहस्य (वस्तुतः जीवन क्या है ?) के तहतक पहुँच सकेंगे । हम जीवनके अतिरिक्त किसी भी उपादानसे छोटे-से-छोटे प्राणीको भी उत्पन्न करनेमें कभी समर्थ न होंगे।'

यहाँ सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक टिंडल 'Tyndal' की सम्मतिका अवतरण देना अनुपयुक्त न होगा—

'The passage from the Physics of the brain to the corresponding facts of consciousness is unthinkable. Granted that a definite thought and a definite molecular action occur in the brain simultaneously, we do not possess the intellectual organ nor apparently any rudiment of the organ, which would enable us to pass by a process of reasoning from the one phenomenon to the other. They appear together, but we do not know why. Were our minds and senses as expanded strengthened, and illuminated, as to enable us to see and feel the very molecules of the brain,

were we capable of following all their motions, all their groupings, all their electric discharges, if such they be, and were we intimately aquainted with the corresponding states of thought and feeling, we should be as far as ever from the solution of the problem:- How are these physical processes connected with the facts of consciousness. The chasm between the two classes of phenomena whould still remain intellectually impassible.'

'मस्तिष्कके भौतिक तत्त्वोंसे किस प्रकार चेतनाका उदय होता है, यह विषय अचिन्त्य है। यदि इस बातको मान भी लें कि मस्तिष्कमें एक विशेष विचारका उदय एक विशेष पारमाणविक क्रियाके साथ होता है तो भी हमें कोई मनः-इन्द्रिय अथवा प्रत्यक्ष भौतिक साधन नहीं प्राप्त होता, जिससे हम इनमेंसे एक घटनासे दूसरी घटनाकी ओर युक्तितः अग्रसर हो सकें। ये दोनों एक साथ उपस्थित होती हैं, परंतु इनका कारण हम नहीं जानते। यदि हमारा मन और इन्द्रियाँ इतनी व्यापक, बलवती और प्रकाशित होतीं कि हम मस्तिष्कके परमाणुओंको देखने और अनुभव करनेमें समर्थ हो सकते, हम उनकी गति, उनके संगठन और उनके वैद्युत प्रभावका अनुगमन कर सकते, यदि ऐसा होता और विचार और संवेदनाकी तत्कालीन अवस्थाओंसे हम पूर्णतः अभिज्ञ होते, तो भी हम इस प्रश्नको हल करनेमें उतना ही असमर्थ होते

जितना पहले थे। और हमारे सामने यह प्रश्न रह ही जाता कि भौतिक क्रियाओंका चेतनासे क्या सम्बन्ध है? और इन दो प्रकारकी परिस्थितियोंके बीचका मार्ग हमारे लिये अगम्य ही रह जाता।'

'अब जगत्में अभिव्यक्त होनेवाले चातुर्य और प्रयोजनके आधारपर ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित करते हुए अन्तमें सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक हक्सलेकी सम्मति मैं यहाँ देना चाहता हूँ—

'No doubt it is quite true, that the doctrine of evolution is the most formidable opponent of all the coarser form of teleology (Argument from design). The teleology which imagines that the eye, such as we find it in man or one of the higher animals, was made, with the precise structure it exhibits, for the purpose of enabling the animal who possesses it to see, has undoubtedly received its deathblow. But it is necessary to remember that there is wider teleology, which is not touched by the doctrine of evolution, but actually based upon the fundamental proposition of evolution. The teleological end mechanical views of nature are not necessarily mutually exclusive. On the contrary, the more purely a mechanist the speculator is, the more firmly does he assume the primordial molecular arrangement of which all the phenomena of the universe are the consequences; and the more

completely is he thereby at the mercy of the teleologist who can always defy him to prove that this primordial molecular arrangement was not intended to evolve the phenomena of the universe.'

(The Academy, Oct. 1868)

'निःसन्देह यह बिल्कुल सच बात है कि विकासवादका सिद्धान्त सृष्टि-प्रयोजनवाद (Teleology) की छोटी-बड़ी सारी बातोंका पूर्ण विरोधी है। सृष्टि-प्रयोजनवाद जो यह कल्पना करता है कि मनुष्य या किसी बड़े प्राणीकी आँख जिस उपयुक्त आकार-प्रकारमें दीख पड़ती है, वह उसको देखने योग्य बनानेके प्रयोजनसे बनी हुई है, इस कल्पनाका निःसन्देह अब अन्त हो गया है; परंतु यह स्मरण रखना होगा कि सृष्टि-प्रयोजनवादका कुछ और विस्तृत क्षेत्र है, जहाँ विकासवादकी पहुँच नहीं है, तथापि वह वस्तुतः विकासवादके मौलिक सिद्धान्तोंके आधारपर अवलम्बित है। प्रकृतिके विषयमें सृष्टिप्रयोजनवाद और यन्त्रविद्यासम्बन्धी विचार अवश्य ही परस्परविरोधी नहीं हैं। इसके विपरीत, यन्त्रविद्या (Mechanism) का अनुगामी जितना ही अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक विचारता है, उतना ही दृढ़तापूर्वक वह प्रारम्भिक परमाणुओंके गठनको स्वीकार करता है, जिसके जगत्के सारे दृश्य परिणाम हैं; और उतना ही अधिक वह सृष्टि-प्रयोजनवादकी कृपाका पात्र बन जाता है; क्योंकि वह इसके सामने यह सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं होता है कि इन प्रारम्भिक परमाणुओंके संगठनका प्रयोजन जागतिक दृश्योंको विकसित करना नहीं है।'

इस विषयमें हमारा तीसरा दृष्टिकोण सदाचारसे सम्बन्ध रखता है। हम सभी जानते हैं कि वस्तुतः सत्य और असत्यकी भावनाने हमारे भीतर दृढ़ संस्कार जमा लिया है, मानो हमलोगोंके हृदयमें कोई चुपकेसे कहता है कि 'यह सत्य है, इसे ग्रहण करो और वह असत्य है, उससे दूर रहो।' सत्यको ग्रहण करना और असत्यसे बचना हमारा कर्तव्य है और इसमें सदा उत्तरदायित्वका भाव भरा रहता है। इन सदाचारकी भावनाओंका बुद्धिकी व्यवस्थासे मूलतः विरोध होता है; क्योंकि कर्ताके लिये सत्य स्वयमेव स्वीकृत और असत्य स्वयं ही निन्दनीय होता है। इन सदाचारसम्बन्धी भावोंके लिये हमें, बाहरसे नहीं, बल्कि अन्तःकरणसे ध्यानके द्वारा सामग्री मिलती है। हमारे सदाचारका सम्बन्ध सीधे आत्मासे होता है। हृदयको शुद्ध रखने और सत्पथपर अग्रसर होनेके लिये जो हमारे भीतर नित्य आदेश होता रहता है, वह हमें परम नियन्ताकी ओर ही ले जाता है। हमें पूर्ण शुद्ध और पापसे नितान्त रहित—'शुद्धमपापविद्धम्'—होना चाहिये। वह अपनी प्रकृतिपूर्ण सत्यशीलतासे अलग नहीं हो सकता। यहाँ इस बातके खोजनेकी आवश्यकता नहीं है कि किन कारणोंसे और किस प्रकार हमारा सदाचार विकसित और प्रफुल्लित होकर इस पूर्णताको प्राप्त हुआ है। सच तो यह है कि हम अपने भीतर जिस सदाचारको देखते हैं, उसका संस्कार हमारे द्वारा नहीं, बल्कि अवश्य ही उसके द्वारा होता है, जिसका हमारे ऊपर पूर्ण नियन्त्रण है। अपने समयके सुप्रसिद्ध विकासवादी आल्फ्रेड रसल वाल्स (Alfred Russel

Wallace) ने अपनी 'Natural Selection' नामक पुस्तकमें लिखा है कि—

wallace 'Although the practice of benevolence, honesty or truth, may have been usefull to the tribe possessing those virtues, that does not at all account for the peculiar sanctity, attached to actions which each tribe considers right and moral, as contrasted with the very different feelings with which they regard what is merely useful,' (Page 352)

'When the human spirit bows down in reverence before One who is infinite righteousness and truth, it surely is not to the idealized opinion of society that the worship is offered.'

'उदारता, ईमानदारी और सत्यताके गुण जिन जातियोंमें हैं, इनका अभ्यास उनके लिये लाभदायक हो सकता है; परंतु इनसे उस पवित्रताविशेषसे कोई मतलब नहीं है, जो उन कर्मोंपर निर्भर करती है, जिसे प्रत्येक जाति सत्य और सदाचारके रूपमें ग्रहण करती है, क्योंकि ये गुण अपने विपरीत भावोंके विरोधमें ही उपयोगी समझे जाते हैं।

'जब मनुष्यकी आत्मा उसके सामने श्रद्धासे प्रणिपात करती है, जो निखिल धर्म और सत्यस्वरूप है, तब यह कहना असंगत है कि समाजमें आदर्शवादके कारण ही ईश्वरकी आराधना प्रचलित है।'

हमारे समस्त कर्मोंके ऊपर हमारा सदाचार ही सत्यतापूर्वक शासन करता है, हमारी विभिन्न कामनाओं, वासनाओं और शक्तियों-

में वही न्यायपूर्ण शासनकर्ताके रूपमें है। प्रारम्भिक आन्तरिक विश्वासके रूपमें यह ईश्वरके अस्तित्वका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सारांश यह है कि मनुष्यमें सदाचार ईश्वरीय व्यवस्थाके एक मुख्य अंशके रूपमें अवस्थित है और अन्तःकरणकी ध्वनि, उत्तर-दायित्व और पश्चात्तापमें, सत्य और असत्यके बीच नित्य विभिन्नता-को प्रदर्शित करते हुए अपनेको अभिव्यक्त करता है, और इस प्रकार हमें परम नियन्ताके रूपमें ईश्वरमें विश्वास करनेके लिये प्रेरित करता है, जिसके प्रति हम उत्तरदायी हैं, जो प्रारम्भिक आन्तरिक विश्वासोंमेंसे ही एक विश्वास है।

अन्तमें एक आस्तिकके लिये ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करनेका सुदृढ़ आधार उसकी आध्यात्मिक चेतना है। वस्तुतः हम जानते हैं कि हमारे अंदर एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम आध्यात्मिक चेतना या श्रद्धा कहते हैं, जो हमारे सदाचार या कार्य-कारण-सम्बन्धी भावों या प्रयोजनके लिये प्रयोजककी आवश्यकतासे बिल्कुल ही भिन्न है, यद्यपि ये सब श्रद्धाके पूर्ण विकासमें बहुत ही सहायक होते हैं। इसी आध्यात्मिक चेतनाके कारण हम इस जगत्की किसी भी वस्तु, किसी भी ज्ञान या किसी भी प्रेरणासे संतुष्ट नहीं होते, बल्कि अपने परम प्रभुको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं, जो सबका आश्रय है और जो अनन्त और पूर्ण है। यह चेनना या श्रद्धा ही हमारी सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। यह हमें निश्चय करा देती है कि हम सब उसकी संतान हैं, जो निष्पाप है, शुद्धस्वरूप है, सर्वज्ञ और पूर्ण मुक्त है। हमारे भीतर इसी चेतनाके कारण हमारी

आत्मामें ईश्वरकी शुद्ध मूर्ति प्रतिबिम्बित होती है। यही चेतना निश्चयपूर्वक बतलाती है कि हम केवल इस लोकके ही नहीं हैं; और लोक-लोकान्तरमें भ्रमण करते हुए जितना ही हम ज्ञान और आध्यात्मिकतामें आगे बढ़ते हैं, उतना ही हमें भगवान्‌के ऐश्वर्यका गुणगान करनेकी अधिकाधिक शक्ति और सौभाग्य प्राप्त होता है। जब हम अनुभव करते हैं कि हम उसकी संतान हैं, तब कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हम साथ ही उसे पिताके रूपमें अनुभव करने लगते हैं। तभी हम उसे पितृरूपमें, अपनी करुणामयी माके रूपमें, अपने प्रिय सखाके रूपमें पुकारते हैं। तभी हम असीम प्रेमके नित्य स्रोतके रूपमें अनुभव करते हैं। मनुष्यकी आत्माकी यह अवस्था इसकी उच्चतम अवस्था है। आध्यात्मिक धर्मका विस्तृत आधार यही अवस्था है। यह अवस्था क्षणिक परिवर्तनशील नहीं है, बल्कि स्थिर और नित्य है। इसी अवस्थाको प्राप्त होनेपर कहा जा सकता है कि आत्मा अपने सर्वोच्च लक्ष्यको पहुँच गया है। तभी मनुष्यके आत्माकी परमात्माके साथ आध्यामिक एकता पूर्णतः स्थापित हो जाती है। वस्तुतः हमारी आध्यात्मिक चेतना संकुचित—सीमित क्षेत्रमें संतुष्ट नहीं हो सकती; बल्कि वह असीम ईश्वरके चरणोंमें ही आश्रय पानेकी कामना करती है। इस चेतनाके द्वारा हम उसे कल्याण-स्वरूपमें अनुभव करते हैं और अपने सामने पद-पदपर जब हम उसे सभी कल्याणप्रद अवस्थाओंमें अभिव्यक्त देखते हैं, तब हमारा सिर श्रद्धासे अवनत हो जाता है। उसकी कृपा ही मनुष्यको उन्नति-पथमें अग्रसर करती है और उसे दिव्यभावसे भरपूर कर देती है। दयामय ईश्वरने ही हमारे भीतर यह दृढ़ संस्कार जमा दिया

है कि अन्तमें धर्मकी ही विजय होती है तथा संतोंके प्रति विना ननु-नच किये हमें श्रद्धा रखनी चाहिये। कोई केवल विश्लेषणके द्वारा इसका खण्डन नहीं कर सकता; क्योंकि यह ध्रुव सत्य है कि शतशः और सहस्रशः संतों और महात्माओंने आध्यात्मिक चेतनाके अस्तित्वकी साक्षी दी है और दे रहे हैं। इसीके द्वारा आस्तिकको जब वह लौकिक दुःख और शोकसे अत्यन्त पीडित होता है, तब भी ईश्वरमें पूर्ण शान्तिका स्थान प्राप्त होता है और वह ईश्वरको इस जगत्की अखिल सम्पत्तिकी अपेक्षा, अपने स्त्री, पुत्र तथा सबसे प्रिय वस्तुकी अपेक्षा भी अधिक प्रिय समझता है। उसके लिये समस्त सुख और आनन्दका स्रोत वही अनन्त और असीम तत्त्व है, न कि जगत्की सान्त वस्तुएँ।

हमारे सान्त आन्तरिक विश्वासका अन्तिम आश्रय वह अनन्त पुरुष अर्थात् ईश्वर है। उसीका अटल विधान, जो सतत परिवर्तित दृश्योंके साथ इस जगत्की सृष्टि करता है, सब प्रकारके कल्याण और उन्नतिके लक्ष्यकी ओर विकसित और अग्रसर होता है।

अब सारे संसारको विना किसी हिचकिचाहटके मेरे साथ यह घोषित कर देना चाहिये कि हमारी इच्छा, हमारा ज्ञान, हमारा सदाचार और आध्यात्मिक चेतना सभी उस स्वयंप्रकाश परब्रह्मकी प्रत्यक्ष साक्षी देते हैं, जिसके श्वाससे इस जगत्का अस्तित्व है।

प्रश्न ४—क्या आप अपने जीवनकी किसी ऐसी घटनाका वर्णन करेंगे, जिससे ईश्वरकी दया और उसके अस्तित्वमें हमारा विश्वास दृढ़ हो?

उत्तर—निःसन्देह ऐसी अनेकों घटनाओंका वर्णन किया जा सकता है। वस्तुतः अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमें जब कभी मैंने प्राणपणसे उसको पुकारा, तभी उसने उस पुकारको सुना। पद-पदपर उसके पितृवत् आशीर्वाद और मातृ-वात्सल्य और प्रेमका अनुभव कर, यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि इस प्रकारके प्रत्येक अनुभवोंका वर्णन किया जाय। उसने जो असीम कृपा मेरे ऊपर की है, उसे दिखलानेके लिये अपने जीवनकी किसी घटनाका वर्णन करनेको जब कोई कहता है, तब मेरी आँखोंसे आनन्दकी अश्रुधारा बहने लगती है। चाहे जिस घटनाका हम वर्णन करें, बाहरके लोग उसकी सचाईमें विश्वास नहीं करेंगे, बल्कि इसे मेरा भ्रम या कम-से-कम मेरी निरी कल्पना मानेंगे। इसके अतिरिक्त जो घटना मेरे लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, वह औरोंके लिये बिल्कुल ही तुच्छ जान पड़ेगी। ईश्वरकी कृपाका जिन्होंने अनुभव किया है, ऐसी घटनाएँ उनके लिये पवित्रतासे आवृत होती हैं और इन घटनाओंको वे संशयवादके उच्छ्वाससे कलुषित नहीं करना चाहते। इसलिये क्षमा-याचना करते हुए मैं अपने जीवनकी इस प्रकारकी घटनाका वर्णन करनेसे वञ्चित रहना चाहता हूँ। मैं इतना और भी कह देना चाहता हूँ कि ईश्वरकी कृपाको प्रमाणित करनेके लिये ऐसी घटनाएँ न हुई होतीं तो मैं ईश्वरको पूज्य पिता, दयालु माता और मित्रोंके भी मित्रके रूपमें अनुभव नहीं कर सकता, जैसा कि ईश्वरकी कृपासे मैं कुछ भी अनुभव करनेमें समर्थ हुआ हूँ।

श्रीएड्वीन ग्रीव्स

१–ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

उत्तर–(अ) बौद्धिक दृष्टिसे—

इसलिये कि इस विश्वमें जो व्यवस्था देखनेमें आती है, उससे यह मानना पड़ता है कि इस सृष्टिका निर्माण और उसकी व्यवस्थाका संरक्षण करनेवाली कोई बुद्धि है और बुद्धिके होनेका यह मतलब है कि उस बुद्धिका प्रयोग करनेवाला भी कोई है। हम किसी ऐसी बुद्धिका होना माननेमें असमर्थ हैं, जो किसी बुद्धिमान् नियन्ताके बिना स्वयं ही गतिशील हो।

(आ) नैतिक और धार्मिक दृष्टिसे—

इसलिये कि हमारी प्रकृतिकी सहजवृत्तिमें ऐसा निश्चय है कि कोई ऐसी शक्ति विद्यमान है, जो इस सम्पूर्ण जगत्का नियन्त्रण करती

है और वह हमारे साथ तथा हम उसके साथ सम्बद्ध हैं। इस शक्तिके सम्बन्धमें जो भावनाएँ की जा सकती हैं, उनमें ईश्वर-भावना सबसे श्रेष्ठ है।

२—ईश्वरको न माननेसे कौन-कौन-सी हानि है ?

इससे जगत्में किये जानेवाले कर्ममें कोई उद्देश्यमूलक उत्साह नहीं रह जाता, न उस उद्देश्यकी पूर्तिकी कोई आशा रह जाती है। इससे जीवन शून्य-सा हो जाता है, अभिलाषाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, हम लोगोंके प्रियतम सम्बन्ध निराधार हो जाते हैं और जीवन एक मायिक दृश्यमात्र रह जाता है, जिसका कोई आनन्ददायक फल नहीं।

३—ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं ?

ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित करनेमें आध्यात्मिक या तार्किक युक्तियोंका विशेष महत्त्व नहीं है। स्काटलैंडवासी एक लेखकने अपनी पुस्तकमें ईश्वरकी सत्ताको ऐसी-ऐसी युक्तियोंसे सिद्ध किया है कि उन्हें कोई काट नहीं सकता, बरबस उसे युक्तियोंके सामने ईश्वरको मानना ही पड़ेगा; परंतु इस पुस्तकको पढ़कर मुझे तो ऐसा लगा कि आस्तिकको संशयात्मा बनानेका भी यही रास्ता है।

मेरे ध्यानमें एकमात्र युक्ति यही है कि हमारा आत्मा जब भगवान्का सङ्ग चाहता है और भगवान्से सहायता, पथनिर्देश और बल प्राप्त करने चलता है, तब भगवान् उसे मिलते हैं और उसकी इच्छा पूर्ण करते हैं। आपत्कालमें जिन भगवान्की ओर मुड़ सकते और इस विश्वाससे निश्चिन्त हो सकते हैं कि वे हमारी सब

आवश्यकताओंको पूर्ण करेंगे, उन भगवान्‌के प्रति हमारे हृदय और मन-बुद्धिमें जो लालसा है, उस लालसाको पूर्ण करनेवाली जो दया है, वही भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान् हमारी केवल भौतिक आवश्यकताओंको ही पूर्ण नहीं करते, प्रत्युत यह आश्वासन देकर निश्चिन्त कर देते हैं कि अभी हमें उनकी जिस कृपाकी आवश्यकता है, वह कृपा वे हमारे ऊपर करेंगे और भविष्यमें हमारी सब उलझनोंको सुलझाकर सब रहस्योंको खोल देंगे। वे भगवान् ईसा-रूपमें जो हमारे इतने समीप आ गये और मानुषी तनुकी बद्धता स्वीकार कर हमलोगोंकी मुक्तिके लिये जो आत्मबलिदान कर गये और मृत्युके पश्चात् फिर उठकर जो स्वर्गको सिधारे, यही बात हमें उनके प्रेमका पूर्ण आश्वासन दिलाती है। वे प्रत्येक आपत्कालमें हमारी सहायता करनेको तैयार रहते हैं, इस विश्वास और इसकी प्रत्यक्ष अनुभूतिमें बड़ा आनन्द है; फिर मृत्युके पश्चात् उनके चिरन्तन सख्यका आनन्द हमलोगोंको अवश्य ही प्राप्त होनेवाला है।

४—क्या आप अपने जीवनकी ऐसी कोई घटना वर्णन कर सकते हैं कि जिससे ईश्वरके अस्तित्व और उसकी दयामें हमारा विश्वास बढ़े?

आजसे करीब इकसठ वर्ष पहले मुझे इस बातका अनुभव हुआ कि ईश्वरका सजीव विश्वास और भरोसा होनेसे जीवनमें कितना बड़ा अन्तर हो जाता है। उसके पूर्वमें नास्तिक तो नहीं था, पर उस समय यह मानना कि ईश्वर है और वह सारे जगत्‌के और सब मनुष्योंके प्रपञ्चोंका शासक है, एक परम्परासे

सुनी हुई शिष्टसम्मत बातको ही केवल मान लेना था। बहुत कालतक मैं इस आवश्यकताका अनुभव करता रहा कि मुझे उसका सामीप्य और सम्पर्क प्राप्त होना चाहिये; पर इसके लिये मैंने उतना प्रयत्न नहीं किया। बहुत-सी बातें ऐसी थीं, जो मैं करता था, पर मन यह कहता था कि तुम्हें नहीं करनी चाहिये और उन बातोंको नहीं करता था जो मन कहता था कि तुम्हें करनी चाहिये। मेरी उन्नीस-बीस वर्षकी अवस्थातक यह क्रम जारी रहा, तब धीरे-धीरे मेरा अद्भुत परिवर्तन होने लगा। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्रभु ईसा मेरे बहुत निकट हैं, बल्कि यह कहिये कि मैं उनके निकट हूँ। मुझे अब बुराइयोंसे बचने और भलाईका रास्ता पकड़नेमें उनकी सहायता अनुभूत होने लगी। तबसे अबतक प्रभु ईसाके रूपमें मिलनेवाला भगवान्‌का वह सङ्ग कभी भङ्ग नहीं हुआ। अपने उच्चतम विचारके अनुसार बर्तनेमें मैंने प्रायः गलतियाँ की हैं और अनेक बार निराश भी हुआ हूँ; पर मेरा भरोसा भगवान्‌पर ही सदा रहा है और अब मेरी अवस्था करीब एकासी वर्षकी हो गयी है। मुझे भगवान्‌की वह दया प्राप्त है, जिससे मैं सब कठिनाइयों और जीवनकी सब समस्याओं और जटिलताओंका सामना कर सकता हूँ; उन्हें हल तो नहीं कर सकता, पर उस दयाके बलसे यह विश्वास बनाये रह सकता हूँ कि भगवान् सबके ऊपर हैं और अन्तमें उन्हींकी विजय होगी। यह पूर्ण विश्वास है कि जीवनमें और मृत्युमें जो कुछ होगा, कल्याण ही होगा।

रेवरेंड आर्थर ई० मैसी

प्रश्न १—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

उत्तर—इसलिये मानना चाहिये कि ईश्वरके सिवा और कोई है नहीं, 'उसीमें हम जीते हैं, उसीमें चलते-फिरते हैं और उसीमें रहते हैं ।'

प्रश्न २—ईश्वरको न माननेमें क्या हानि है ?

उत्तर—हानि यही अहंकाररूप बन्धन है, जिसके फलस्वरूप यह आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखभोग है ।

प्रश्न ३—ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रमाण हैं ?

उत्तर—ईश्वरके होनेमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है । यह जो कुछ है, सब ईश्वरका प्राकट्य है । 'वह तो मूर्ख है, जो अपने हृदयमें कहता है कि ईश्वर कोई है नहीं ।'

प्रश्न ४—अपने जीवनकी कोई ऐसी सच्ची घटनाएँ लिखिये, जिनसे ईश्वरकी सत्ता और दयामें आपका विश्वास बहुत बढ़ा हो ?

उत्तर—मेरे समस्त जीवनका अनुभव यही बतलाता है कि भगवान् हैं और प्रेमस्वरूप हैं । किसी विशेष घटनाको ही विशेष मानना मेरे लिये असम्भव है । मुझे तो प्रतिदिन ही भगवान् पथप्रदर्शक और रक्षकरूपसे अनुभूत होते हैं ।

डा० श्रीमहम्मद हाफ़िज सय्यद एम्० ए०

१—क्योंकि ईश्वरमें विश्वास करना अक्षय शान्ति और सुखका ध्रुव मार्ग है। जिन लोगोंको इस बातका ज्ञान है कि शरीर मन और बुद्धि ही नहीं है, बल्कि इनकी अपेक्षा कोई एक महान् वस्तु है, उन्हें अनुभव होने लगता है कि उनके पास मन और बुद्धिकी अपेक्षा कोई अधिक स्थायी वस्तु है, जो उनके अंदर निवास करती है। यह आत्मा है, जो विकार, क्षय अथवा मृत्युको नहीं प्राप्त होता। यह सदा सम रहता है। इस आत्माके ज्ञान तथा अनुभवसे मनुष्य कालान्तरमें भगवत्प्राप्ति करता है। जब भगवत्प्राप्ति हो जाती है, तब मनुष्य शान्ति, विभूति और आनन्द—सब कुछ पा जाता है—जो मानवी प्रयत्नका प्रधान लक्ष्य है। हम इन्द्रियोंके विषयरूपी जंगलमें इसीलिये भटकते रहते हैं, क्षणिक और तुच्छ वस्तुओंके पीछे दौड़ते रहते हैं कि कहीं क्षणभरके लिये भी हमें सुख

मिल जाय; परंतु जब हमको उनसे संतोष नहीं होता, तब हम उनकी अपेक्षा अधिक स्थायी वस्तुकी खोज करते हैं। तब हमारा ध्यान अन्तर्मुख होता है और हम देखते हैं कि हमारे अन्वेषणका विषय हमारा अपना ही आत्मा है। आत्माका वास्तविक स्वभाव आनन्द है। इसलिये जो मनुष्य अपने आत्मामें ही रममाण रहना सीखते हैं, वे स्वभावतः महान् आनन्दको प्राप्त करते हैं। हमारा ही आत्मा सबका आत्मा है। आत्मा एक ही है, जो समानरूपसे सबके हृदयमें निवास करता है। यही आत्माओंका आत्मा और प्राणोंका प्राण है। यही जीवन है और आभ्यन्तरिक प्रकाश है। इस एक आत्माको जानना ही सबको, ब्रह्मको, परमात्माको जानना है। आत्मा जीवात्माके रूपमें तबतक कदापि यथार्थ शान्ति और सुखका अनुभव नहीं कर सकता, जबतक उसे परमात्माका प्रत्यक्ष नहीं होता। जब मनुष्य अपने दैनिक जीवनमें अपनी वास्तविक सत्ता अर्थात् आत्माका अनुभव करता है, तभी उसे परमात्माका प्रत्यक्ष ज्ञान, विश्वास और निष्ठा होती है।

२—इस प्रश्नका उत्तर भी पहले प्रश्नके उत्तरमें ही आभासित हो चुका है। ऊँचे दृष्टिकोणसे ईश्वरमें विश्वास नहीं करनेसे ईश्वरका कुछ नहीं बिगड़ता, बल्कि उस मनुष्यकी ही हानि होती है। जो विश्वास न रखनेके कारण अपनी सत्ताके शाश्वत स्रोतके साथ सम्बन्ध रखने तथा उसके ज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेवाली शक्ति, शान्ति और आनन्दसे वञ्चित रह जाता है। निम्न तथा विकासके दृष्टिकोणसे कोई हानि

नहीं है, मनुष्यके विश्वास या अविश्वासके द्वारा ईश्वरकी वास्तविकता अथवा शाश्वत सत्ताका ह्रास या विकास नहीं होता ।

ईश्वरकी सत्ताका चाहे कितना ही खण्डन अथवा निषेध किया जाय, इससे उसमें किञ्चित् भी कमी नहीं आ सकती । वह सदा ही विद्यमान रहता है । आज जो ईश्वरमें विश्वास नहीं करते, वे कल या दूसरे जीवनमें अपना मत बदल सकते हैं । समय आनेपर सबको विकसित, प्रसरित और उन्नत होना पड़ेगा । मनुष्य जैसे ही विकसित होता जाता है, वैसे ही क्रमानुसार ईश्वरकी सत्तामें उसका विश्वास भी बढ़ता जाता है ।

३—कोई नहीं; क्योंकि ईश्वरके अस्तित्वके समर्थनमें जो हेतु या प्रमाण सामान्यतः उपस्थित किये जाते हैं, वे संतोषप्रद नहीं होते । कार्य-कारण-भाव, कर्तृत्व, नियामकता तथा पाप-पुण्य-सम्बन्धी हेतु ईश्वरमें निष्ठा लानेके लिये पर्याप्त नहीं होते । इनपर गम्भीर आक्षेप हो सकते हैं । उनका यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जा सकता । एकमात्र और अत्यन्त निश्चित प्रमाणका आविर्भाव मनुष्यके मनमें तब होता है, जब वह उस आत्मानुभवके मार्गपर चलने लगता है, जिसका उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियोंमें किया जा चुका है ।

४—ईश्वरकी दयासे सम्बन्ध रखनेवाली अपने जीवनकी किसी घटनाका वर्णन मैं नहीं करना चाहता, इस प्रकारकी घटनाएँ मेरे लिये सदासे प्रचुर परिमाणमें होती आयी हैं ।

दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री

दूसरोंकी ईश्वरविषयक आवश्यकतासे मुझे उतना प्रयोजन नहीं है जितना कि अपनी ही ईश्वरसम्बन्धिनी लालसासे है। फिर भी मैं इस बातको अच्छी तरह समझता हूँ कि हमारे आस-पासका श्रद्धामय वायुमण्डल हमारे अपने विश्वासको दृढ़ बनानेका बड़ा ही अमोघ साधन है। इसीलिये मैं यह चाहता हूँ और इसके लिये प्रयत्न करता हूँ कि इस आनन्दका सर्वसाधारणमें प्रसार हो। इस जडवाद और भोगवादके युगमें व्याप्त नास्तिकता (ईश्वरमें अविश्वास) का नाश करनेमें मैं जितना ही समर्थ होता हूँ उतना ही मैं यह समझता हूँ कि मेरा विश्वास अधिक दृढ़ और उन्नत हुआ।

सभी कालों और देशोंके मनुष्योंने परमात्मसत्ताको प्रायः माना है। ऋषियों और साधु-महात्माओंने ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सर्वत्र उसकी सत्ताका साक्षात् किया है। मानवबुद्धिका यथासाध्य प्रयोग करनेवाले दार्शनिकों, तार्किकों और वेदान्तियोंने उसका अस्तित्व प्रमाणित किया है। योगियोंने उस अन्तर्ज्योतिका अनुभव किया है, जिसके प्रकाशमें प्रियतमका अजर सौन्दर्य प्रकट होता है। कवियोंने उस सौन्दर्यको ललित छन्दों और सुन्दर गद्योंमें वर्णन किया है। अज्ञेयवाद और नास्तिकवादके तुच्छ वितंडावादोंकी अपेक्षा इन घटनाओंका प्रमाण कहीं अधिक बलवत्तर है; परंतु इन सब बातोंके अतिरिक्त हमारी अन्तस्तम सत्ताके अन्तस्तल भागकी जो पुकार है

उससे बढ़कर ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण और क्या हो सकता है ? हमारी बुद्धि यह बतलाती है कि इस विश्वको चलानेवाले नियम (ऋत) का कोई नियामक अवश्य है; कोई ऐसा चेतन समष्टि मन है, जो मनुष्योंके पापों और पुण्योंके गोरखधंधेको जानता है और जो कर्मोंके फलाफलको समयपर जिस-तिसको प्रदान करता है। प्रकृति जड है और मनुष्य स्वार्थी है, अतः इन दोनोंसे परे कोई प्रभु है, जो न जड है न स्वार्थी, प्रत्युत जो अनन्तशक्ति, ज्ञान और प्रेमस्वरूप है। हमारा हृदय हमें, इतने जोरके साथ कि, जिसके सामने तर्कशास्त्रकी किसी युक्तिका जोर नहीं चलता और इतनी तेजीके साथ कि हमारा मन्द गति संशयग्रस्त विवेक पीछे ही छूट जाता है और इतना प्रत्यक्ष करके कि गणितकी विकट गणनाएँ और रास्तेमें ही चक्कर काटनेवाली बुद्धिकी चालें जहाँ-की-तहाँ ही रह जाती हैं, यह बतलाता है कि तुम्हारे अंदर प्रेम कभी चमक ही न सकता, यदि तुम्हारा कोई प्रियतम न होता और वह तुम्हें पुकारता न होता। इस प्रेमभावके उत्पन्न होनेपर कवि टेनिसनने अपनी एक कवितामें यह पूछा है कि 'यह दूसरा प्रभाव किसने उत्पन्न किया, अन्तःसाक्ष्यकी यह गरमी कहाँसे आयी, जिसके कारण इन्द्रियोंकी साक्षीपर विश्वास नहीं रह गया ?' *

प्रत्येक व्यक्तिके अंदर एक सहज ज्ञानस्फूर्तिकी शक्ति हुआ करती है, जो अकस्मात् दामिनीके दमकनेकी तरह हमारे हृदयाकाशको प्रकाशित करती और भगवान्के मुखमण्डलका सौन्दर्य और उनकी

---

* Who forged that other influence,
The heat of inward evidence
By which he doubts against the Sense ?
—Tennyson's Two Voices

प्रेममधुर मुसक्यानकी मोहिनी छवि दिखा जाती है। निज बोधकी गूढ़तम बातोंके लिये प्रमाणकी क्या आवश्यकता? इनके लिये प्रमाण हो भी क्या सकता है? चीनीकी मिठास जिह्वाको ही मालूम होती है, क्या इसका कारण बतानेके लिये भी किसी वैज्ञानिककी आवश्यकता होती है? और क्या वैज्ञानिक यह बता सकता है? वह एक विद्वान्‌के ढंगसे यह कह सकता है कि चीनीमें मिठासका एक तत्त्व है और कहीं किसी स्नायुके अग्रभागपर उस मिठासको ग्रहण करनेकी शक्ति है, पर यह केवल शुष्क पाण्डित्य और अहंमन्य अज्ञानमात्र है। जिस व्यक्तिको ईश्वरकी सत्तापर विश्वास नहीं, वही संसारमें सबसे बड़ा अभागा मनुष्य है; क्योंकि जीवनका जो वास्तविक हेतु, उपयोग और महत्त्व है, उसीको उसने खो दिया है। पशुमें बुद्धि या सहज ज्ञान-स्फूर्ति नहीं होती, इसलिये वह ईश्वरको नहीं जान सकता; परंतु इन बुद्धि और सहज ज्ञान-स्फूर्तिके होते हुए भी जो मनुष्य पशुवत् ही रहता है, वह अपनी इतनी बड़ी हानि करता है कि जिसका कोई हिसाब नहीं। श्रुतिका यह वचन है—

> इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
>
> न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
>
> भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
>
> प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

अर्थात् 'यदि इस जन्ममें ब्रह्मको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें न जाना तब तो बड़ी भारी हानि है।

बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियोंमें उपलब्ध करके इस लोकसे जाकर अमर हो जाते हैं।'

मैं इस सिद्धान्तको माननेवाला नहीं हूँ कि ईश्वरपर अविश्वास करनेवाला सदाके लिये नरकमें जो गिरता है। करुणामय अन्तर्यामी ईश्वर, जो अज्ञेयवादी और नास्तिकके हृदयमें भी विद्यमान है, कभी ऐसा चिरवियोग अपने और जीवके बीचमें नहीं होने देगा। इस दयामय अहेरेकी दृष्टिसे कोई सदाके लिये बच नहीं सकता। वह उसे पकड़ ही लेगा।

विज्ञानने जब विश्वकी अत्यद्भुत प्रकाण्डताका निदर्शन किया, तब सचमुच ही धर्मकी बड़ी सेवा की। विज्ञानने यह दिखला दिया कि विश्व परमाणुओंसे बना है, प्रत्येक परमाणु धनात्मक (Positive) और ऋणात्मक (Negative) विद्युच्छक्तिका एकाङ्क है और यह एक-एक सौरमण्डलके समान है, जिसमें अतिसूक्ष्म विद्युत्परमाणु (Electrons) अपने अत्यन्त सूक्ष्म अन्तरङ्ग परमाणुओं (Protons) के चारों ओर आत्यन्तिक वेगके साथ घूम रहे हैं। इस प्रकार यह जड-जगत् गतिमय है और यह गति विद्युद्विकिरण (Radiation) है। बस, विज्ञानकी गति यहाँतक पहुँचकर रुक जाती है और विज्ञान यह नहीं बता सकता कि यह विद्युद्विकिरण क्या है। गतिको यह गतिमत्ता कहाँसे आयी? और विश्वमें जो यह पराकाष्ठाकी नियमबद्धता देखनेमें आती है सो कहाँसे उत्पन्न हुई? विश्वके सब अंशोंका यह पूर्ण अन्योन्याश्रय कैसे साधित हुआ? सर्वत्र सौन्दर्यका यह आश्चर्यजनक परिदर्शन कैसे हो रहा है? और इससे भी अधिक आश्चर्य-

जनक यह जीवनमें कैसे सुघटित हुआ है ? विज्ञान इन प्रश्नोंके आगे मौन है। मैथुनी और अमैथुनी सृष्टिकी वातें विज्ञान 'बड़े लंबे-चौड़े पाण्डित्य और आकाशमें गूँजनेवाले स्वरके साथ' वतलाता है, पर यह सब केवल वाचारम्भण है, और कुछ भी नहीं। इस विश्वका रहस्य उतना ही आश्चर्यजनक है, जितना कि इसका सौन्दर्य! जीवनसे भी अधिक रहस्यमय और आश्चर्यजनक मन है। यदि इस जड जगत्के भीतर मन न होता तो यह अपने आपको कैसे व्यक्त करता ? वाल्मीकि, व्यास और कालिदास या शेक्सपियर, मिल्टन और गेटे केवल विद्युच्छक्तिसे या केवल प्राणतत्त्वसे ही कैसे उत्पन्न हो पाते ? मनसे भी अधिक आश्चर्यजनक वस्तु है प्रेम। यह प्रेम कहाँसे उमड़ पड़ता है जो प्रेमास्पदको सुखी, सुरक्षित और निर्मुक्त करनेके लिये आत्मोत्सर्ग करनेमें दिव्य आनन्दका अनुभव करता है ? इससे भी अधिक आश्चर्यजनक किसी आदर्शके लिये प्रेमावेश है, हृदयका वह उछल पड़ना है, जो रत्नजटित राजमुकुटकी अपेक्षा काँटोंके ताजको अधिक कीमती समझता है और सबसे अधिक आश्चर्यजनक है—सनातन सौन्दर्य और प्रेमपर प्रेमयोगीका आत्मोत्सर्ग। यह संसार, इनकी दृष्टिमें, 'प्रेममय, प्रेमी और प्रेमास्पद' है। क्या इन सब बातोंसे यह स्पष्ट नहीं होता कि अनन्त-असीम ही इस सान्त ससीममें समाया हुआ है। यद्यपि हमलोग उसे तबतक देख नहीं सकते, सुन नहीं सकते, उसका समास्वादन कर नहीं सकते, जबतक इस जरा-मरणके आवरणमें बँधे हुए हैं। हमारे चारों ओर वायुमण्डलमें संगीत लहरा रहा है, इसे कुछ रेडियोने ही नहीं उत्पन्न किया है। हाँ, इसे सुनने-समझनेके लिये आवश्यकता है सूक्ष्म

चेतनताकी, पर यह चेतनता भी उसीकी कृपासे प्राप्त होती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

मेरा यह विश्वास है कि भगवान्, जो बुद्धि और वाणीके परे होकर भी विशुद्ध बुद्धि और वाणीमें आ जाते हैं, वैसे ही वे चक्षु और श्रोत्रके क्षेत्रमें और स्पर्शके क्षेत्रमें भी आ सकते हैं। वे सबमें सब कुछ हैं, इसलिये हम न केवल उनका चिन्तन और कथन ही कर सकते हैं, प्रत्युत उन्हें देख भी सकते हैं और उनकी वाणी सुन भी सकते हैं। उनके अनन्त रूप और अनन्त स्वर हैं। मनुष्यका यह मिथ्याभिमान है, जो वह उनके किसी एक ही रूप या वाणीको सर्वोत्तम कहता है। फिर भी यह बात सही है कि संसारके दिव्य अपौरुषेय ग्रन्थ ही उनकी वाणीकी पहचान हैं। यदि ऐसा न हो तो चाहे जो दम्भी और पाखण्डी आदमी अपने आपको पहुँचा हुआ बता सकता है और अन्धविश्वासके इस महापर्वतप्राय राशिको और भी बढ़ा सकता है। अपना कर्तव्य तो इतना ही है कि अपने शरीर, मन और इन्द्रियोंको शुद्ध करें; क्योंकि ये भगवन्मन्दिरके द्वार और प्राङ्गण हैं। फिर हृदयके गर्भमन्दिरमें भगवान्का प्रकट होना उनकी अपनी इच्छापर है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥
(कठोपनिषद्)

शुद्धिके साधनोंमें यज्ञ, दान और तप 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' उत्तम माने गये हैं। यह हो सकता है कि किसी-

किसी प्रकारके यज्ञोंका अब प्रचलन न हो, दानके कुछ प्रकार भी पूर्व-कालके अब न रहे हों और कोई-कोई तप भी अब व्यवहारमें न हों, जैसे पञ्चाग्निविद्या, उपकोसल-विद्यादि उपासना और ध्यानके प्रकार अब केवल व्याख्यान देने मात्रके विषय रह गये हैं। व्यवहारमें उनकी कोई सत्ता नहीं। हठयोगके उग्र प्रकार भी अब कहीं देखनेमें नहीं आते और सिद्धियोंकी बातें भी बहुत कम सुननेमें आती हैं। बड़े मजेसे किसीने यह बात कही है कि अब संसारमें तपोवन बहुत कम रह गये और जैसे-जैसे वन नष्ट हुए, वैसे-वैसे तप भी नष्ट हो गये।

परंतु पुराने ढंगके जो तप थे, वे नष्ट हुए हैं। अब हमें उन तपोंको करना चाहिये जो कभी नष्ट नहीं होते, जो सनातन हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक रूपसे जिनका गीताके १७ वें अध्यायमें वर्णन हुआ है। यज्ञोंमें अब हमें जपयज्ञ करना चाहिये, जिसके विषयमें भगवान् कहते हैं कि 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।'

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।

हमें अब भगवत्प्रार्थना करनी चाहिये—जीवनके ऐहिक सुखोंके लिये नहीं, बल्कि मनकी अचञ्चलता, प्रसन्नता और दृढ़ताके लिये तथा भगवान्की सर्वव्यापिनी करुणा और प्रेम पानेके लिये। भगवान्के नामका हमें निरन्तर जप करना चाहिये और भगवान्के लक्षणों और गुणों तथा उनके करुणामय लीलाकर्मोंका चिन्तन करना चाहिये। हमें अपौरुषेय ग्रन्थों और धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये और धारणा-ध्यान-समाधिका अभ्यास करना चाहिये—

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।

हर्बर्ट स्पेन्सरने ईश्वरको 'अज्ञेय' कहा। हालमें अल्फ्रेड नोयस नामक ग्रन्थकारने ईश्वरको 'अज्ञात' कहा है, परंतु ईश्वर न तो अज्ञेय है और न अज्ञात। वह हमारे अंदर है, हमारे चारों ओर है और हमारे ऊपर है; इसलिये हमलोग सिवा उसे जाननेके और कुछ नहीं कर सकते, पर हमारा यह जानना एक बार जानकर ही समाप्त नहीं होता, उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

'मनुष्य जो कुछ ढूँढ़ता है, उसे ढूँढ़ निकालनेकी कुञ्जी वह स्वयं ही है। वह ईश्वरके ईश्वरत्वसे बहिष्कृत नहीं, प्रत्युत स्वयं उसका एक अंश ही है।'

यह अंश स्वयं अंशी हो सकता है। ईश्वर व्यक्त है या अव्यक्त इस विषयमें जितने वाद हैं, वे मेरे विचारमें व्यर्थ हैं। ईश्वर आनन्द-स्वरूप है अर्थात् प्रेमस्वरूप है और प्रेमस्वरूप होनेसे सौन्दर्यस्वरूप है। आनन्द, प्रेम और सौन्दर्यमें कौन छोटा है और कौन बड़ा, या कौन पर है और कौन अपर, यह तो व्यर्थकी चर्चा है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

श्रीरामकृष्ण परमहंसने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपोंमें भगवान्‌को प्राप्त किया था, दोनों ही रूपोंमें उनकी प्रेमोपासना की थी और दोनों ही रूपोंमें वे भगवान्‌को बार-बार देखते थे। कोई भी मनुष्य चाहे तो अपने इस आपातक्षुद्र व्यक्तित्वको आनन्दसम्प्लवमें निमज्जित कर सकता है या इसको उत्कृष्ट बना सकता है।

'आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने।'

किसीके भी जीवनमें जो ऐसी घटनाएँ होती हैं, जिनसे ईश्वरकी सत्तापर विश्वास बढ़ता और गहरा तथा घना होता है, उन्हें वर्णन करना सचमुच ही बड़ा नाजुक काम है। किसीने बहुत ठीक कहा है कि 'ये शब्द प्रकृतिकी तरह ही अन्तःस्थित आत्माको कुछ तो प्रकट करते हैं और कुछ छिपाये रहते हैं।' दूसरी बात यह है कि जिन घटनाओंका जिसपर जो असर पड़ा हो, उन घटनाओंका दूसरोंपर भी वही असर पड़े, यह कोई जरूरी बात नहीं है फिर भी दो-एक बातें मैं ऐसी लिखूँगा जो आत्मोपलब्धिका भावगाम्भीर्य और सामीप्य उत्पन्न करनेमें कारण हुईं। एक दिन घोर वृष्टि होनेके बाद सूर्यदेव अपनी पूर्ण प्रभाके साथ निकल आये और पदार्थमात्रपर अपनी किरणदृष्टि डालने लगे। मेहसे धुले हुए फूल-पत्तोंपर पड़नेवाली सूर्यप्रभाकी द्युति बड़ी ही अद्भुत थी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो संसारके यावत् पदार्थ एक सुनहले प्रकाशकी एकतासे एक दूसरेके साथ जुड़े हुए हैं, कहीं कोई विभिन्नता है ही नहीं; बल्कि एक चमकती हुई एकता है जो कहीं ऊँची-नीची और कहीं सीधी-टेढ़ी रेखाओंसे लहराती हुई अनेकताकी इस लहरावदार पोशाकसे उस एकको आच्छादित कर रही है। सत्य आत्मा है, प्रेम उसका शरीर और सौन्दर्य उसका आच्छादन है। यह दृश्य देखकर मेरे अंदर एक ऐसा आनन्द उमड़ पड़ा कि मुझे अपना भान नहीं रहा।

एक दूसरे अवसरपर प्रातःकालमें मुझे ऐसा आभास हुआ कि मैं किसी पर्वतकी गुफामें जा रहा हूँ और वहाँ उस पर्वतपर चढ़नेवाले लोगोंकी बड़ी भीड़ लगी हुई है। मैं गुफाके अंदर गया और वहाँ यह

देखा कि एक उच्च आसनपर एक अति मनोहर सुन्दर बालक और उसके समीप ही उससे भी अधिक मनोहारिणी सुन्दरी बालिका विराजमान है। इन दोनोंकी उम्र पाँच-सात वर्षकी होगी। लोग तरह-तरहकी भेटें ले आये थे,उन्हें वे ग्रहण कर रहे थे। उनके मुखसे मैंने कोई शब्द तो नहीं सुना, पर उनकी मुसकान ही क्या गजब ढानेवाली थी।

अभी हालकी बात है, एक दिन सवेरे मैंने एक स्वप्न देखा। जिन मूर्तियोंको देखा, उनकी पहचानमें कोई गल्ती नहीं हो सकती। वे शिव और पार्वतीकी मूर्तियाँ थीं। इन्हींका जुलूस मैंने देखा। यह कहा जा सकता है कि यह जो कुछ देखा, वह उसीका स्मरणमात्र था जो कभी जागतेमें देखा हो। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी। अस्तु, उन दोनोंने मेरे गलेमें एक-एक हार डाला। मैं जागा, जागकर घरमें सबसे अपने स्वप्नका हाल कहा।

मुझे प्रायः एकबंद दाहिनी आँख दिखायी दिया करती है। इसकी धनुषाकृति काली भौंके नीचे हेमवर्णकी एक ऐसी प्रेममयी प्रभा देख पड़ती है कि वह मेरी आँखोंपर जादूका काम करके चित्तको बलात् अपनी ओर खींच ही लेती है। बार-बार मैंने यह प्रार्थना की कि यह दिव्य नेत्र खुले और अपनी दिव्यातिदिव्य द्युतिसे मुझे नहलावे, पर मेरी यह प्रार्थना अभीतक अनसुनी ही रह गयी। क्या इस जीवनमें यह प्रार्थना कभी सुनी जायगी? क्या यह स्वरूप पूर्णतया मुझे देखनेको मिलेगा? यह भगवान् ही जानें।

सर लल्लूभाई साँवलदास

१—जिन लोगोंने इस जगत्के कारण और प्रयोजनको समझनेके लिये गम्भीरतापूर्वक विचार किया है, उनको अर्वाचीन विज्ञानके द्वारा प्राप्त हुए परिणामों तथा अर्वाचीन और प्राचीन दार्शनिकोंके द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्तोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि विज्ञान और दर्शनकी अधिकार-सीमाके परे एक वस्तु है, जिसकी क्रियाशीलता ऐसे दृश्योंमें व्यक्त हो जाया करती है, जिनका रहस्योद्घाटन विज्ञानके द्वारा नहीं होता तथा जिनका निर्णय तथा-कथित वैज्ञानिक रीतिद्वारा नहीं किया जा सकता। उस शक्ति अथवा सत्ताके गुणोंका वर्णन वैदिककालीन ऋषियोंकी 'नेति-नेति'के द्वारा सम्यक्‌रूपसे होता है। उस शक्तिको परब्रह्म, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, पुरुष, भगवान् अथवा दैव जिस नामसे मनुष्य चाहते हैं, पुकारते हैं। जब विज्ञान जगत्के रहस्यके उद्घाटनमें असमर्थ होता है, तब प्रायः हम सबके भीतर इसके समाधानकी उत्कण्ठा होती है, जो हमें किसी दैवीशक्तिमें विश्वास करनेके लिये विवश करती है, जिसे हम ईश्वर कहते हैं। मैं समझता हूँ कि ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करनेमें यह सर्वश्रेष्ठ प्रबल प्रमाण है।

२—उच्च ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न होने तथा सनातनी देवी और देवताओंके विश्वासमें पाले-पोसे जानेके कारण पाश्चात्त्य लेखकों तथा धार्मिक हिंदू-सुधारकोंके खण्डन-मण्डनके सम्पर्कमें आनेपर मेरे हृदयको गहरी ठेस लगी। आगस्टस् कौम्ट, हर्बर्ट स्पेंसर और हक्सलेके ग्रन्थोंको पढ़कर मेरी श्रद्धा मूलतः लड़खड़ा गयी।

चार्ल्स ब्रैडला और श्रीमती एनी बेसेन्टके लेखोंने मेरी बीस बरसकी अवस्थामें ही मुझे संशयवादी Agnostic बना डाला। यद्यपि मैं खुले तौरपर ईश्वरको अस्वीकार करता था; परंतु बहुधा अपने विज्ञानके अधूरे ज्ञानपर मैं निराश हो जाया करता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे मुझे यह जान पड़ने लगा कि विज्ञान और अर्वाचीन दर्शन परम ज्ञानके द्वारको नहीं खोलते, वैसे-ही-वैसे मेरी निराशा बढ़ती गयी। इसी सन्दिग्ध मानसिक दशामें मेरे श्रद्धास्पद गुरु श्रीरामकृष्ण भाण्डारकरने मेरे हाथमें William James की 'Varieties of Religious Experience' नामक पुस्तक दी। यहाँसे मेरे धार्मिक जीवनमें परिवर्तन प्रारम्भ हुआ।

विज्ञान और दर्शनके परे कोई शक्ति है, इस विश्वासका बीज मेरी बड़ी लड़कीकी दुःसाध्य बीमारीके अवसरपर मेरी स्वर्गीय पत्नीकी ईश्वरीय भावनाके द्वारा पल्लवित हुआ। मेरी दूसरी लड़कीने जब अपनी दीर्घकालीन और दुःसाध्य बीमारीमें अत्यन्त शारीरिक पीड़ासे दुखित रहते हुए भी भक्ति और श्रद्धाके पदोंकी रचना की, तब उसके प्रभावसे मेरी ईश्वरास्तित्वकी श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गयी। इस प्रकार जिस अभूतपूर्व श्रद्धा से मैं सम्पन्न हुआ, वह न तो मेरे बचपनकी श्रद्धा थी और न हमारे सहस्रशः देशवासियोंकी श्रद्धा थी, परंतु मेरे प्रयोजनके लिये यह पर्याप्त थी। ईश्वरमें इस प्रकारकी आस्थाका पुनर्वार होना उस प्रभुकी महती दयाका एक चिह्न है। मैंने उसकी कृपा तथा रक्षाके अनेकों प्रसंगोंका अनुभव किया है, परंतु वे मेरे व्यक्तित्वसे इतना घनिष्ट सम्पर्क रखते हैं कि उनका उल्लेख न करना ही ठीक है।

ह० भ० प० लक्ष्मण रामचन्द्र पाङ्गारकर, बा० ए०

ईश्वर-विश्वास प्रकाश है और अविश्वास अन्धकार है; इसमें एक भावात्मक वस्तु है और दूसरी इसके विपरीत केवल अभावात्मक । मैंने अपने सारे जीवनमें प्रायः प्रकाशमें चलनेकी चेष्टा की है और इसीलिये अन्धकारपर विचार करना भी मेरे लिये अत्यन्त कठिन है । ईश्वरमें विश्वास ईश्वर-प्राप्तिकी पहली सीढ़ी है । यह वाणीका विषय नहीं, बल्कि रहस्यमय आनन्दका विषय है और इस विषयमें मैं अपनी असमर्थताका अनुभव करता हूँ । तथापि उस मराठी कविके अनुसार कि 'पक्षिगण विस्तृत आकाशमें अपनी शक्तिके अनुसार ही उड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी शक्तिके अनुसार (अनन्तशक्तिसम्पन्न) भगवान्का चिन्तन अथवा गुण-कीर्तन करते हैं' मेरे समान पामर जीव उस प्रयत्नमें लगनेका साहस करता है,

जिसमें तुलसीदास और तुकाराम-जैसे महान् संत असमर्थता प्रकट करते हैं। भगवत्-सङ्गीत या प्रार्थना आत्माका मङ्गल-सुर है, उससे गायक भक्त पवित्र और तल्लीन हो जाता है।

मेरे सामने चार प्रश्न रक्खे गये हैं—

इनमेंसे पहले तीन प्रश्न एक-से हैं और आस्तिकता अथवा नास्तिकतासे सम्बन्ध रखते हैं; चौथा प्रश्न वैयक्तिक है और अधिक उत्कृष्ट है। मेरे विचारसे तर्क, युक्ति अथवा हेतुओंसे नास्तिक पुरुष आस्तिक नहीं बनाये जा सकते और न तर्कद्वारा आस्तिक ही आस्तिकताकी ओर बढ़ता है। तर्कद्वारा हम प्रेम नहीं करते। हम विश्वास या प्रेम इसीलिये करते हैं कि वैसा किये बिना हम रह नहीं सकते। माता-पितामें हमारे प्रेमका कारण तर्क नहीं है। प्रेम सम्भवतः एक अन्तस्तत्त्व है, जिसको कुछ मनुष्य साथ लेकर जन्मते हैं और कुछ बिना साथ लिये। भक्त प्रह्लादके विषयमें कहा जाता है कि भगवान्में उनका स्वाभाविक प्रेम था—'तस्य नैसर्गिकी रतिः।' एकनाथ महाराज कहते हैं कि वे जन्मसे भक्त थे, जन्मसे ही वे भगवत्-प्रेमी और भगवान्के सेवक थे। सम्भव है यह पूर्व-जन्मोंके सुकर्मोंका फल हो। शुद्ध स्वाभाविक और निर्दोष प्रेम एक (ईश्वरप्रदत्त) उपहार है। कहा जाता है कि कवि, वीर और दार्शनिक उत्पन्न होते हैं, बनाये नहीं जाते। इसलिये विशिष्टरूपसे भगवान्का प्रेमी भी प्रेमको साथ लेकर ही उत्पन्न होता है। इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि अविश्वासी पुरुष कभी विश्वासी बन ही नहीं सकता। मैं एक ऐसे मनुष्यको जानता हूँ,

जिसने पचास वर्षोंतक ईश्वरकी उपेक्षा करते हुए पापमय जीवन विताया। अचानक उसका परिवर्तन हुआ और अपने जीवनके अन्तके दस वर्षोंको उसने यथार्थतः ही संत-जीवनके रूपमें विताया। मेरा विचार है कि कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी ईश्वरमें विश्वास, यहाँतक कि प्रेम भी कर सकते हैं। कोई भी ऐसा पापी नहीं हो सकता, जो सन्मार्गपर न आ सके और कोई ऐसा नास्तिक नहीं हो सकता, जो आस्तिकताकी ओर न लौट सके। ऊपर जिस मनुष्यका मैंने संकेत किया है, उसे अचानक एक धर्मात्मा योगीके सत्सङ्गका सुअवसर मिला और वह छः महीने उनके साथ रहा, अन्तमें एक दिन प्रातःकाल वह पापी एक संतके रूपमें परिणत हो गया। मेरा कथन यह है कि नास्तिक पुरुष तर्क और युक्तियोंसे नहीं, बल्कि ईश्वर-प्रेमी और धर्मात्मा पुरुषोंके सहवाससे ही आस्तिक बन सकता है। सत्सङ्ग या भगवत्प्रेमी पुरुषोंका सहवास एक महती क्रियात्मिका शक्ति है, जो चट्टानोंको तोड़-फोड़कर उसपर पवित्र जलका सोता बहा देती है। अजामिल, अघासुर, कुब्जा, बकासुर, पिंगला प्रभृति इसके उदाहरण हैं। रामायणके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि इसके सुन्दर उदाहरण हैं। यहाँतक कि गोस्वामी तुलसीदासजी भी अपनी स्त्रीके उपालम्भसे सत्पथको प्राप्त हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है कि—

'बिनु सतसंग बिबेक न होई। .... ॥'

ईश्वरमें विश्वास करना ईश्वर-प्राप्तिकी प्रथम सीढ़ी है। श्रद्धा, भाव, विश्वास, निष्ठा—इन सबका एक ही अर्थ है—ईश्वरके

अस्तित्वमें अचल विश्वास। श्रद्धाहीनता ईश्वर-प्राप्तिके समस्त साधनोंपर पानी फेर देती है। विश्वाससे भगवान्‌में भक्ति, रति या प्रेम होता है। भगवान् और भगवान्‌की सृष्टिसे प्रेम ही भक्ति है। श्रद्धा ही ईश्वरीय ज्ञानका द्वार है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' कहा है, 'तर्कवाँल्लभते ज्ञानम्' कदापि नहीं। समस्त तर्क और युक्तियाँ उसके सामने क्षीण हो जाती हैं, अथवा उसमें लीन हो जाती हैं, वह इन सबसे परे है—'यो बुद्धेः परतस्तु सः।' वह बुद्धि, मन तथा इन्द्रियोंसे परे है। जब तुम एक बार उसे प्राप्त कर लोगे, तब बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर, यही क्यों, अखिल विश्व उसके द्वारा परिचालित तथा उसीमें स्थित अनुभूत होगा। वस्तुतः प्रभुके सिवा कुछ है ही नहीं। बस, केवल एकमात्र ईश्वर ही है। वही सब कुछ है। अपने आपको उसमें मिटा देना ही ईश्वर प्राप्ति है। ऋग्वेदका 'नासदीयसूक्त' और भगवद्गीताका 'ज्ञेय' (अध्याय १३ श्लोक १२ से १८) जहाँतक शब्दकी शक्ति है, वहाँतक ईश्वरके परम सत्य भावको अभिव्यक्त करते हैं। यद्यपि ईश्वर भावना नहीं, बल्कि सत्य तत्त्व है, उसकी प्राप्तिके लिये उच्चतम साधना आवश्यक है। उसके लिये मनुष्यको किसी मार्गका अनुसरण करना होगा। केवल जानने और विचारनेसे ही काम नहीं चलेगा, बल्कि जीवन और आचरणमें उसे लाना और वैसा बनना पड़ेगा। भक्ति या प्रेमके द्वारा आप उस सगुण और निर्गुणस्वरूप परमात्मामें एकत्वको प्राप्त हो सकते हैं। एक ही अनेक है और अनेक ही एक है। अच्छा; वह मार्ग कौन-सा है? आपको कहाँ मिलेगा? कौन उसे दिखलावेगा? जो उस

मार्गसे जाकर वहाँ पहुचे हैं, उनके सिवा कौन उस मार्गको दिखला सकता है ? केवल संत-महात्मा ही उस मार्गको दिखला सकते हैं। स्वानुभवके बलपर वे बतलाते हैं कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है, उसको खोजो । मार्ग और साध्य दोनों एक ही हैं। उपनिषद्, गीता, भागवत, संसारके समस्त धर्मग्रन्थ तथा साधु-महात्माओंके बनाये ग्रन्थोंका स्वाध्याय, नित्य दैनिक संध्या, पवित्र मन्दिरों और तीर्थोंका दर्शन करना, दूषित ग्रन्थों, मनुष्यों और सम्भाषणोंसे बचना—यह समस्त साधकोंके लिये (विशेषकर प्रारम्भिक साधकोंके लिये) कुछ आवश्यक साधनाएँ हैं। इनसे आत्मा पवित्र होता है, बल्कि यह प्रतीति होती है कि आत्मा सदा ही पवित्र है । ईश्वरका स्वागत करनेके लिये अपने हृदयरूपी मन्दिरका द्वार खोल दो और फिर देखो कि वह वहाँ पहलेसे ही मौजूद है। तुम्हारे शरीर-यन्त्रका संचालक भी तो वही है। जैसे भक्त ध्रुव कहते हैं—'जो मेरी रसनामें वाणीका संचार करता है, हाथ और पैरोंको चलाता है, मुझे शब्द-श्रवणके योग्य बनाता है तथा मेरे समस्त शरीरमें व्याप्त है—उसको मैं देखता हूँ—उसके लिये मेरा नमस्कार हो ।' ईश्वर हमारे भीतर भी है और बाहर भी। समस्त धर्म साधन हैं। अहङ्कारको नष्ट करके यह अनुभव करना कि केवल वही एक है और वही सब कुछ है, साध्य कहलाता है । वही व्यापक और व्याप्य है, वह साकार है और निराकार है। वह सगुण है और निर्गुण है। वही उपास्य और उपासक है। वही सब कुछ है। वह 'सत्यं शिवम् अद्वैतम्' है।

विश्वास, श्रद्धा, प्रेम तथा अनुभूति आत्माके लिये अत्यन्त ही शक्तिप्रद और आनन्दप्रद होते हैं। ईश्वर-विश्वासी सहज ही आन्तरिक शत्रुओंका सामना करता है और शक्तिसम्पन्न होता है। नास्तिकका अवलम्बन क्या हो सकता है? तन, धन, जन और मित्र समय पड़नेपर नहीं ठहरते। नास्तिक बेचारा अकेला पड़ जाता है? आस्तिकके लिये भगवान् उसकी शक्ति तथा आनन्दके स्तम्भ होते हैं। 'संशयात्मा विनश्यति' और 'न मे भक्तः प्रणश्यति' ये दो दिशाएँ हैं, इनमेंसे तुम जो चाहो, चुन सकते हो।

भगवान्‌ने दुनियाके महान् ग्रन्थ भगवद्गीतामें अपने भक्तोंको बहुत-से आश्वासन-वाक्य दिये हैं—

(१) **'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'** (९। २२)

(२) **'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'** (१०। १०)

(३) **'तेषामज्ञानजं तमः—नाशयाम्यात्मभावस्थः।'** (१०। ११)

(४) **'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।'** (१२। ७)

(५) **'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'** (१८। ६६)

आस्तिकके लिये स्वयं श्रीभगवान् इस प्रकार अपने ऊपर जिम्मेवारी लेते हैं; परंतु नास्तिकके लिये कोई आधार नहीं है। उसे किसके द्वारा और कहाँसे सहायता मिल सकती है? आस्तिकके लिये भगवान्‌के ये आश्वासन कीलेवन्दियोंके समान हैं और वह

इनके भीतर जगत्प्रभुके द्वारा रक्षित हुआ सुखसे विश्राम करता है। भगवद्भक्त और भगवत्-प्रेमी माता-पिताकी संतान होनेके कारण धार्मिक वातावरणमें पाले-पोसे जाने तथा अपनी सुदूर और विस्तृत यात्रामें धार्मिक पुरुष-स्त्रियोंके सत्सङ्गमें रहनेके कारण एवं आध्यात्मिक साहित्यके अध्ययनका व्यसनी होनेके कारण मुझे कभी ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करनेके लिये तर्ककी आवश्यकता नहीं पड़ी। मैं सदा ही अपने शरीरकी रग-रगमें उसके अस्तित्वका अनुभव करता था। उसकी दया मेरी मूल सम्पत्ति है, उसकी करुणा मेरा कवच है, उसका चिन्तन मेरा परम आनन्द है तथा उसके भक्तोंके साथ सम्भाषण मेरा स्वर्ग है! क्या मछलीको पानीसे प्रेम करनेके लिये शिक्षा देनेकी आवश्यकता है? मैं कह चुका हूँ कि भक्त प्रह्लादका ईश्वरके प्रति नैसर्गिक (स्वाभाविक) प्रेम था। अपने लिये ऐसा कहना असङ्गत जान पड़ता है; परंतु इसमें सत्यताकी कुछ भी कमी नहीं। जिस प्रकार जलकी धाराके साथ पुष्प बहता जाता है, उसी प्रकार मेरा मन भक्ति-गङ्गाके प्रवाहमें प्रवाहित होता चला जा रहा है। मैं भगवान्‌में विश्वास और भक्ति रखता हूँ। सम्भव है कि मुझे लक्ष्यकी प्राप्ति देरसे हो, परंतु संत-महात्माओंद्वारा संचालित भगवद्भक्तोंकी सेनाका एक तुच्छ सिपाही होनेमें ही मुझे पूरा संतोष है। मेरी गाड़ी, जो मार्गच्युत हो गयी थी, अब दुरुस्त हो गयी है और अब मैं अपनेको उसकी छत्रछायामें सुखी और सुरक्षित पाता हूँ, जो मेरी जीवनरूपी गाड़ीका गार्ड और ड्राइवर दोनों है। मेरे समस्त तर्क, युक्तियाँ और हेतु

बहुत पहले श्रद्धाके पात्रमें विलीन हो गये हैं। मेरे मन, बुद्धि तथा आत्मापर उसने अधिकार कर लिया है। बस वही, केवल वही, एकमात्र अकेला वही रह गया है, उसके सिवा और कुछ भी नहीं है। ओह! उसके चिन्तन और प्रेममें कैसा आनन्दका सागर उछल रहा है। कैसा परमानन्दका स्रोत बहता है।

अब मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैं नास्तिकताके चक्करसे किस प्रकार बचा। सन् १८९४ ई० में मैं पूना फर्ग्युसन-कालेजमें पढ़ता था, वह एक परिवर्तनका युग था। प्राचीनताका स्थान नवीनता ग्रहण कर रही थी। हमारे अधिकांश शिक्षित पुरुष पाश्चात्य आचार-विचारसे प्रभावित हो रहे थे। पचीस वर्षतक महाराष्ट्रके शिक्षितोंके मनपर मिल, स्पेन्सर और हक्सले शासन करते रहे। हमारे अंग्रेजी और लाजिक (तर्कशास्त्र) के अध्यापक फर्ग्युसन-कालेजके प्रिंसिपल श्रीयुत आगरकर महाशय थे। वे एक महान् सज्जन पुरुष थे तथा सामाजिक सुधारके कर्णधार समझे जाते थे। वे अपने कालेजके विद्यार्थियों तथा साधारण जनतामें अपने सर्वप्रिय पत्र 'सुधारक' द्वारा नवीन भावनाओंका प्रचार करते थे। उन्होंने प्राचीन साहित्य और प्राचीन आचार-विचारोंसे मुख मोड़ लिया था। वे देश-भक्त थे, परंतु पाश्चात्य सभ्यताका उनके ऊपर पूर्ण प्रभाव था। मुझे विद्यार्थीके रूपमें उनके साथ छः वर्षोंतक रहना पड़ा। वे खुल्लमखुल्ला नास्तिकवादका प्रचार करते थे। हिंदू-धर्मशास्त्र और प्रत्येक प्राचीन बातके प्रतिकूल उनके लेखोंका नवयुवकोंके ऊपर बड़ा ही प्रभाव था और अबतक है। युक्ति और तर्क उनके

प्रधान अस्त्र थे और उनके द्वारा बड़ी ही निष्ठुरतासे उन्होंने प्राचीन आचार-विचारके ऊपर आक्रमण किया था। उनकी प्रेरणासे अविश्वास (नास्तिकता) का जादू मुझपर भी काम कर गया। मैंने सोचना आरम्भ किया कि संसार बिना ही ईश्वरके निरालम्ब है। मेरा मन ईश्वर-विश्वास और अविश्वासके बीच चक्कर काटने लगा। मेरे घर और कालेजके प्रभावोंमें परस्पर युद्ध मच गया। आस्तिकताकी गोदसे अज्ञानकी ओर जाते समय एक वर्षतक मुझे व्याकुलता और विषादका अनुभव होता रहा। मैं निराश, संशयग्रस्त और किंकर्तव्यविमूढ़ बना रहा; परंतु मैं तो श्रद्धा, संतोंके जीवन और संत-साहित्यके प्रचार तथा पुनरुद्धारके लिये नियुक्त किया गया था, अतएव भगवान्ने मुझे नास्तिकताके गर्तसे निकालना चाहा। एक दिन सायंकालके समय मैं पूनासे तीस मील दूर एक पहाड़ीके शिखरपर ध्यान कर रहा था। मैं अचानक इस परिवर्तनशील दृश्य जगत्की नश्वरतासे निकलकर नित्य निर्विकार ब्रह्मावस्थामें जा पहुँचा। आधे घंटेतक मैं अपने आपको पूर्णतया भूल गया और पूर्णानन्दमें निमज्जित हो उठा। वह एक प्रकारकी समाधि थी। यहीं मेरे अन्तर्जीवनमें परिवर्तन हो गया। मुझे एक नवीन जन्म प्राप्त हुआ। यह समाधि-दशा मुझे अकस्मात् और केवल भगवान्की दयासे प्राप्त हुई थी; क्योंकि उस समय मैं अपनी ओरसे कोई चेष्टा करने योग्य न था और न यह वह समाधि थी जो योगाभ्यासके द्वारा प्राप्त होती है। मैं पथभ्रष्ट हो रहा था। दयामय प्रभुने मुझे बचाया। मैं अनुभव करने लगा कि प्रभुने अपने आपको सदाके लिये मेरे सामने प्रकट कर दिया। मुझे विश्वासके लिये एक आश्रय मिल

गया और मैंने अपने खोये हुए विश्वासको पुनः पा लिया। दूसरे ही दिन मैंने रामदास और तुकारामके ग्रन्थ खरीदे और नवीन दृष्टिसे उनकी भावनाओंमें प्रविष्ट हुआ। तबसे गीता और भागवत, ज्ञानेश्वर और एकनाथ, रामदास और तुकाराम मेरे उत्साह-वर्द्धक साथी हो गये। अध्ययन और ध्यान तथा धार्मिक महात्माओंके सत्सङ्गसे मैं अपनेमें शक्तिका अनुभव करता हूँ। मैं उस सुन्दर पथका पथिक हूँ, जो ईश्वरत्वकी ओर ले जाता है। मैं आज भी अपने उस पुराने प्रोफेसरको श्रद्धा तथा प्रेमकी दृष्टिसे देखता हूँ। मेरे विषयमें किसीको भ्रान्ति न हो, इसलिये मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मुझे अभीतक ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई है। मैं अभीतक अपनी उपासनाको ईश्वरीय दयाके साथ दृढ़तापूर्वक बढ़ानेमें समर्थ न हो सका हूँ। इस बातमें मैं अस्थिर और अपराधी हूँ; परंतु मैं इतना कह सकता हूँ कि विश्वाससे श्रद्धाकी ओरका तथा श्रद्धासे ईश्वर-प्राप्तिकी ओरका मार्ग सौम्य, सुखप्रद और आनन्दमय है। ईश्वर सचमुच महान् और दयालु है; हम उसे जितना चाहते हैं, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह हमें संसार-सागरसे उद्धार करनेके लिये चिन्तित रहता है। वह समस्त दीन-दुखी और विपद्ग्रस्त जीवोंको प्यार करता है, उनके लिये उसकी करुणाका पार नहीं। हमारे अपने कल्याणके लिये वह हमलोगोंसे पूर्ण आत्म-समर्पणकी आशा करता है। वह विवस्त्रा गोपियोंसे—निःस्वार्थ प्राणियोंसे, जिन्होंने कामनारूपी समस्त वस्त्रोंको दूर फेंक रक्खा है, सदा प्रेम करता है। वह अनुग्रहसे पूर्ण है और माताके वात्सल्य-प्रेमसे भी अधिक प्रेमपूर्वक हमारी ओर देखता है। हमें अपनी ओर बढ़ते

हुए देख, वह सदा सहायता करनेके लिये तैयार रहता है। हमें आगे अर्थात् अन्तरात्माकी ओर बढ़ना चाहिये। वह हमारे समीप है, हमारे भीतर और बाहर है तथा सृष्टिके प्रत्येक रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है। वह हमारी उन्नतिकी निगरानी करता है और हमें अपनी ओर ले जाता है। हम समस्त प्राणियोंके रूपमें उसके साथ प्रेम करना सीखें। हमें आनन्दित होना चाहिये कि हम उस प्रभुके हैं और उसके भीतर हैं। उपनिषद् कहते हैं कि वह आनन्दस्वरूप है—'रसो वै सः।' संत तुकाराम कहते हैं कि वह 'आनन्द-सिन्धु' है।

मुझे अपने प्रारम्भिक जीवनकी एक घटना याद आती है, जिससे ईश्वर-प्रार्थनाकी महत्ता सिद्ध होती है। उस समय मैं केवल आठ वर्षका था। मेरे पिता रामभाउ अत्यन्त धर्मात्मा पुरुष थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल चार बजे उठते, स्नान करते और फिर दोपहरतक पूजामें बैठे रहते। प्रतिदिन सम्पूर्ण गीताका पाठ और विष्णुसहस्रनामके दस पाठ करते थे। आधुनिक पुरुष उन्हें सम्भवतः शिक्षित 'Educated' न कहें; क्योंकि वे ग्रामीण थे और केवल टूटी-फूटी संस्कृत जानते थे, अंग्रेजीसे बिल्कुल अनजान थे; परंतु जीवनकी पवित्रता तथा आत्माकी दृष्टिसे वे अद्वितीय थे। उस समय हम पूनासे सोलह मील पश्चिम और आलन्दीसे लगभग बारह मील उत्तर एक गाँवमें रहा करते थे। यह वही आलन्दी तीर्थ है, जहाँ गीताके प्रसिद्ध भाष्यकार और महाराष्ट्रके प्राचीन कवि और दार्शनिक ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधि है। उस आठ वर्षकी अवस्थामें मैं

मूर्च्छाके रोगसे आक्रान्त था। दिनमें मुझे आठ या दस बार मूर्च्छा आ जाती थी। मेरी माता तथा मेरे दूसरे सम्बन्धी मेरे जीवनसे निराश हो गये थे। मेरे पिता बहुत ही निःस्पृह थे। एक बार वे लोगोंके बहुत कहने-सुननेपर बाध्य होकर पूनाके चतुर डाक्टरोंको दिखलानेके लिये मुझे ले चले। उन्होंने मुझे बैलगाड़ीमें बिठाया। और गाड़ीवानसे पूनाके बदले आलन्दी ले चलनेके लिये कह दिया। इस प्रकार हम आलन्दी पहुँचे। पवित्र इन्द्रायणीमें स्नान किया और ज्ञानेश्वरके मन्दिरमें गये। मेरे पिताने भक्तिपूर्वक पूजा की और मेरे सिरको श्रीज्ञानेश्वरके चरणोंमें रख दिया तथा आँखोंमें आँसू भरकर हृदय भरकर जोरसे प्रार्थना करने लगे—'हे ज्ञानेश्वर! हे मेरी माता! मैं इस लड़केको तुम्हारे चरणोंमें रखता हूँ। मैं तुमसे बढ़कर कोई उत्तम वैद्य नहीं जानता और न तुम्हारे चरणतीर्थसे बढ़कर उपयोगी कोई औषध ही जानता हूँ। मैं इस लड़केको तुम्हारी सेवामें अर्पण करता हूँ। तुम्हीं इसके माता-पिता और रक्षक हो, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो इसकी रक्षा करो। यह तुम्हारी दयापर छोड़ दिया जाता है।' सच्चे और यथार्थ प्रार्थीकी प्रार्थना सुनी जाती है, उसकी कामना पूरी होती है? मैं शपथपूर्वक यह घोषित करता हूँ कि तबसे मुझे इस भौतिक शरीरमें एक बार भी मूर्च्छा न आयी। इस प्रकार मैं अपने जीवनमें एक दुष्ट रोगसे बचा था और बचपनमें ही अपने पूज्य पिताके द्वारा महाराष्ट्रके प्रधान संत ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंमें मैं अर्पण कर दिया गया था। ज्ञानेश्वर माताकी जय!

रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य,
एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

१–२–ये दोनों प्रश्न मेरी समझसे व्यर्थ हैं। ईश्वर हैं तो ये प्रश्न ही नहीं वनते। आप यदि चाहें तो यह मान सकते हैं कि जल, आकाश अथवा सूर्य कुछ भी नहीं हैं और यह भी मान सकते हैं कि इन सबकी सत्ताको न माननेमें ही लाभ है; परंतु आपके न माननेपर भी इनकी सत्ता अवश्य है। इसके अतिरिक्त अपने लाभके लिये झूठी वातपर विश्वास करना बुद्धिमानीका काम नहीं।

यदि हमें यह निश्चय है कि ईश्वर है तो फिर आपके मानने और न माननेसे कुछ वनता-विगड़ता नहीं।

३—यह प्रश्न कि ईश्वरकी सत्ताको माननेके लिये आपके पास प्रमाण हैं। बिल्कुल ठीक है। ईश्वरकी सत्तामें मुख्य तीन ही प्रमाण हैं—पहला अनुमान, दूसरा शब्द और तीसरा प्रत्यक्ष। हमारे जो स्वप्न सच्चे निकलते हैं, उनके द्वारा ईश्वरकी सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध है।

४—इस प्रश्नमें आप दो बातोंको भूलसे एकमें ही रख देते हैं। आप मुझसे यह चाहते हैं कि मैं ईश्वरकी सत्ताके प्रमाणरूपमें अपने कुछ और अनुभव बताऊँ, परंतु आप साथमें 'दया' को भी जोड़ देते हैं। दयाका प्रश्न बिल्कुल भिन्न है। पाश्चात्त्य विद्वानोंके मतमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् एवं दयासागर हैं, किंतु वेदान्त-दर्शनको यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। महर्षि बादरायणने एक सूत्रमें कर्मके सिद्धान्तको माननेके लिये 'वैषम्यनैर्घृण्यप्रसंगात्' इस कारणका निर्देश किया है, किंतु हमारे सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यको उसके कर्मके अनुसार ही शुभाशुभ फल मिलता है। इस कर्मके सिद्धान्तको न माननेसे ईश्वरके अंदर विषमता (वैषम्य) एवं निर्दयता (नैर्घृण्य) का दोष आता है। 'हिन्दुधर्माची तत्त्वे' इस विषयपर मैंने जो कई निबन्ध लिखे हैं तथा व्याख्यान दिये हैं, उनमें मैंने इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। मैं ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाणमें अपने एक स्वप्नका उल्लेख करूँगा। वह इस प्रकार है—अपनी 'हिंदुभारतका अन्त' नामक पुस्तकके मुद्रण-व्ययमें कुछ कमी पड़नेके कारण श्रीमान् महाराजा साहब काश्मीरको इसे अर्पणकर उनसे कुछ द्रव्य प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मैं श्रीनगर गया और वहाँ आठ-दस दिन ठहरकर इसके

लिये उद्योग करता रहा, किंतु सफल नहीं हुआ। मेरे मित्र, जिनके यहाँ मैं ठहरा था, मुझसे कहने लगे कि 'तुम कुछ दिन और ठहरो और काश्मीरकी सैर करो।' वे मुझे किसी प्रकार भी जाने नहीं देते थे। एक दिन रातको प्रातःकालके करीब मैंने स्वप्नमें एक आवाज सुनी—'अरे वैद्य! तू यहाँ क्यों पड़ा है, दक्षिणको लौट जा।' दूसरे दिन प्रातःकाल ही एक जरूरी तार मिला। बम्बईके निकट शासवने नामक ग्राममें एक वैश्याश्रम है। यह तार उसके मुख्याध्यापकका भेजा हुआ था। उसमें लिखा था कि 'अमुक तिथिको इस आश्रमका वार्षिक समारम्भ है, इसके लिये आप अध्यक्ष चुने गये हैं। अतः अवश्य पधारिये।' इस तारको पढ़कर मेरे मित्रको आज्ञा देनी ही पड़ी। बस, फिर क्या था, मैं तुरंत वहाँसे चल पड़ा। लौटती बार मैं इन्दौर होकर आया। वहाँ मेरे एक मित्र सरदार कीबे साहब हैं, मैं उनसे मिला तो उन्होंने मुझसे पूछा कि 'आप काश्मीर क्यों गये थे?' मेरे कारण बतलानेपर वे बोले 'आप इतनी दूर क्यों गये? मैं आपको इस हिंदी पुस्तकके मुद्रणके लिये सरकारी ग्राण्टसे एक हजार रुपये देता हूँ।' यह कहकर उन्होंने रुपयोंका चेक भी उसी समय लिखकर दे दिया। मैं अपने इस स्वप्नपर आश्चर्य करने लगा और उस समय मुझे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि ईश्वर केवल हैं ही नहीं, किंतु वे सबके अन्तःकरणमें रहकर 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' इस वचनके अनुसार सारे संसारचक्रको यन्त्रवत् चला भी रहे हैं।

श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

ईश्वर है, इसलिये मानना चाहिये। मानना उपयोगी है, इसलिये भी मानना चाहिये।

२—ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानि है ?

ईश्वरको न माननेसे मनुष्य उच्छृङ्खल होता है और उसके सामने कोई पूर्णताका ध्येय नहीं रहता।

३—ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं ?

ईश्वरके होनेमें प्रबल प्रमाण मनुष्यका अपना अस्तित्व है। मनुष्य है, इसीलिये ईश्वर भी है। जो मनुष्य अपना अस्तित्व नहीं

मानेगा, उसके लिये ईश्वरकी सत्ता मानना कठिन है; पर जो अपनी आत्मसत्ता मानता है और उसका कार्य अपने शरीरमें होता हुआ विचारदृष्टिसे देख सकता है, वह ईश्वरकी सत्ताका अनुभव कर सकता है।

४—अपने जीवनकी ऐसी सच्ची घटनाएँ लिखिये, जिनसे ईश्वरकी सत्ता और दयामें आपका विश्वास बहुत बढ़ा हो।

अपने जीवनमें अनुभव तो मैं यही करता हूँ कि जो मैं करना चाहता हूँ, वह तो नहीं होता, परंतु जो स्फूर्ति होती है, वह किया जाय तो अल्पायाससे सिद्ध हो जाता है। इसलिये मैंने अपना हठ छोड़ दिया है और जो प्रबल प्रेरणा होती है, वही करता जाता हूँ। बचपनसे मुझे यही अनुभव है कि कोई ऐसी शक्ति है कि जो चक्रवत् भ्रमण कर रही है और कार्य करा रही है। आयुके चालीस वर्ष पूर्व यह अनुभव अत्यन्त अस्पष्ट था, अब स्पष्ट है; और इस अनुभवमें जब मैं अपनी पूर्व आयु देखता हूँ, तब उसमें एकसूत्रता दीखती है जो मैंने कभी कल्पना अथवा योजना करके निश्चित नहीं की थी। फिर वह किसने की? जिस किसीने की होगी, वही ईश्वर है।

अब तो मूर्तामूर्त सब ईश्वरका ही रूप है, ऐसा दीखता है। इसे ऐसा दिखानेमें जिसका उपदेश कारण हुआ उसने स्वयं दर्शन दिये। मैंने प्रयत्न भी नहीं किया था। फिर मैं ऐसा क्यों न समझूँ कि एक ही नियामक सत्ता है।

बाबा राघवदास

१. मनुष्यकी शक्तियाँ परिमित हैं। इसलिये वह जो भी सोचता है, करता है, उसमें अपूर्णता रह ही जाती है। इसलिये वह स्वभावतः ऐसी शक्तिकी खोजमें रहता है, जिसके सामने वह अपनी अपूर्णताको स्वीकार करता हुआ पूर्णताकी ओर अग्रसर हो। उस अदृश्य शक्तिको हम चाहे जिस नामसे पुकारें, पर वास्तवमें वही ईश्वर है।

२. ईश्वरको न माननेमें जो हानियाँ हैं, वे स्पष्ट हैं। आज जो ईश्वरको न माननेकी लहर उठ खड़ी हुई है, उसका मूल ढूँढ़नेसे स्पष्ट पता चलता है कि वह आर्थिक वैषम्यकी भावना है। ईश्वरके साथ आर्थिक वैषम्यका सम्बन्ध जोड़ना न्याययुक्त नहीं। ईश्वरभक्तों तथा ईश्वरके माननेवालोंने अर्थको प्राधान्य नहीं दिया है, जबानी ईश्वरका नाम लेनेवाले किंतु हृदयसे कट्टर जडवादी लोगोंने ही दिया है। अर्थ जीवननिर्वाहका एक साधन है न कि मनुष्य-जीवनका साध्य। जिन लोगोंने इसी अर्थको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देकर 'ईश्वरवाद'को कलंकित किया है, उनका आचरण इस विषयमें प्रमाण मानना भूल होगा।

ईश्वरको इसलिये नहीं माना जाता है कि गरीबोंको लूटा जाय, किंतु इसलिये कि मनुष्यके हृदयमें 'अनन्त'की ओर बढ़नेकी जो जिज्ञासा है, उसकी तृप्ति, पूर्ति एवं शान्ति हो। यहींसे ईश्वरमें

श्रद्धा उत्पन्न होती है। मनुष्यको केवल भौतिक भोगोंसे हार्दिक शान्ति नहीं मिलती। वह ऐसी चीजकी तलाशमें सदैव रहता है, जो उसके पास हो और ऐसी हो, जो किसी देश तथा कालमें उससे अलग न हो सके। अखण्ड शान्तिकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य ईश्वरकी खोज करता है।

मनुष्य आदर्शवादी प्राणी है। वह साधारण नियम तथा शक्तियोंमें ही संतुष्ट नहीं रहता। इसलिये जिन गुणोंको वह आदर्श मानता है, उनके समुच्चयका पूरा खाका अपने सामने लानेके लिये सर्वगुणसम्पन्न ईश्वरकी ओर वह स्वभावतः झुक जाता है। मानवजातिके इतिहासमें आदर्शपर चलनेवाले जो सैकड़ों महापुरुष तथा स्त्रियाँ हैं, इसका कारण आदर्शस्वरूप ईश्वरास्तित्वको स्वीकार करना है। अपनी-अपनी कल्पना, परिस्थिति तथा संस्कारके अनुसार आदर्शोंमें कुछ भिन्नता चाहे भले ही हुई हो।

ईश्वरको न माननेमें हानियाँ कितनी हैं—इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाज-धारणाके लिये प्रत्येक मनुष्यको आवश्यक है कि वह संयमी हो। असंयमी पुरुष न केवल उच्छृङ्खल होनेसे अपने साथियोंके लिये दुःखदायी होता है, किंतु सारे समाजकी शान्तिको भी बिगाड़ता है।

संयम तथा आदर्शरहित व्यक्ति कभी भी सत्साहसी नहीं हो सकता। भूतदया, मानवसेवाकी तो कल्पना ही नहीं हो सकती। सर्वस्व अर्पण करनेकी आवश्यक शक्ति तभी प्राप्त हो सकती

है, जब इन गुणोंके पीछे रहनेवाली एक अखण्ड शक्तिको माना जाय अन्यथा ऊपर विचार करनेवाला पुरुष तारतम्य विचारसे अपनेको ऐसे उदात्त विचारोंपर न्योछावर नहीं कर सकता।

समाजके निराशा तथा अनन्त दुःखोंकी रामबाण ओषधि जो ईश्वर है, उसके अस्तित्वको मिटा देनेवाले साहित्यका प्रचार करना मानो समाजको मँझधारमें छोड़कर उसे किंकर्तव्यविमूढ़ बनाना है। मानवसमाज सदैव ईश्वरको मानता आया है, चाहे वह जिस किसी रूपमें हो। सोवियट रूस भी 'ईश्वरवाद' का जोरोंसे खण्डन करता हुआ भी एक प्रकारसे ईश्वरको किस प्रकार मान रहा है, सो हमारे सामने है।

मेरे जीवनमें जब कभी-कभी निराशा आ जाती है; जब मैं चारों ओर अन्धकार देखता हूँ, उस समय ईश्वरकी भावनासे मुझे अपार सान्त्वना तथा शान्ति मिलती है। यह शक्ति भौतिक सुख-शान्तिसे सर्वथा भिन्न है। इसका भी सदैव अनुभव हुआ है। ऐसी उन उलझनोंमें-से एक ऐसा रास्ता निकल आया है, जिससे भौतिक कार्यमें भी बड़ी सुविधा हुई है।

मैं ईश्वरको इसलिये ही नहीं मानता कि वेदादिमें लिखा है, किंतु मेरा मन और बुद्धि उसके अस्तित्वको स्वानुभवसे स्वीकार करते हैं। मैं कहता हूँ कि ईश्वरवाद समाजके लिये अफीमके नशेके समान नहीं, बल्कि संयम और शक्तिका देनेवाला है। उसे मानना समाजका स्वभावधर्म है और वह इस धर्मको किसी बाहरी दबावके बिना ही अपने-आप स्वीकार करता है।

श्रीरामदासजी गौड़, एम्० ए०

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

(१) क्योंकि इसीमें मनुष्यता है ।

मनुष्य-योनिके धर्म और कर्तव्य इतर योनियोंसे भिन्न हैं । मनुष्य आग बनाता है, भोजन पकाता है, भोजनकी सामग्री उपजाता है, कपड़े बनाता है और पहनता है, पशुओंसे हर तरहकी सहायता और काम लेता है, घर बनाकर उसमें रहता है, फिर बस्तियोंका निर्माण करता है, समाजका संगठन करता है, समूहोंका नियमन, शासन और न्याय करता है । ये सभी काम वह पशुओंसे भिन्न करता है । पशु इनमेंसे एक भी नहीं करता । वह जैसे समाजके धर्मों और कर्तव्योंतक विकास किये हुए है, उसी तरह लिखना-पढ़ना, यजन-याजन, वेदाध्ययन भी वह करता है, जो पशु नहीं करता । इसी तरह वह परलोकका विचार और अपनी भावी सुगतिके लिये भी चिन्ता करता है । अब जो दोनों लोकोंका नियमन और स्वामित्व करता है, उसे मानना और जानना भी मनुष्यताका एक लक्षण हुआ । कोई पशु न तो पढ़ता-

लिखता है, न यजन-याजन करता है और न ईश्वरको जानता-मानता है । इसीलिये कि हम मनुष्य हैं, हमें ईश्वरको मानना चाहिये ।

परंतु इसपर यह कहा जा सकता है कि कपड़े पहनने, खाना पकाने आदिकी तो आवश्यकता है । इनके बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता; परंतु पढ़ना-लिखना, यजन-याजन, परलोकका विचार, ईश्वरको मानना यह हमारे जीवनके लिये अनिवार्य नहीं है । बहुत-से मनुष्य इनके बिना भी जीते हैं । इसका उत्तर यह है कि मनुष्य बिना पकाये और बिना कपड़ा पहने भी उसी तरह जी सकता है, जैसे पशु; परंतु उसने जैसे पकाना-खाना, कपड़े पहनना और घरोंमें रहना अपने लिये आवश्यक बना लिया है, वैसे ही पढ़ना-लिखना, यजन-याजन, ईश्वरोपासना आदिको भी मानसिक और आध्यात्मिक भोजनाच्छादन बना लिया है और इनके बिना भी उसका काम नहीं चल सकता या कम-से-कम इनके बिना उससे रहा नहीं जाता । इस तरह सहज मानवविकासके कारण उसे ईश्वरको भी मानना पड़ता है, चाहे वह उसे किसी नाम या किसी रूपसे माने ।

यह कह सकते हैं कि नास्तिक या अनीश्वरवादी तो ईश्वरको नहीं मानता ।

यह तो सच है कि वह ईश्वर नामक किसी विभु या प्रभुकी सत्ता नहीं मानता, परंतु वह सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, बड़प्पन, तेज, शक्ति आदिको अलग-अलग अवश्य मानता है, और ईश्वरवादी जानते हैं कि यह सभी गुण या धर्म ईश्वरके ही हैं । जो सत्य आदिको मानता है, वह वास्तवमें ईश्वरके ही विविध अङ्गोंको मानता

है। यह सच है कि वह पान-फूल लेकर इनकी पूजा नहीं करता, परंतु वह तो अपने अच्छे आचरणोंसे ही इनकी अर्चा करता है। ईश्वर तो 'स्वकर्मणा' ही अपनी अर्चा चाहता भी है। पान-फूल तो आवश्यक नहीं है। और निकम्मे आचरणवाले तो अनीश्वरवादी और ईश्वरवादी बराबर ही हैं; क्योंकि ईश्वरवादित्व तो अनाचार और दुराचारका विरोधी है।

अतः तथोक्त अनीश्वरवादी भी जो सदाचारको मानता है, ईश्वरको सदाचारके रूपमें मानता ही है और सदाचारको मानना मनुष्यताका एक विशेष लक्षण है।

(२) क्योंकि विकासतः माने विना रह नहीं सकता। आहार, निद्रा, भय, मैथुनादिमें मनुष्य और पशुमें कोई अन्तर नहीं है। विकासमार्गमें मनुष्य पशुओंसे ऊँचा उठता है और देवत्वकी स्पर्धा करता है। उसके आचार, उच्चार और विचारमें जितनी ही उच्चता आती है, उतना ही वह मनुष्यताकी ओर बढ़ा समझा जाता है। अपना होना और अपने सजातियोंका होना तो पशु भी जानता और मानता है। उन विजातियोंको भी मानता है, जिनका अस्तित्व वह अपनी इन्द्रियोंसे अनुभव करता है। उसकी बाहरी इन्द्रियोंका विकास तो बहुत कुछ हुआ है; परंतु भीतरी इन्द्रियाँ अर्थात् अन्तःकरण अभी विकसित नहीं हुए हैं। मनुष्यके अन्तःकरणोंका विकास हुआ है। वह उनका पूरा-पूरा व्यवहार करनेका अभ्यास करता है। वह बाह्य इन्द्रियोंसे अतीत वस्तुओंको जानता और मानता है। उनकी खोज करता है। वह इसी खोजमें अनेक शक्तियोंका परिचय पाता है, जो बाह्यकरणोंसे अगोचर हैं। इसी मार्गसे चलते

हुए वह ऐसे शक्तिमान्का अनुमान करता है, जिसमें प्रभुत्व सम्भव है। वह अनेक ऐसे अनुभव करता है, जिनका कारण नहीं जान सकता, फिर भी अनुमान करता है; परंतु कारणोंके परम कारणको वह मनसे भी अतीत पाता है, उसे वह ईश्वर या अन्य किसी नामसे मानने लगता है। मनुष्यके विकासमार्गमें यह आवश्यक और अनिवार्य अवस्था है। इस अवस्थाको अनीश्वर-वादी चाहे भूल भले ही कहें, परंतु इस अवस्थाका आना अनिवार्य है। ऐसी दशामें वह वरवस ईश्वरको किसी-न-किसी रूपमें मानता है। 'चाहिये' वाला नैतिक प्रश्न उसके लिये नहीं रह जाता, वह तो मायाके चक्करमें पड़कर लाचार हो मानता ही है।

'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥'

संसारमें ईश्वरके माननेवालोंकी वहुत वड़ी संख्या है। अनीश्वरवादी तो संख्यामें अत्यन्त कम हैं। वैज्ञानिक देखता है कि मानवसमाजमें ईश्वरवाद एक महान् तथ्य है और विकासमार्गमें आगे वढ़े हुए मीलके पत्थरोंमेंसे है।

(३) क्योंकि रक्षार्थ उसे मानना पड़ता है।

ईश्वरको माननेका एक जीव वैज्ञानिक प्राकृतिक कारण भी है। सृष्टिमात्रमें योग्यतमावशेषका नियम चलता है। वलवान् कम वल-वालेका नाश कर देता है। अतः प्राणिमात्र अपने शत्रुओंसे घिरा हुआ है। मनुष्य भी इसी प्राकृतिक नियमका अनुवर्ती है। इसीलिये प्राणिमात्रमें भयका भाव व्यापक है। शत्रुसे भय या अपनी हानिका भय प्राणिमात्रके मनमें होता है। इसी भावके कारण जीव अपनी

रक्षाका निरन्तर ध्यान रखता है। छुटपन शिशुकी रक्षा माता-पिता करते हैं। बड़े होनेपर यद्यपि वह आत्मरक्षामें समर्थ होता है तथापि माता-पिताके जीते-जी बड़ा सहारा रहता है। माता-पिताके होते और मरे पीछे भी अनेक अवसर ऐसे आते हैं कि जान जोखिममें पड़ जाती है और उबरनेका कोई उपाय नहीं दीखता। प्राणी घबराकर अदृश्य रक्षकका सहारा ढूँढ़ता है। वह बहुत चाहता है कि संकटसे कोई उबारे। ऐसी दशामें वह किसी विभु-प्रभुकी याद करता है। यह साधारण अनुभव भी है कि या तो कोई अदृश्य शक्ति सहायता कर देती है अथवा आत्मबल ही प्रस्फुटित होकर रक्षा कर देता है। भयभीत हो अदृश्य शक्तिकी सहायताकी इच्छा ही ईश्वरकी सत्ताको मनवाती है। आत्मरक्षाके लिये व्यक्ति और जाति तथा समाजरक्षाके लिये जाति और समाज, इसीलिये ईश्वरको मनाते और मानते हैं। यह दुर्बलता स्वाभाविक है, इससे अत्यन्त विकसित हृदय और मस्तिष्कवाला मनुष्य भी बचा नहीं है। इस दुर्बलताके कारण ईश्वरका मानना स्वाभाविक है, अतः मानना ही चाहिये। न मानेगा तो—

'कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥'

(४) क्योंकि नीतिरक्षाके लिये उसका मानना लाभकर है।

ईश्वरको जो मानता है, वह उसे शक्तिमान्, न्यायी और सर्वज्ञ जरूर मानता है। वह सर्वज्ञ है, अतः हम यदि दुराचार करें या अनाचार करें तो वह अवश्य जान जायगा और वह शक्तिमान् और न्यायी है, अतः दण्ड भी जरूर देगा। यह भावना जो ईश्वरवादीके

मनमें दृढ़ रहती है, उसकी अनेक अनीतियोंसे रक्षा करती है। एकान्तमें या किसीके न जानते हुए, अनेक पाप हो सकते हैं। परंतु जिसका ईश्वरमें सच्चा और पक्का विश्वास है, वह एकान्तमें भी ईश्वरकी विद्यमानताका अनुभव करता है और मनुष्यके न जानते हुए भी ईश्वरका जानते रहना निश्चित समझता है। इसीलिये उसके शरीरसे कहीं भी हो, पाप नहीं हो पाता और यदि किसी दुर्बलतासे हो भी जाता है तो उसका उसके मनमें सच्चा पछतावा हुआ करता है। इससे फलतः अनीति या दुर्नीति कर बैठनेपर भी उसके मनका कलुष धुल जाता है।

परंतु ईश्वरके इस दरजेके विश्वासी कम ही होते हैं। अधिकांश तो ईश्वरके विश्वासका दम भरते हैं, परंतु उनके मनमें विश्वास होता नहीं। ऐसे लोग एकान्तमें दुर्नीतिसे नहीं बच सकते। वे ईश्वरके न्यायमें और शक्तिमत्तामें तो शायद विश्वास करते हैं; परंतु सर्वज्ञतामें उन्हें विश्वास नहीं होता। फलतः जब ईश्वरके नामसे शपथ लेनी पड़ती है तब वे हिचकते हैं और झूठी शपथ नहीं खा सकते; परंतु जो ईश्वरकी सत्तामें ही भीतर-भीतर विश्वास नहीं करते, वे ईश्वरके माननेवाले बनते हुए भी किसी कदाचारसे नहीं हिचकते। उनकी ईश्वरवादिता भी खासा दम्भ ही है।

इससे यह स्पष्ट है कि ईश्वरके भयसे मनुष्य नीतिमार्गपर आरूढ़ रहता है, इसीलिये नीतिमार्गकी रक्षाके लिये ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये।

(५) क्योंकि जीवकी उन्नति ईश्वरके माननेसे निश्चित है।

हम दो प्रकारके ईश्वरवादियोंका अभी उल्लेख कर चुके हैं; एक तो सच्चे, दूसरे दम्भी । सच्चे ईश्वरवादीको हमने ईश्वरसे डरनेवाला दिखाया है; परंतु एक और प्रकारके सच्चे ईश्वरवादी होते हैं। इन्हें हम 'भक्त' कहेंगे । गीता और रामचरितमानसमें ये चार तरहके बताये गये हैं और भक्तमालमें रसों और भावोंकी दृष्टिसे पाँच प्रकारके । आर्त्त भक्त संकटसे उद्धार चाहता है, जिज्ञासु ज्ञान चाहता है, अर्थार्थी किसी कामनाकी पूर्ति चाहता है, ज्ञानी केवल प्रेमसान्निध्य या मुक्ति चाहता है । इन चारोंमेंसे एक भी ईश्वरके भयसे, पापसे विरत नहीं होते, वरं उसकी प्रीतिके कारण कदाचारसे बचते रहते हैं । भक्तमालके पाँचों प्रकारोंमें एक बात अवश्य पायी जाती है, वह है—भगवद्गुणोंका अनुकरण । अतः ईश्वरके भक्तोंमें दो तत्त्व मुख्य हैं, एक तो भगवत्से प्रेम और दूसरे उसके गुणोंका अनुकरण । श्रद्धा-भक्ति-प्रेम-अनुकरण साथ-ही-साथ चलते हैं । ये मनुष्यको केवल आचारमें ही नहीं वल्कि जीवकी आध्यात्मिक उन्नतिमें ऊँचा उठाते हैं । ईश्वरका आदर्श इस प्रकार मनुष्यकी भीतरी उन्नतिका विधायक है और भीतरी उन्नति होनेसे वाहरी उन्नति अपने-आप होती रहती है । उन्नति सभी चाहते हैं और सबकी होनी चाहिये । इसीलिये सबको सच्चे मनसे ईश्वरको मानना चाहिये और उसकी भक्ति करनी चाहिये ।

इस प्रकार (१) मनुष्यताके लिये, (२) स्वाभाविकताके लिये, (३) अपनी रक्षाके लिये, (४) नीतिरक्षाके लिये और (५) आध्यात्मिक उन्नतिके लिये—इन पाँचों उद्देश्योंके लिये ईश्वरको मानना चाहिये ।

२—ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?

जब हम इस प्रश्नका कि, ईश्वरको क्यों मानना चाहिये, उत्तर दे चुके, तब इस दूसरे प्रश्नका उत्तर सरल हो गया। यदि मनुष्य ईश्वरको न माने तो उसका अर्थ यह है कि वह आत्माको एवं गुणोंके आदर्शको भी नहीं मानता, जो किसी पुरुषमें इकट्ठे हो सकते हैं और वह आध्यात्मिक भोजनाच्छादन भी नहीं चाहता। दूसरे शब्दोंमें वह मनुष्यताके उस दरजेपर पहुँचनेसे इनकार करता है, जिसे आध्यात्मिकता कहते हैं। वह आहार, निद्रा, भय, मैथुनमें लिप्त पशु-मनुष्य रहना चाहता है। इसपर यह कहा जा सकता है कि वह तुम्हारी तरह आध्यात्मिकताके आदर्शको ऊँची अवस्था नहीं मानता, परंतु मनका विश्वास भी वैज्ञानिकोंने विकासकी ऊँचाईका लक्षण माना है। और ईश्वर या परलोक या आत्मा एवं सदाचारका आदर्श जीवन इत्यादिका मानना-जानना मनके ऊँचे विकासपर ही निर्भर है। अतः वह आध्यात्मिकताके आदर्शको ऊँची अवस्था न भी माने तब भी मनोविकासमार्गमें उसकी गति तो रुक ही जाती है। इस तरह अपनी अनीश्वरवादितामें मनुष्यताकी हानि है और स्वाभाविकताका विरोध है।

संकटके समय अनीश्वरवादी भी किसी औरकी सहायता चाहता है; परंतु जहाँ कोई सहायक नहीं है, वहाँ वह निराधार रह जायगा। प्रार्थना या ईश्वरावाहनसे अपने आपमें जो ढाढ़स, दृढ़ता और शक्ति आती है, वह अनीश्वरवादीको प्राप्त नहीं होती। यह संकटके समय उसकी भारी हानि है। आत्मरक्षा

और जातिरक्षा अनीश्वरवादीको भी अपेक्षित है। अतः इन दोनों बातोंमें भी वह ईश्वरको न माननेके कारण घाटेमें ही रहता है।

अनीश्वरवादीका सदाचारी होना कठिन है। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, मत्सर आदि षड्विकार स्वभावसे ही सभी प्राणियोंमें हैं और मनुष्य तो इनका पुतला है। सबके सामने रहते हुए भी मनुष्य इन विकारोंके वशीभूत रहता है, फिर एकान्तमें तो उसे समाजका भी बन्धन नहीं रहता और वह खुल्-कर खेलता है। जिसे भगवान्‌का भय है, उसे तो एकान्तमें भी रुकावट है, परंतु अनीश्वरवादीको एकान्तमें तो किसीका भय नहीं। उसकी चोरीको देखनेवाला तो कोई नहीं है। उसके नीतिशास्त्रमें समाजका एकमात्र अङ्कुश हो सकता है, परंतु एकान्तका अपराध न तो समाजमें सिद्ध होगा और न वह दण्ड पायेगा। अतः वह उद्दण्ड और दुराचारी हो ही जायगा। इस तरह अनीश्वरवाद मनुष्यको अपराध करनेमें निरङ्कुश कर देता है और दुराचारी बना देता है।

और भक्तिका तो अनीश्वरवादीके निकट कोई प्रश्न ही नहीं है। वह उच्छृङ्खल विचारका मनुष्य अपनेसे बड़ा, अपनेसे अच्छा, अपनेसे गुणवान् दूसरेको क्यों मानने लगा? यदि माने तो वह क्रमशः ईश्वरवादितापर पहुँच जायगा। जैसे जैनमत ईश्वर नामसे तो किसीको नहीं मानता, [क्योंकि उसके निकट संसार अनाद्यन्त है, उसके कर्ता माननेकी आवश्यकता नहीं] परंतु सूरि, मुनि, तीर्थंकर, अर्हत् आदि आदर्श मुक्त पुरुषोंको सदाचार और तपस्या

आदिके लिये मानता ही है, जो कि वस्तुतः अनीश्वरवादित्व नहीं कहा जा सकता ।

जब वह अपनेको सबसे अच्छा इत्यादि मानता है, तब वह आगे बढ़ने और अधिक समुन्नत होनेकी ओर क्यों प्रवृत्त होगा ? इस तरह अनीश्वरवादीकी उन्नति मारी जाती है ।

अनीश्वरवाद गीताके अनुसार आसुरी सम्पत्ति है । आसुरी सम्पत्तिवाले लोग न तो प्रवृत्ति-निवृत्तिको जानते हैं और न उनमें पवित्रता, आचार और सत्य ही रहता है । वे कहते हैं कि 'जगत् अप्रतिष्ठ, असत्य, ईश्वररहित और केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही उत्पन्न है । यह केवल कामहेतुक ही है । इस प्रकारकी दृष्टिका अवलम्बन करनेवाले वे नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, सबका अहित करनेवाले, क्रूरकर्मा मनुष्य जगत्के नाशके लिये ही उत्पन्न होते हैं । वे दम्भ, मान और मदसे भरे हुए लोग कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आसरा लेकर मोहवश मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्टाचारी होकर संसारमें वर्तते हैं । मौतकी शेष घड़ीतक वे अनन्त चिन्ताओंमें डूबे हुए रहते हैं और विषयभोगको ही आनन्द मानकर बस, उसीमें लगे रहते हैं । सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधपरायण वे लोग विषयोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायपूर्वक धन इकट्ठा करनेकी चेष्टा करते हैं । इसी उधेड़बुनमें रहते हैं कि आज यह पाया, अब हमारा वह मनोरथ पूरा होगा । मेरे पास इतना धन है फिर इतना और होगा । आज उस वैरीको मारा, अब दूसरोंको मारूँगा । मैं ही ईश्वर, भोगी, सिद्ध,

बलवान् और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनी, बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा, इस प्रकारके अज्ञानमें वे मोहित रहते हैं। यों अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले वे आसुरी सम्पदायुक्त लोग मोहरूप जालमें फँसे हुए विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त होकर अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।' (गीता अ० १६। ७ से १६)

परंतु अनीश्वरवादी न तो गीताको मानता है और न गंदे नरकमें गिरना ही मानता है; किंतु मानने या न माननेसे कुछ होता-जाता नहीं। कर्मानुसार फल तो मिलेगा ही।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अतः उसकी तो भारी हानि यह है कि वह आगे बढ़नेके बदले पीछे हटता है, ऊपर उठनेके बदले निरन्तर नीचे गिरता जाता है। इस भारी हानिका कोई प्रतीकार नहीं है।

३—ईश्वरके होनेके कौन-कौनसे प्रबल प्रमाण हैं?

(१) वैज्ञानिक कल्पनाकी सीमा

कारण और कार्यवाला तर्क तो पुराना है। सभी जानते हैं। कारण कई प्रकारके होते हैं, परंतु मिट्टी भी वही हो, कुम्हार भी वही हो और घट भी वही हो, तो कार्य-कारण-सम्बन्धका झगड़ा नहीं रहता। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्म ही है, फिर उसके लिये प्रमाणकी खोज ही व्यर्थ है। सत्तामात्र ईश्वर है तो उसे सिद्ध करनेका प्रश्न ही क्या? सत्तामें व्यक्त, अव्यक्त, जड और चेतन—चारों प्रकारोंकी सत्ताओंका संनिवेश है। जिस प्रकार हम आत्मा-मनस् और इन्द्रियोंसे

बने हुए सम्पूर्ण व्यक्तिको ही देवदत्त नामका एक पुरुष मानते हैं, उसी तरह व्यक्ताव्यक्त जडचेतनमय सम्पूर्ण विश्व और विश्वात्माकी कल्पना करके इस सम्पूर्ण सत्ताको ही ईश्वर नामका एक पुरुष मानते हैं। अनीश्वरवादी विश्वात्माको नहीं मानता, परंतु वह विज्ञानके एकतावाले निष्कर्षपर तो अन्तको पहुँचता ही है, चाहे उसे वह ईश्वर नाम भले ही न दे।

अखिल सत्तामें एक ही जीवनकी अभिव्यक्तिको आचार्य वसुने जो प्रमाणित किया है, वह जीववैज्ञानिक विचारकी पराकाष्ठा है।

अखिल सत्तामें एक ही जीवनकी अभिव्यक्तिको आचार्य टामसन-ने जो प्रमाणित किया है, वह भौतिक विज्ञानके विचारकी पराकाष्ठा है।

अखिल सत्तामें एक ही सत्ताकी अभिव्यक्ति, जो रासायनिक खोजोंका अन्त है, वह रसायनविज्ञानके विचारकी पराकाष्ठा है।

अखिल सत्ता अनादि, अनन्त और निरन्तर परिवर्तनशील, अनन्त देश और अनन्त कालमय है, ज्योतिर्विज्ञानका यह अन्तिम निष्कर्ष और महतो महीयान्‌का स्वरूप है।

अखिल सत्तामें सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवन और सत्ता है, जो अणु-वीक्षणसे भी अभेद्य और अगोचर है, जो अणोरणीयान्‌का दूरसे पता देता है, यह जीवाणुविज्ञानसे सिद्ध है।

जीवविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायनविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान और जीवाणुविज्ञान—ये क्रमशः जीव, शक्ति और सत्ताकी एकता प्रतिपादित करते हैं और 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' को व्यक्त करते हैं। एक विज्ञानकी ये पाँच शाखाएँ हैं। इनका मूल 'विज्ञान' है, जहाँ

पाँचों एकत्र होते हैं और जिनके अलग-अलग निष्कर्षोंको एकत्र करनेसे दार्शनिकोंके ईश्वरकी सिद्धि होती है। इसे अनीश्वरवादी सहजमें ही क्लिष्ट कल्पना कह सकता है; क्योंकि वह यदि चार्वाकके अनुसार प्रत्यक्षेतर प्रमाण नहीं मानता तो वह ईश्वरको तभी मानेगा जब वह उसके लिये प्रत्यक्ष हो जाय। ईश्वर यदि देहधारी भी हो तो भी यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्यक्ष हो ही जाय। प्रत्यक्षका न हो सकना सभी दशाओंमें अभावका प्रमाण नहीं है। एक चींटी हाथीके सम्पूर्ण शरीरको देख नहीं सकती। हमारे शरीरके किसी सेलको हमारे शरीरके अत्यन्त सूक्ष्मांशसे अधिक दिखायी नहीं दे सकता। यदि वह सेल प्रत्यक्षको ही माननेवाली हो तो वह कह सकती है कि नरदेह-जैसी कोई वस्तु नहीं होती। ईश्वर यदि हमारे लिये उतना ही महान् हो जितने कि हम सेलके लिये हैं तो वह हमें कदापि दीख नहीं सकता। अतः चार्वाकानुयायीका यह कहना कि इन्द्रियातीत सत्ता मान्य नहीं है, बुद्धिके विरुद्ध है।

यह भी विचारणीय है कि हम किसीको कैसे पहचानते हैं। देवदत्तको हम देवदत्त करके इसीलिये जानते हैं कि एक मुद्दतसे हम इसी नामसे पुकारते आये हैं। उसके व्यक्तिगत गुणोंको जानते हैं। देवदत्तका शरीर बराबर बदलता रहता है। रूपान्तर होता रहता है। बाल्यावस्थाका रूप और है युवावस्थाका और। बुढ़ापेमें उसका रूप भिन्न हो जाता है। फिर भी हम देवदत्त ही पुकारते हैं। उसके शरीरके साथ नामकी रूढ़ि है। जब वह शरीर छोड़ देता है, तब कहते हैं 'देवदत्त मर गया।' देवदत्त हम किसे कहते थे? निश्चय ही उसके उस चेतनाको कहते थे जो उक्त नामधारी

शरीरमें थी, अन्यथा, यदि शरीरको कहते तो शरीरके बदलते रहनेसे नाम भी बदलता जाता। चेतना वही रही, अतः नाम भी वही रहा। चेतना चली गयी, नाम भी चला गया; परंतु चेतना हमारी स्थूल इन्द्रियोंसे अतीत है। सूक्ष्म इन्द्रियाँ उसके अस्तित्वसे परिचित थीं। नाम चेतनाका ही था। व्यक्तिभेद समझनेके लिये ही रूपकी अपेक्षा थी। अतः नामका सम्बन्ध केवल चेतनासे था, वही नामी था। आत्माको चाहे कोई मरण-शील माने, चाहे अमर, परंतु व्यक्तिमें आत्मा ही नामी है। ईसाई-जगत्‌में फ्रांसका प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्टेअर अनीश्वरवादी था। फिर भी वह आत्माका अस्तित्व मानता था। 'अयमात्मा ब्रह्म' 'यह आत्मा ब्रह्म है' इस महावाक्यके माननेवाले आत्माको ही ब्रह्म मानते हैं। आत्मा ही ईश्वर है। परंतु जो आत्माका मृत्युके साथ विनाश मानते हैं, वह इस तरह ईश्वरका भी विनाश मानेंगे। परंतु आत्माकी मरणान्तर अवस्थिति हजारों प्रयोगोंसे सिद्ध हो चुकी है। लंदनकी परान्वेषणपरिषद्‌ने एवं संसारके अनेक वैज्ञानिकोंने सिद्ध कर दिखाया है कि स्थूल शरीरके छूटनेसे व्यक्तिका नाश नहीं होता। व्यक्ति बहुत कालतक परलोकमें सूक्ष्म शरीरमें बना रहता है। जन्मान्तरके भी अनेक प्रमाण मिले हैं। अतः व्यक्ति-की या आत्माकी अमरता साधारणतया सिद्ध है। अब इस अमर आत्माको ही ब्रह्म मानें तो ईश्वर या ब्रह्मकी संख्या अनन्त हो जाती है, यह तो स्पष्ट है। दर्शनोंके इस सम्बन्धमें क्या मत हैं, यहाँ देनेकी आवश्यकता मैं नहीं समझता। मैं तो वैज्ञानिक कल्पना यहाँ रखना चाहता हूँ।

(२) 'अयमात्मा ब्रह्म' की कल्पना

हमारा शरीर असंख्य जीवित अणुओंका बना हुआ है, जिन्हें 'सेल' कहते हैं। ये जीविताणु बहुत सूक्ष्म हैं, परंतु अणुवीक्षण-यन्त्रद्वारा देखे जा सकते हैं। ये भोजन करते हैं, बढ़ते हैं, एकसे अनेक होते हैं, अपना व्यक्तिगत जीवन रखते हैं, उनके व्यक्तिगत कर्तव्य हैं, उनकी अलग-अलग जातियाँ हैं। इन्हीं सेलोंसे जीवनका विकास आरम्भ होता है। इनमें जैसे और सब अवयव सूक्ष्मरूपसे हैं उसी तरह चेतनाका भी सूक्ष्म रूप है। यह सम्पूर्ण सेल-समूह इस प्रकार सूक्ष्म चेतनासमूह है, जो हमारे शरीरके अविज्ञात कर्मोंका अविज्ञातरूपसे नियमन करता रहता है। इसीका बहुत विकसित रूप वह चेतना है, जो सम्पूर्ण शरीराभिमानी आत्माके रूपको व्यक्त कराती है। विकासवाद इस प्रकार मानव-चेतनाको चेतनाके विकासकी पराकाष्ठा समझता है, परंतु परलोकविज्ञानसे पता चलता है कि चेतनाके विकासकी अन्तिम अवस्था मानवयोनि नहीं है। मानवयोनिसे कहीं अधिक विकसित योनियाँ भी सम्भव हैं, जो हमारी इन्द्रियोंसे परे हैं। जर्मन दार्शनिक नीट्शेके परमानवकी तो कल्पनामात्र है, परंतु परान्वेषणसे तो सिद्ध है कि परमानवसे भी अधिक विकासमार्गमें ऊँची श्रेणीके प्राणी मौजूद हैं, जो पता देते हैं कि चेतनाके विकासकी इति वहीं नहीं है। चेतनाके उस दरजेके विकासकी भी कल्पना हो सकती है जिसे 'इति' कह सकते हैं। यदि 'अयमात्मा ब्रह्म' वाले सूत्रके अनुसार आत्माको ब्रह्म मानें तो उस विकसित रूपको जहाँ चेतनाके विकासकी इति हो सकती है, हम 'परब्रह्म' कहें तो

अनुचित न होगा । ऐसा व्यक्ति एक ही हो सकता है । शक्ति-विज्ञानकी सर्वशक्तिमत्ता एक ही व्यक्तिमें सम्भव है । सम्पूर्ण सत्ताका एक मूल एक ही व्यक्तिमें सम्भव है । एक ही व्यक्ति मूलसत्तावान् सर्वशक्तिमान् परब्रह्म हो सकता है । यह अनुमान और तर्कसे परिपुष्ट कल्पना है । विज्ञान इसका समर्थन करता है ।

प्रत्यक्षवादी कह सकता है कि परब्रह्मकी सत्ताका क्या प्रत्यक्षीकरण हो सकता है ? क्या इन्द्रियोंद्वारा तुम उसका अनुभव करा सकते हो ? उससे यह प्रश्न करना समुचित होगा कि क्या तुम इन्द्रियोंके द्वारा आत्माका अनुभव करा सकते हो । अनुभव करनेवाला कौन है ? द्रष्टा कौन है ? ज्ञाता कौन है ? वह तो वही अहंता है न, जो अन्तरात्माका बाहरी प्रतीक है ? उसी अन्तरात्माको जानना है, जो स्वयं ज्ञाता है । उसी अन्तरात्माको देखना है, जो स्वयं द्रष्टा है । उसीका अनुभव करना है, जो स्वयं अनुभव करता है । ज्ञातव्य वा द्रष्टव्य वस्तु जब ज्ञाता और द्रष्टासे भिन्न हो, तभी तो जानना या देखना सम्भव है ! इन्द्रियोंकी शक्तिका स्रोत तो वही है । चीमटा पकड़नेवाले हाथको ही कैसे पकड़ सकता है ? अपनी आँखोंसे अपनी आँखोंका ही प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? कोई अपने ही कंधोंपर कैसे बैठ सकता है ? आत्माका जानना या देखना आत्माके ही लिये जैसे असम्भव है, परमात्माका जानना या देखना भी आत्मा या उसके हथियारोंके लिये असम्भव है, तो इसलिये कि इस विश्वशरीरमें वह सेलकी तरह इतना सूक्ष्म है और इतना छोटा अंश है कि

उसकी इन्द्रियाँ परमात्माकी महतो महीयान् सत्ताको छू भी नहीं सकतीं, उसके पास भी नहीं फटक सकतीं।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

या यदि आत्माको पूर्ण और परमात्मासे अभिन्न मानें तो अखिलात्माको जाननेका प्रयत्न आत्माके लिये असम्भव हो जाता है। एक ओरसे 'अणोरणीयान्' और दूसरी ओरसे 'महतो महीयान्' प्रत्यक्ष ज्ञानका बाधक है।

(३) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की कल्पना

यहाँतक हमने अद्वैतेतर कल्पनापर विचार किया है। अद्वैतवादीकी एक विशेष शाखा सत्तामात्रको—जड-चेतन, व्यक्ताव्यक्त समस्त सत्ताको—ब्रह्म कहती है, जिससे स्वयं कहनेवाला भी अलग नहीं है। अनेक अनीश्वरवादी इस पक्षको मानते हैं और कहते हैं कि सत्तामात्रको ब्रह्म मानना और प्रकृतिमात्रको मानना एक ही बात है। ईश्वरवादी इस जगत्के कर्ता या परम कारणको ईश्वर मानते हैं, परंतु यह अद्वैतवादी जगत्को ही ईश्वर मानता है, उससे विलग कोई कारण नहीं मानता। कारणवादी कहता है कि हम विश्वमें प्रतिक्षण निरन्तर परिवर्तन देखते रहते हैं और इन परिवर्तनोंका कारण होता ही है, अतः यह अनुमान समीचीन है कि जगत्का कोई परम कारण अवश्य होगा। जडवादी कहता है कि प्रकृतिके नियमसे अपने-आप निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं; इनका कारण स्वभाव ही है जो प्रकृतिसे अभिन्न है, अतः प्रकृति या जगत् स्वयं अपना कारण है। यदि यह जड प्रकृति

ही ईश्वर है तो उसकी उपासना मूर्खता है; क्योंकि जडको न तो उपासनाका ही पता है और न वह उपासकसे प्रसन्न होकर कोई पुरस्कार ही दे सकता है। इस तरह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के माननेवाले चेतनवादी और जडवादी दोनों ही हैं। चेतनवादी 'तज्जलानिति शान्तमुपासीत' को भी मानता है। जडवादी नहीं मानता। कुछ भी हो, सम्पूर्ण सत्ताको ईश्वर माननेवालेको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सत्ताका जो अंश प्रत्यक्ष है, उससे ही पूर्णका अनुमान हो जाता है। यह सबसे प्रबल प्रमाण है।

(४) अनुभूत ज्ञान

ईश्वरवादी सगुण और निर्गुण दो प्रकारकी ईश्वरोपासना करते हैं। सगुण उपासनाका सिद्धान्त समझमें आना अत्यन्त कठिन है; परंतु विधि अधिक सुगम है। निर्गुण उपासनाका सिद्धान्त समझमें आना कठिन नहीं है, परंतु विधि अत्यन्त कठिन है। निर्गुण-उपासक भी परमात्मसत्ताका अनुभव अन्तमें करता ही है, परंतु—

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।'

सगुण उपासनाके सुगम मार्गमें भी जो अनुभूति दुर्लभ है, वह निर्गुण उपासनाके कठिन मार्गमें तो और भी दुर्लभ है और समाधि-अवस्थाकी अनुभूति भी क्या, जो अवर्णनीय और अनिर्वचनीय होती है। फिर भी जिसने एक वार ऐसी अनुभूति कर ली, उसे तो अपने लिये कुछ करना बाकी नहीं रहा।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

सगुण-उपासक अनेक प्रकारकी उपासनाएँ करता है। साकार उपासना करनेवाला भगवान्‌के किसी एक आकारकी कल्पना करके उसके ध्यानमें रहता है और जिसकी तपस्या एक हदतक पहुँच जाती है, वह दर्शनलाभ भी करता है। इस तरहके प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले अनेक भक्त हैं। इस तरहके अनुभवजनित ज्ञान प्राप्त किये हुए भक्त इस बातके गवाह हैं कि ईश्वर है। इस प्रत्यक्षसे अधिक प्रबल कोई प्रमाण ही नहीं हो सकता।

इस प्रमाणके विरुद्ध कई आपत्तियाँ हो सकती हैं। एक भारी आपत्ति तो यह है कि अनुभव करनेवाला स्वयं धोखा खा सकता है, उसे दृष्टिकी भ्रान्ति हो सकती है, वह मायाका रूप देख सकता है। रावणने मायासे सीताजीको राम-लक्ष्मणके कटे सिर दिखा दिये थे। सेनामें वानरोंको राक्षसोंके बदले सर्वत्र राम-लक्ष्मण ही दीखते थे। स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रने मायाकी सीताका हरण कराया था। अतः बहुत सम्भव है कि जिन्हें विष्णुभगवान्‌के, भगवान् रामचन्द्रजीके, भगवान् शङ्करके अथवा भगवतीके दर्शन हुए हैं, वे मायारचित रूप रहे हों; किसी दैत्य, राक्षस, पिशाच आदिने पूजा लेते रहनेके लिये वह रूप धारण कर लिया हो।

यह आपत्ति वस्तुतः महत्त्वकी है। दर्शन उतना आसान नहीं है जितना कि आम तौरसे समझा जाता है। जो लोग भगवद्दर्शनके लिये विशेषरूपसे तपस्या करते हैं, वे इन मायाकृत प्रपञ्चोंसे अनभिज्ञ

नहीं होते। वे उससे बचनेके उपाय करते हैं और भगवान् ठगों और धूर्तोंकी मायासे अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं, परंतु शर्त यह है कि शुद्ध मनसे प्रसन्न हों। हठी भक्त मायाकृत रूपसे कभी संतुष्ट नहीं होते। स्वायम्भुव मनु और शतरूपाने जिस रूपके दर्शनोंके लिये घोर तप किया था, उसके बदले——

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥
मागहु बर बहु भाँति लोभाए।......................

परंतु वे तपस्वी लोग त्रिमूर्तिसे भी संतुष्ट न हुए। उनकी तपस्या ऐसी थी कि जब त्रिमूर्ति उन्हें अपने व्रतसे डिगा न सकी तो आसुरी माया क्या करती। बहुत-से अनुभवी धोखा खा सकते हैं, यह बात मानी जा सकती है, पर सभी अनुभवी धोखा नहीं खा सकते। फिर, मायाका रूप दिखलाकर संतुष्ट करनेका प्रयत्न ही इस अनुमानको पुष्ट करता है कि भगवान्‌का सगुण रूप असम्भव नहीं है।

दूसरी आपत्ति यह हो सकती है कि अनुभवका नाम लेकर अनुभवी जगत्‌को ठगना चाहता है। यह आपत्ति समीचीन है। परंतु भगवद्दर्शनका अनुभव अत्यन्त गोप्य है, वह किसीसे बतलानेका विषय नहीं है, रोजगारकी वस्तु नहीं है। यह ऐसी बात नहीं कि अनुभवी किसी दूसरेको अनुभव करा सके। यदि कोई ऐसा रोजगार करता है तो उसकी गवाहीका हमारे सामने कोई मूल्य नहीं है। हम उसीकी गवाही मानते हैं, जो निःस्वार्थ हैं और ऐसे निःस्वार्थ

अनुभवशील महात्माओंका साक्ष्य नितान्त दुर्लभ नहीं है। स्वामी विवेकानन्द पहले घोर नास्तिक थे। रामकृष्ण परमहंससे शास्त्रार्थ करने आये तो अन्तमें ललकारा कि तुमने ईश्वरको देखा है? और देखा है तो हमें भी दिखाओ तो हम विश्वास करें। परमहंसजीने मुसकराकर कहा—'अच्छा, आया करो, हम दिखा देंगे।' स्वामी विवेकानन्द कैसे आस्तिक बन गये, दुनिया जानती है।

तीसरी आपत्ति यह हो सकती है कि यदि ईश्वर है तो उसका अनुभव हर एकको होना सम्भव होना चाहिये, फिर हम दूसरेके अनुभवका अवलम्बन क्यों करें। इस आपत्तिमें समझकी भारी भूल है। जितनी वस्तुएँ हैं सबका अनुभव सबको सम्भव नहीं है। हमारी देहमें रोगाणु प्रवेश करते हैं, उनके प्रवेशको हम अनुभव नहीं करते। अनुभव कर सकना सम्भव भी नहीं। फिर हर एक यदि शिकागो नहीं जा सकता तो जो हो आये हैं, उनके कथनपर विश्वास करके शिकागो नगरके अस्तित्वपर सभी विश्वास कर सकते और करते हैं। विज्ञानमें हजारों प्रयोग इस तरहके हैं कि हर वैज्ञानिकको सुलभ नहीं हैं, फिर भी जिन थोड़े-से विद्वानोंको सुलभ हैं, उनके प्रयोगोंपर सभी विश्वास करते हैं। रेडियम आदिपर परीक्षा करनेके लिये बहुत धन चाहिये। कम ही लोग उसपर प्रयोग करते हैं; परंतु संसार उनपर विश्वास करता है। इसी तरह यदि थोड़े-से तपोधन ईश्वरका साक्षात् कर चुके हैं, तो उनकी गवाही, उनका आप्तवाक्य, हमारे लिये सर्वथा मान्य होना चाहिये।

इन तीनों आपत्तियोंपर विचार करके अनुभवसे बढ़कर प्रबल कोई प्रमाण नहीं ठहरता।

(५) वैज्ञानिक अनुभवसे निष्कर्ष

लंदनकी परान्वेषण-परिषद् एवं अन्य देशोंकी परान्वेषण-संस्थाओंने परलोकविद्यासम्बन्धी खोजें की हैं। इनसे यह मालूम हुआ है कि मरनेके अनन्तर भी मनुष्यका व्यक्तित्व बना रहता है और मरा व्यक्ति किसी अदृश्य लोकमें रहता है, जो हमारे संसारसे दूर या अलग नहीं है; किंतु निकटतम है। इन लोकोंसे भी अदृश्य और सूक्ष्म लोक और प्राणी हैं। इन अनुभवोंसे कम-से-कम इतना तो सिद्ध ही है कि हमारी अदृश्य चेतना अदृश्य शरीरमें रहती है और उसके लिये जगत् भी है जो हमारे लिये अदृश्य है। ईश्वरका पता उन्हें भी नहीं है फिर भी अदृश्य जगत्, अदृश्य सृष्टि, अदृश्य व्यक्तित्व और अदृश्य वस्तुकी सत्ताका तो हमें प्रमाण मिलता ही है। दृश्य-अदृश्य सभीमें हमें सत्ता ही नहीं मिलती; बल्कि हमें बुद्धिपुरस्सर संगठन और संचालन मिलता है, विवेकपूर्ण नियम मिलते हैं, पद-पदपर अत्यन्त ऊँची विवेकशीला परमशक्तिशालिनी बुद्धिमती चेतनाकी सत्ताका परिचय मिलता है। राईसे ब्रह्माण्डतक, परमाणुसे विश्वतक, अत्यन्त स्थिररूपसे गणितके काँटेपर तुले बावन तोले पाव रत्तीतक ठीक-ठीक व्यापक नियमोंका पालन और संचालन मिलता है। यह सृष्टिके बड़े-से-बड़े दिमागको नगण्य बना देता है और सर्वशक्तिमान् परमात्माका पता देता है। बुद्धिग्राह्यता इतनी ही है। इसीलिये ज्ञेयको 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' कहा है।

(४) उसकी सत्ता और दयामें विश्वास बढ़ानेवाले स्वानुभव

(१) अनुभवोंका निष्कर्ष

अपने अनुभव कहनेमें बड़ा संकोच होता है और उसका विस्तार यहाँ इसलिये भी अभीष्ट नहीं है कि सिवा इसके कि पाठक मेरी सदसद्विवेकवती बुद्धि और कथनपर विश्वास कर लें और कोई प्रमाण नहीं है। वे यह मान लें कि मैं सत्य कहता हूँ, दम्भ नहीं करता, और अपने अनुभवोंमें एक वैज्ञानिककी हैसियतसे मैंने धोखा नहीं खाया है, और मेरे निष्कर्ष ठीक ही होंगे, तो मुझे विस्तारकी आवश्यकता भी नहीं रहती। इसीलिये मैं अपने अनुभूत निष्कर्ष यहाँ दे देना चाहता हूँ।

(१) अदृश्य लोकोंकी, अदृश्य प्राणियोंकी और समस्त विश्वके उद्भव-स्थिति-संहारकर्त्ताकी सत्ता सत्य है। ईश्वर है। सगुण-उपासकोंको उनकी श्रद्धाके अनुसार उनके उपासित नामरूपसे अपना अनुभव करा देता है। उसके नाम और रूप सभी सत्य हैं।

(२) सृष्टि उसकी लीला है और वह अपनी सृष्टिमें स्वयं सर्वत्र अवतरित होकर भाँति-भाँतिके अभिनय करता रहता है।

(३) सब तरहकी वैध उपासनाओंसे वह प्राप्य है, और यदि वैध उपासना सम्भव न हो तो वह केवल नामजपसे भी प्राप्य है।

(४) संसारके सभी आस्तिक अपने-अपने मार्गसे वैध उपासनाद्वारा उसे पाते हैं और संसारके सभी देशोंमें ही नहीं, विश्वके सभी देशोंमें वह अवतरित होकर लीला करता और भक्तोंका उद्धार करता रहता है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' समस्त विश्वोंके लिये है।

उसकी दया अखिल विश्वपर है, परंतु जो भजता है, उससे विशेष ममता है। और जो जैसे भजता है, वैसे ही उसे भगवान् भी भजते हैं।

(२) अनुभवोंकी चर्चा

फिर भी मैं अपने कुछ अनुभव संक्षेपसे इस दृष्टिसे देना चाहता हूँ कि पाठकोंको यह मालूम हो जाय कि मुझे भगवान्‌की कृपाओंका कितना कृतज्ञ होना चाहिये और मैं वस्तुतः किस दरजेका कृतघ्न हूँ।

पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यौ न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सियपीके॥

(१) तीन-चार वर्षकी अवस्थामें पड़ोसके सूने घरमें घुस गया, आग लगा दी और स्वयं उसमें जल मरता, परंतु रक्षा की गयी। घर जल गया।

(२) लड़कपनमें भिन्न-भिन्न अवसरोंपर तीन बार गोमती नदीमें डूबा। तीनों बार रक्षा की गयी। तैरना इन घटनाओंके पीछे सीखा।

(३) युवावस्थामें तीन बार इक्का टूटा और लोगोंको चोट आयी। मेरी पूरी रक्षा की गयी। ये घटनाएँ तीन भिन्न-भिन्न अवसरोंकी हैं।

(४) युवावस्थामें एक वार जंगलमें राह भूल गया। रातभर भटकता रहा। रक्षा की गयी और ठीक राहपर लगाया गया। घटना संवत् १९५६ की है।

(५) आषाढ़की सरयूमें चालीस मीलकी यात्रापर चले। आधी रातमें बड़ी भयानक आँधीमें बीच नदीकी अथाह जलराशिमें ऊँचे मेड़ोंके

बीच डगमगाती छोटी पतवारहीन डोंगीपर सात जने यात्री थे, मुख्यतः उसमें मैं ही था, मेरी प्रेरणासे ही वे छः सहयात्री बने थे। रामनामके घोर निनादके साथ हम सभी डूबनेवाले थे, परंतु इस नामघोषके प्रतापसे बीचमें थाह मिल गयी। घुटनोंतक जल हो गया! असंख्य घड़ियालोंके बीच देरतक खड़े रहे। चाँदनी निकल आयी। दोनों किनारे नहीं दीखते थे, परंतु पास ही लगभग ३० गज लंबा, दस गज चौड़ा टापू दीखा। उसपर शेष रात बितायी। रातभर घड़ियालों-के डरसे 'राम-राम' का घोर निनाद करते रहे। बीस गजपर घड़ियालोंका झुंड टापूपर लेटा था। सबकी रक्षा हुई। सबेरे किनारे-पर गये। यह घटना संवत् १९७२ की है।

(६) मेरी एक लड़की, जो मौजूद है, तीन वरसकी अवस्थामें मर गयी थी। भगवत्कृपासे उसे पुनरुज्जीवन प्राप्त हुआ। यह घटना संवत् १९७७ की है।

(७) तुलसीजयन्तीके लिये बस्ती जानेको सामान बँधा था कि तीन वरसकी लड़की कमला खेलते-खेलते गिरी, साँस रुक गयी, धुकधुकी बंद हो गयी, तुरंत ही प्रसाद और रामनामके प्रभावसे पुनरुज्जीवन हुआ। जब पुनरुज्जीवनका आरम्भ हो रहा था, उसी समय पड़ोसी डाक्टर अब्दुल करीमने आकर देखा तो कहा, 'अफसोस' यह तो मर रही है!' मैंने कहा, 'नहीं! अब तो जीवित हो रही है, मर गयी थी।' वस्तुतः मरनेकी उलटी क्रियाको डाक्टरने स्वभावतः मरना समझा था। प्रभुने जिलाकर मेरी यात्रा निर्विघ्न कर दी। यह घटना श्रावण शुक्ला ५ संवत् १९९० की है।

(३) असंख्य अपराधोंकी अपने-आप क्षमा

मेरे जीवनमें बहुत ही विचित्र घटनाएँ हुई हैं। एक वार पितृपक्षमें मुझे जो-जो अनुभव हुए, वे आशातीत थे और एक अत्यन्त अयोग्य अकिञ्चन किङ्करपर लोकातीत कृपाके परिचायक थे। उसी पक्षमें दीक्षा पायी। मेरी उपासनाका रूप, जो अनेक जन्मोंसे चला आ रहा था, वतलाया गया। मुझे अभिमान था कि मैं मानसिक पूजा और उपासनाका अधिकारी हूँ, मुझे पता लगा कि अभी मूर्तिपूजाके वर्गसे मैं ऊपर नहीं उठा हूँ, मुझे वही करना चाहिये। इस कठिन मार्गमें मैं विधिवत् लगाया गया। संवत् १९८२ के आश्विन शुक्ला एकादशीको भगवद्विग्रहोंकी वेदविधि-से प्राणप्रतिष्ठापूर्वक स्थापना हुई। प्रतिष्ठाके समय संगमरमरकी मूर्तियाँ वड़े जोरसे काँपने लगीं। उनमें विशेष प्रकारका ओजस्, तेजस् आ गया। दीक्षाके वाद शिक्षा दी जाने लगी। वह आज भी समय-समय-पर मिलती है। शङ्काओंका निवारण होता रहता है। तवसे अवतक कृपाओं-की अनवरत वर्षा होती आयी है। 'पल-पलके उपकार' वाली उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती रहती है। कितनी ऊँची अभिलाषाएँ पूर्ण की गयी हैं। उनका वर्णन करना असम्भव है। भगवान्‌ने ऐसे पतित-को इतना कभी अपनाया है, मुझे तो विश्वास नहीं होता! मुझे इस वातका भारी गर्व है।

मूर्तिपूजा अत्यन्त कठिन प्रकारकी उपासना है। नित्यके विहित शौचाचारका पालन कहाँ हो सकता है? ठीक-ठीक सामग्री कव प्रस्तुत होती है? वेलपत्र कैसा हो, कितना हो, कौन फूल हो कौन न हो, माला कैसे पहनायी जाय। कैसी मूर्तिसे पूजाके समय

कैसा व्यवहार हो, घंटा, शङ्ख, कलशादि पार्षदोंकी कैसे पूजा हो, इनका स्थान कहाँ-कहाँ कब-कब है, किसे क्या गन्ध चाहिये, किसे क्या अक्षत चाहिये, धूप कैसा हो, दीप कैसा हो, कैसे अर्पण हो, बालभोग-राजभोगके क्या नियम हैं, स्नानादिकी क्या विधि है, आरती कैसे हो, आसन-शयनादि सबकी विधियाँ और नियम, चरणामृत और प्रसादके ग्रहणतककी विधियाँ और नियम सभी ऐसे बारीक और विस्तृत हैं कि पुजारीको अन्तमें यह प्रार्थना करनी आवश्यक नहीं बल्कि बिल्कुल सत्य और ठीक ही है कि हमसे पूजा ठीक नहीं बनती है, जो कुछ अपराध हों, क्षमा किये जायँ।

मैं तो पूजाकी विधि जानता ही न था। बतलाया भी गया तो बहुत आवश्यक अङ्ग। विस्तारके लिये पुस्तकें देखीं, तो अपने दोषोंका पता लगा; परंतु देखा कि सब नियमोंको कण्ठाग्र कर लेनेपर भी नित्य भारी-भारी भूलें होती ही रहती हैं और कोई-न-कोई न्यूनता होती ही है। इतनेपर भी दोषोंको स्वीकारकर क्षमाप्रार्थनातक करना मैं भूल जाता था। निवेदन करनेपर मालूम हुआ कि 'दोषोंपर कहीं ध्यान दिया जाता है? चुपचाप उसी मार्गसे चले चलो।' सच है—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

इस अपरिमित दयाका भी कहीं वर्णन सम्भव है! भगवान्‌की सत्ता तो मेरे लिये इतना अखण्ड सत्य है, जितनी कि मेरी अपनी सत्ता मेरे लिये नहीं हो सकती, और भगवान्‌की दया तो मेरे लिये उतना ही अमिट तथ्य है, जितनी कि मेरी भारी अयोग्यता, जिसका हाल मेरे सिवा भगवान् ही जानते हैं।

ई० स० म० २७—

रायबहादुर लाला श्रीसीतारामजी, बी० ए०

१—आप जानते हैं कि हमारे धर्ममें ईश्वर हमारी अपील तभी सुनता है, जब हममें प्रीति, प्रतीति और गति तीनों होती हैं, जो तुलसीदासजीने कृष्णगीतावलीमें लिखा है—

तुलसी निरखि प्रतीति प्रीति गति आरत-पाल कृपाल मुरारी ।
बसन बेष राखी बिसेष लखि बिरदावलि मूरति नर-नारी ॥*

द्रौपदीजीकी साड़ीका बढ़ जाना कपोलकल्पित घटना माननेवालोंको हम क्या कहें, परंतु आजकलका विज्ञान आत्मबल (Will-force) की बड़ी महिमा बताता है। यही बल है जिसके कारण एक मुट्ठीभर हड्डीका बूढ़ा बड़े-बड़े शक्तिशालियोंको शङ्काके चक्करमें डाल देता है। उसके पास न कोई अस्त्र है, न शस्त्र, न धन है, न राज्य है, केवल यही एक आत्मबल अभिमानियोंका

---

* जिन महाशयने कृष्णगीतावलीको नहीं पढ़ा है, उनके लिये पद लिखा जाता है—

कहा भयो कपट जुआ जो हौं हारी।
महावीर रनधीर पाँच पति क्यों देहैं मोहि होन उघारी ॥
राज समाज सभासद समरथ भीषम द्रोन धर्मधुरधारी ।
अबला अनघ अनवसर अनुचित होत हरि करिहैं रखवारी ॥
यों मन गुनत दुसासन दुरजन तमक्यो तकि गहि दुहुँ कर सारी ।
सकुच गात गोवति कमठी ज्यों हहरी हृदय बिकल भइ भारी ॥
अपनेनिको अपनो बिलोकि बल सकल आस बिस्वास बिसारी ।
हाथ उठाय अनाथ-नाथ सों 'पाहि पाहि' प्रभु पाहि पुकारी ॥
तुलसी निरखि प्रतीति प्रीति गति आरत-पाल कृपाल मुरारी ।
बसन बेष राखी बिसेप लखि बिरदावलि मूरति नर-नारी ॥

गर्व चूर करनेमें समर्थ हो जाता है। किसीकी हिम्मत नहीं पड़ती कि एक ही वारमें उसका काम तमाम कर दे। यह आत्मबल ही सही, परंतु इस आत्मबलका संचालक कौन है ?

मनुष्यका चित्त स्वभावसे अवलम्बन माँगता है। किसीको चोट लगती है तो वह 'बाप-रे-बाप' चिल्लाता है, मा बच्चेको पीटती है तब भी बच्चा 'मा-ही-मा' पुकारता है। इसका क्या कारण है ? बापको मरे बहुत दिन हो गये। अब वह सहायता करने कैसे आयेगा ? परंतु बचपनमें जब बाप जीता था, तब उसने बच्चेको कई बार बचाया था। वही बात बड़े होनेपर भी बच्चेके चित्तमें गड़-सी गयी है या यों कहिये कि वह स्वभावसे ही एक अदृश्य अवलम्बन ढूँढ़ रहा है। यूनानके प्रसिद्ध हकीम एपिक्टटिट्स (Epictetus) ने लिखा है कि अत्याचारी जिस रीतिसे प्राण-हरण करता है, वह अत्यन्त सुगम है। कभी किसी अत्याचारीने किसीका गला छः महीनेमें नहीं काटा, परंतु ज्वरग्रस्त होकर मरनेमें कभी-कभी बरसों लग जाते हैं। अत्याचारी अपने जीमें यह समझा करे कि हम प्रबल हैं, हमारा कोई क्या कर सकता है; परंतु कितने अत्याचारी कुत्तोंकी मौत मरे हैं। प्राण निकल जानेपर उनकी वह शेखी कहाँ गयी ? उनका बल किसने हर लिया ? जिन लोगोंने उनका अत्याचार अपनी आँखों देखा है, वे कहते हैं कि 'अच्छा हुआ जो वह कुत्तोंकी मौत मरा।' औरंगजेब धर्मान्ध था उसे पूरा विश्वास था कि 'मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह इस्लाम-धर्मके अनुकूल है; मन्दिर तोड़ना, काफिरोंका वध करना परम धर्म है, इससे मुझको खुदाबन्दताला बिहिश्तमें सबसे ऊँचा स्थान

देगा।' परंतु मरते समय उसकी मति किसने फेर दी और वह मरने-से डर रहा है और कहता है—

हरचे बादबाद मा किश्ती दराब अन्दाख्तेम्।

अर्थ—जो चाहे सो हो, हमने तो अपना बेड़ा पानीमें डाल दिया।

उसके इस वाक्यपर विचार कीजिये। उसको प्रतीत होने लगा कि ऐसी प्रजाको सताना, जिनका केवल धर्म उससे भिन्न था, अच्छा काम न हुआ और उसकी बिहिश्तमें परमपद पानेकी आशा संदेहके आवर्त्तमें पड़ गयी। इसका क्या कारण हो सकता है? वही झूठा अवलम्ब।

जिनका अवलम्ब सच्चा है, वे बड़े सुखसे संसारको छोड़ते हैं। जैसा कि बालिके विषयमें गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

इसके पहले बालिका वाक्य भी सारगर्भित है—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

इसमें कृष्णगीतावलीकी 'गति' भी आ गयी है, जिससे यह ध्वनित है कि तुमको छोड़कर मेरा और कहीं ठिकाना नहीं है और प्रीति तो दोहेके प्रथम चरणोंमें है ही। इसी प्रीतिकी शुद्ध पराकाष्ठा-को भक्ति कहते हैं।

इस प्रश्नपर पूरा-पूरा विचार करनेसे यह लेख बहुत बढ़ जायगा। इससे एक ही बात और लिखी जाती है। फिजियालोजी (physiology) में मस्तिष्क तथा मेरुदण्डमें अनेक केन्द्र (Centres) देखे गये हैं, जैसे मस्तिष्कके एक भागमें बोलनेका केन्द्र है। उस

भागके ऊपर खोपड़ीमें कहीं चोट लगी तो उस केन्द्रका काम बंद हो जाता है और मनुष्य बोल नहीं सकता, परंतु इसके आगे विज्ञान काम नहीं करता और वेदकी वही श्रुति सिद्ध होती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

अभी थोड़े दिन हुए इंग्लिस्तानके एक सुप्रसिद्ध अध्यात्म-विद्या (Spiritualism) के पण्डित सर आलिवर लाजने कहा था कि 'जीवन-विज्ञानमें अनेकों प्रसङ्ग ऐसे आते हैं, जिनमें बुद्धि काम नहीं करती और यही मानना पड़ता है कि इस जीवकी संचालन करनेवाली कोई शक्तिविशेष है, जिसका हम अनुमान ही कर सकते हैं ।'

इन्हीं दो बातोंसे अर्थात् मनुष्यका हृदय एक सच्चा अवलम्ब चाहता है और दूसरा यह कि विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी अनेक बातें ऐसी हैं जो बिना एक अदृश्य संचालक शक्ति माने हुए समझमें नहीं आ सकती, हम ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करते हैं ।

२—इसका पहला उत्तर तो प्रश्न (१) के उत्तरके अन्तर्गत है अर्थात् मनुष्य, जिसका हृदय अवलम्बन माँगता है, निरालम्ब हो जायगा और उसका जीवन दुःखमय होगा । हमने बहुत-से नास्तिकोंके चरित पढ़े हैं—जैसे डेविड ह्यूम (David Hume) जो बड़े सज्जन और बड़े उदार थे । बौद्धधर्मको भी लोग नास्तिक मानते हैं, परंतु इसके धार्मिक और विनयसम्बन्धी सिद्धान्त बहुत बढ़े-चढ़े हैं । बौद्धधर्मकी एक पुस्तक 'बुद्धचर्या' की भूमिकामें लिखा हुआ है कि बुद्धदेवके उपदेश दो प्रकारके थे । एक साधारण धर्म और दर्शनके विषयमें और दूसरे भिक्षु-भिक्षुणियोंके नियम । पहलेको पालीमें 'धम्म' (धर्म) कहा

गया है और दूसरेको विनय । इस धर्ममें तथा मीमांसकोंमें कर्म प्रधान है; पर इसे कर्म कहो या नैयायिकोंके अनुसार कर्त्ता कहो, अथवा वेदान्तियोंके मतसे ब्रह्म मानो, हमारी समझमें केवल नाममात्रका झगड़ा है । एक अक्षर-शक्ति माननी ही पड़ेगी, चाहे उसे किसी नामसे पुकारो । साधारण जनतामें इतना आत्मबल नहीं होता कि डेविड ह्यूमकी भाँति अपना चरित्र शुद्ध रक्खे । अभी तो यह है कि हमारे पापोंको पुलिस या राजकर्मचारी नहीं देखते, परंतु ईश्वर तो देखता है । मनुने मनुष्यके शरीरमें जो ईश्वरका एक प्रतिबिम्ब आत्मा है, उसको हमारे कर्मोंका साक्षी माना है । मनुस्मृति-में न्यायाधीशका धर्म है कि गवाहको यह समझा दे कि झूठ मत बोलो । उनका एक वाक्य यह है—

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥

(८ । ८४)

'आत्मा ही आत्माका साक्षी है, आत्मा ही आत्माकी गति है । ऐसा जानकर तुम मनुष्योंके उत्तम साक्षी अपनी आत्माका अपमान (झूठ बोलकर) न करो ।'

मृच्छकटिक-नाटकमें एक नीच दास यह कह रहा है कि चन्द्रमा और सूर्य साक्षी हैं, यह सब उसी सिद्धान्तको सूचित कर रहा है कि हमारे कर्मोंका देखनेवाला एक अदृश्य पुरुष है, जिसकी शक्तिको यदि हम समझें तो हमें पापकी प्रवृत्तिसे रोकता है । ऐसी शक्तिमें विश्वास न होनेसे साधारण जनता स्वच्छन्द हो जायगी, जिससे प्रजा-विप्लवकी सम्भावना है । यह हमारे जानमें बड़ी हानि है ।

३—ईश्वर प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता । ईश्वर-सिद्धिके सारे प्रमाण उपमान (Analogy) ही हैं और कोई-कोई दार्शनिक उपमानको प्रमाण नहीं मानते । ऐसे उपमानका एक उदाहरण हम रोमन दार्शनिक एपिक्टिट्सके वाक्यसे उद्धृत करते हैं—

हमलोग संसारके कामोंमें ऐसे ही फँसे रहते हैं, जैसे मेलेवाले मेलोंमें । मेलोंमें गाय-बैल बिकनेको आ रहे हैं । मेलेकी भीड़का अधिकांश क्रय-विक्रयके लिये आया हुआ है । कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो केवल मेला देखने आये हैं और यह पूछते हैं कि मेला कैसे लगा और क्यों लगा, किसने लगाया और किस प्रयोजनसे लगाया ? इस संसारकी भी यही दशा है । इसमें कुछ तो पशु हैं, जिन्हें केवल अपने चारेकी चिन्ता है । थोड़े-से लोग यह जानना चाहते हैं कि संसार क्या है और इसका शासनकर्त्ता कौन है ?

प्रश्न—क्या इसका कोई शासनकर्ता नहीं है ?

उत्तर—विना शासनकर्ता और निरीक्षकके किसी भी राज्य या कुलका प्रवन्ध एक दिन भी नहीं चल सकता और इतना बड़ा संसार केवल संयोग (Chance) से कैसे स्थिर रह सकता है ? जब शासन-कर्ताका अस्तित्व सिद्ध हो गया, तब ये प्रश्न उठते हैं—

(१) इस शासनकर्ताके गुण क्या हैं ?

(२) उसके शासनकी रीति क्या है ?

(३) हमलोग जो उसके शासनमें रहते हैं, क्या हैं और किस प्रयोजनसे बनाये गये हैं ?

ऐसे विचार उन्हीं थोड़े-से दर्शकोंके चित्तमें उठते हैं, जो इस मेलेका तत्त्व जाननेका प्रयत्न करते हैं और मेलेसे लौट जाते हैं;

परंतु और मेलेवाले ऐसे लोगोंपर हँसते हैं । पशुओंमें भी समझ होती तो वे भी उनपर हँसते, जिनको दाना-घास छोड़कर और बातोंकी चिन्ता नहीं रहती है ।

ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; परंतु सबका खण्डन हो सकता है । इसीसे सांख्य-शास्त्रके आचार्य कपिलने कहा है—'ईश्वरासिद्धेः' 'ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता ।' यानी तर्क-बुद्धिसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती ।

संसारमें साधारणतः और भारतवर्षमें विशेष करके अनेक संत हो गये हैं । इसके एक उदाहरण महात्मा सूरकिशोर हैं । सूरकिशोरजी मिथिलेश-नन्दिनीजीको अपनी बेटी मानकर भावना करते थे । अयोध्या आते थे तो सरयूके उत्तर-तटपर ठहरते थे; क्योंकि जामाताके नगरमें जाना निषिद्ध है । उनके पास सीताजीकी बड़ी सुन्दर मूर्ति थी, जिसका वे नित्य शृङ्गार और पूजा करते थे । एक दिन फूलोंके बड़े सुन्दर गहने बनाकर आपने मूर्तिका शृङ्गार किया और ध्यानमग्न हो गये । भावना करते-करते कहने लगे कि 'हमने तो अपनी बेटी महाराज दशरथके घर यह समझकर ब्याही थी कि वे धनाढ्य हैं, पुत्रीको सोनेके गहने पहनायेंगे ।' इसी भावनामें वे अत्यन्त व्याकुल हो गये और रोने लगे । श्रीजी भावनामें उनको दर्शन देकर बोलीं कि 'बाबा, सोच न करो, यहाँ गहनोंकी कमी नहीं है, गरमीके कारण सोनेके गहने उतार दिये और फूलके गहने पहन लिये हैं ।'

क्या हम इनको झूठा, मक्कार और दगाबाज समझें ? या पागल मानें ? परंतु और बातोंमें संतोंका पागलपन देख नहीं पड़ता ।

इनके उपदेश समाजकी स्थितिके लिये अत्यन्त लाभकारी होते हैं। हजारों इनको पूजते हैं। इनमें कितने पढ़े-लिखे विद्वान् भी होते हैं। हम यह माननेको तैयार हैं कि धर्मके नामसे बड़े-बड़े दम्भ और अत्याचार हुए तथा होते हैं, परंतु इसमें धर्मका क्या दोष है? दो-चार बने हुए संत स्वार्थी लोभी लम्पट निकल गये तो इससे सारा संत-समाज कैसे कलंकित हो सकता है? धर्म वही है, जिससे उपदेश ग्रहण करनेवालेके चित्तको शान्ति हो; दुःख सहन करनेकी क्षमता बढ़ जाय और ऐसे उपदेश संतोंसे ही प्राप्त हुए हैं। हम उनको मक्कार कैसे कह सकते? ईश्वरके अस्तित्वका यह बहुत पुष्ट प्रमाण नहीं है, परंतु हमारे मतमें यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।

फारसीमें एक पद्य प्रसिद्ध है—

मर्दाने खुदा खुदा न बाशन्द। लेकिन बखुदा जुदा न बाशन्द॥

अर्थ—

हरिजन यद्यपि नहीं हरि अहहीं। हरिसे कबहुँ बिलग नहिं रहहीं॥

परंतु भक्त और भगवन्त दोनोंकी महिमा उसीकी समझमें आ सकती है, जिसमें श्रद्धा और भक्ति दोनों हों। मैं अयोध्यावासी हूँ। मेरे माता-पिता दोनों वैष्णव थे और अयोध्याके प्रसिद्ध महात्मा बाबा रघुनाथदासजीके शरणागत थे। ये महापुरुष पहले बादशाही सेनामें राबर्ट (Robert) साहबकी पलटनके सिपाही थे। मैं इनका बहुत मुँहलगा था। मैंने इनसे पूछा 'बाबाजी! मैंने सुना है कि एक बार आपके बदले भगवान्‌ने पहरा दिया था।' बाबाजी कहने लगे—'बच्चे! हम क्या जानें, किसीने हमारे बदले पहरा दे दिया

होगा। हम तो दिनभर अपनी वारकमें वैठे 'सीताराम, सीताराम' जपते थे। कुछ भक्त सिपाही भी हमारे पास आकर वैठ जाते थे और घंटों रामधुन होती थी। एक बार हमने अपनी पलटनके कप्तान साहबके पास जाकर सलाम किया और उनसे कहा कि 'हम आपकी नौकरी न करेंगे।' कप्तान बड़ा सज्जन था, कहने लगा कि रघुनाथसिंह! हम तुमको जानते हैं, तुम बड़े भक्त हो। तुम जहाँ जी चाहे रहो, तुम्हारी तनख्वाह तुम्हारे पास भेजवा दी जायगी।' वावाजीने उत्तर दिया—'मनुष्य मजूरी देत हैं कैसे राखैं राम।' इसका अर्थ यह है कि 'हम आपके नौकर हैं, काम भी पूरा नहीं करते, तव भी आप हमको खानेको देते हैं। जव हम भगवान्की सेवा करेंगे तव वे हमको कैसे भूखा रख सकते हैं?' इतना कहकर वावाजी जगन्नाथपुरीको चले गये। वहाँसे लौटनेपर कुछ दिन चित्रकूट रहे। फिर अयोध्यामें वासुदेव घाटपर मौनीवावाके शिष्य हुए और फिर यावज्जीवन श्रीअयोध्यासे वाहर नहीं गये। मेरे माता-पिताकी वावाजीके चरणोंमें वड़ी भक्ति थी। मेरा नाम भी उन्हींका रक्खा हुआ है। मेरे जितने संस्कार हुए सब वावाजीकी आज्ञासे किये गये। जव मुण्डनका समय आया, तव पिताजीने वावासे निवेदन किया कि वच्चेका मुण्डन करना चाहिये। वावाजी वोले 'कल ले आओ, नाई भी साथ लेते आना।' घर लौटकर जव मेरी मातासे कहा, तव माता कहने लगी कि साइत भी पूछ ली है? पिताजीने कहा कि 'वावाजीकी आज्ञासे बढ़कर साइत नहीं हो सकती।'

दूसरे दिन हमलोग गनेशी नाईको साथ लेकर छावनीमें पहुँचे। वावाजी उस समय सरयू-स्नान कर रहे थे। पिताजीको दण्डवत्

करते देखकर अपने शिष्यसे बोले कि वह कटोरी उठा लाओ जिसमें हम शालग्राम नहलाते हैं। शिष्यने कटोरी लाकर नाईको दे दी और उसने उसमें सरयू-जल भर लिया। बाबाजीने कहा—'अच्छा मूड़ दो।' नाई पिताजीको देखने लगा और पिताजीने उसका अभिप्राय समझकर कटोरीमें कुछ रुपये डाल दिये, मुण्डन हो गया और हमलोग बाबाजीको दण्डवत्-प्रणाम करके घर लौट आये। नाई इसके पीछे बहुत दिनोंतक जिया और सदा यही कहता रहा कि 'भइया, जबसे ई कटोरा मोरे घर आवा है, मोरे खायका नहीं घटा।'

इसके थोड़े ही दिन पीछे पाँचवें वर्षमें विद्यारम्भ निश्चय किया गया। हमलोग कायस्थ हैं, हमारे यहाँ मौलवी बुलाये जाते थे और फातिहा पढ़कर 'बिस्मिल्लाह' कराया जाता था, परंतु पिताजीकी भक्ति उन्हें फिर बाबाजीके चरणोंमें खींच ले गयी और बाबाजीकी आज्ञासे पाटी-बोरका लेकर हमलोग छावनी पहुँचे। बाबाजीने बोरकेमें सरयूजीका कीचड़ घोलवाया और कसेहरी (एक प्रकारकी कच्ची किल्क) मँगवाकर उसकी लेखनी बनायी गयी। फिर महात्माजीने मुझे अपने पास बिठा लिया और पाटीके ऊपर विनयपत्रिकाका एक पद लिखा। बाबाजी बोलते जाते थे और मैं दोहराता जाता था। पद्य समाप्त होनेपर वही पाटी, बोरका और क़लम मुझे दे दिये गये और मुझसे कहा गया कि इसी लेखनीसे पाटीपर एक रेखा खींच दो। बाबाजीका पकड़ाया हुआ कलम सत्तर बरस हो गये, अबतक मेरे हाथसे नहीं छूटा।

जब स्कूलमें नाम लिखा गया, तब जब-जब परीक्षा होती थी बाबाजीसे आज्ञा ली जाती थी। पाँच बरस स्कूलकी और चार बरस

कालेजकी पढ़ाईमें कभी विरला ही अवसर हुआ है जब दर्जेमें पहलेसे दूसरा नंबर आया हो । अवधके स्कूलोंको मिलाकर जब परीक्षा हुई, तब अवधमें सबसे ऊँचा नंबर रहा । जब अवध और पश्चिमोत्तर देशके कालेजोंको मिलाकर इम्तिहान लिया गया, तब उसमें भी प्रथम ही नंबर रहा और जब बी० ए० की परीक्षा दी गयी, तब उस समय अकेला कलकत्ता-विश्वविद्यालय था, जिसमें लंका (कोलम्बो), रंगून, पंजाब, मध्यप्रान्त और पश्चिमोत्तर देशके छात्र सम्मिलित होते थे, उसमें भी सबसे ऊँचा नंबर मिला, जो इस प्रान्तके रहनेवालेको न पहले कभी मिला था और न उसके पीछे कभी मिला । कलकत्ता-विश्वविद्यालयमें अबतक मेरी प्रतिष्ठा है और वहाँके सुप्रसिद्ध वाइस-चान्सलर सर आशुतोष मुखोपाध्याय महोदय मुझे one of my most distinguished fellow graduates for whom I have the highest respect लिखा करते थे ।

तीसरी घटना इसीके कुछ दिन पीछेकी है । जून १८७९ में मेरा विवाह हुआ । जब बारात समधीके द्वारपर पहुँची और पालकी उतारकर रक्खी गयी, उन्हीं बाबाजीके दो चेले फूलकी एक माला और दो बड़े-बड़े आम लिये हुए पिताजीके पास पहुँचे और बोले कि बाबाजीने बच्चेके लिये यह माला और दो आम भेजे हैं।' पिताजी उनको लेकर मेरे पास आये । माला मेरे गलेमें डाल दी गयी और दोनों आम जैसे ही वैरागी मेरे हाथोंपर रखने लगा, पिताजी बोल उठे कि 'बाबाजीने तुझे इस विवाहसे दो पुत्र दिये ।' दोनों पुत्रोंमें ज्येष्ठ इस समय आबकारी कमिश्नरका परसनल असिस्टेंट

है और उसका छोटा भाई रजिस्ट्रार डिपार्टमेंटल इक्जामिनेशन्स है। इसके उपरान्त उनकी माताने त्रिवेणी-वास लिया।

मुझे भी वैष्णवी शिक्षाका प्रभाव पद-पदपर अनुभूत हुआ है। संसार काँटोंका वन है। बड़े-बड़े संकट झेलने पड़े हैं; परंतु इस शिक्षाने कवचका काम किया है। छोटे मुँह बड़ी बात है; परंतु अनेक अवसरोंपर ऐसा अनुभव हुआ है कि धनुष-बाण लिये हुए सरकार मेरे पीछे खड़े हैं और कहते हैं कि 'सावधान, जबतक तू धर्मपथपर चलेगा, तेरी रक्षा की जायगी और विचलित होगा तो तू भी मार खा जायगा।'

इस पचहत्तर वर्षके जीवनमें अनेक घटनाएँ ऐसी हुई हैं, जिनसे बचनेके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया गया है। साहित्यक्षेत्रमें ही एक महाशयने मेरा अपमान करनेमें कोई कसर नहीं रक्खी; परंतु मैंने कभी उनकी और उनके साथियोंकी परवा न की। मेरे मित्रों और सहायकोंकी कमी नहीं थी; परंतु सबको रोक दिया और यही कहता रहा कि जो व्यर्थ द्वेष या ईर्ष्याके वश मुझपर वार कर रहा है, उसके प्रत्युत्तरमें कोई लाभ नहीं है; क्योंकि ईर्ष्या एक ऐसी अग्नि है, जिसे मनुष्य आप ही उत्पन्न करता और आप ही उसमें भस्म होता है। और ईश्वरकी दयासे मेरी हानिको कौन कहे, लगातार उन्नति ही होती गयी। और मुझे इस बातका संतोष है कि मैं कुछ साहित्यजीवियोंकी सहायता कर रहा हूँ। इसको मैं ईश्वरकी दया न कहूँ तो क्या कहूँ?

एक घटना मैं और लिखना चाहता हूँ। मुरादाबादमें जब मैं डिप्टी कलक्टर था, तब एक मण्डली ऐसी बनी हुई थी जो

कहती थी कि हमसे मिलकर रहो, जितनी चाहो उतनी रिश्वत लो। उस मण्डलीमें नित्य रंडियोंका जलसा होता था। यह भी एक प्रलोभन था; परंतु मैंने अपने कर्तव्यके विचारसे उस मण्डलीमें सम्मिलित होना स्वीकार न किया। एक दिन २० वीं तारीखको सूर्य अस्त होने लगा जब मैं कचहरीसे उठा। विक्टोरिया-फिटनकी सवारी थी। साईसने कहा कि 'टप (Hood) गिरा दिया जाय। मैंने कहा—'नहीं, देर हो गयी है घर चलो।' जब मैं शहरमें पहुँचा, तब तहसीलके फाटकके सामने एक दुष्टने एक लाठी चलायी। लाठीका वार टपपर पड़ा और उसकी उछलती चोट मेरी बायीं कनपटीपर लगी। इसके कारण वहाँ सूजन हो गयी। टप न उठा होता तो खोपड़ी चूर हो गयी होती। मेरा गूजर चपरासी कोचबक्सपरसे कूद पड़ा और उस दुष्टको पकड़कर कोतवाली ले गया। दूसरे दिन ज्वाइंट मजिस्ट्रेटने उसे आठ महीनेका कारावास दिया। मैं जानता था कि उसने यह काम किसकी प्रेरणासे किया है; परंतु ईश्वरको धन्यवाद देकर चुप रहा। इसे ईश्वरकी दया न कहूँ तो क्या कहूँ ?

आपने अपनी आँखों देखा है कि मैंने अपने मकानमें एक कमरा रामायण-मन्दिर बना रखा है। उसमें अनेक प्रकारके रामायण-ग्रन्थ और रामचरित-सम्बन्धी चित्र हैं। मैं उसीमें रहता हूँ। चौकीके सामने श्रीराम-जानकीका एक सुन्दर चित्र लगा हुआ है। उसके दर्शनसे लोचन तृप्त रहते हैं।

भक्तवर श्रीकृष्णप्रेमजी

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

'ईश्वर' शब्दसे जो कुछ अभिप्राय ग्रहण किया जाता हो, उसीपर मानने-न-माननेका प्रश्न निर्भर करता है। सामान्यतः इस शब्दसे किसी-न-किसीकी ईश्वरसम्बन्धिनी भावना या कल्पना ही सूचित होती है। कुछ लोगोंकी भावना यह होती है कि ईश्वर स्वर्गमें राज्य करनेवाला कोई राजा है, कुछ यह समझते हैं कि वह स्वर्गस्थ पिता है, कुछके विचारमें वह स्वर्गस्थ स्वामी है और कुछ यह मानते हैं कि वह न्यायाधीश है। ये सब केवल मानसिक भावनाएँ या कल्पनाएँमात्र हैं और कोई कारण नहीं है कि हम इनमेंसे किसी-न-किसी एक भावनाको, अपनी इच्छा न हो तो भी, मान ही लें।

परंतु यदि इस शब्दका अभिप्राय 'परम तत्त्व' से हो, तब तो यह बात स्पष्ट ही है कि जबतक कोई मनुष्य यह नहीं जानता कि वास्तविक सत्तत्त्व क्या है, तबतक वह सबसे अधिक महत्त्वकी बातको ही नहीं जानता।

२—ईश्वरको न माननेसे हानि क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर भी माननेके (विश्वासके) स्वरूपपर ही निर्भर करता है। किसी भी वस्तुके विषयमें गलत विश्वासका न होना, इसमें कुछ भी हानि नहीं है और सही विश्वासका होना भी उसी हदतक लाभकारी है कि हमें उससे ज्ञान प्राप्त हो। ज्ञानकी ऐसी बात है कि मैं अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यह कहूँगा कि परम तत्त्वके ज्ञानके बिना मनुष्यको न सुख मिल सकता है, न शान्ति ही।

वह वासनाका ही दास बना रहेगा और आशा तथा भयका शिकार होगा। अन्तमें मर जायगा। यह बात अक्षरशः सत्य है कि जो परम तत्त्वको जानता है, उसके सिवा और किसीको अमृतत्वलाभ नहीं हो सकता।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

यही यथार्थमें सत्य है; इस बातको न माननेकी जिसकी हिम्मत हो, वह न माने।

२—ईश्वरके होनेमें आप कौन-कौन-सी युक्तियाँ देते हैं?

मैं युक्तियोंकी परवा नहीं करता; ज्ञानको पूजता हूँ। इस विषयमें जो-जो युक्तियाँ दी जाती हैं, उनकी छानबीनकर मैंने यह देख लिया कि अन्तमें वे बेकार ही जाती हैं। ईश्वरकी सत्ताका एकमात्र प्रमाण बस वही है, जो आपकी अपनी सत्ताका है अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति। ईश्वरके होने-न-होनेके विषयमें तर्क करनेमें बहुत अधिक समय जो व्यतीत किया जाता है सो ठीक नहीं। इससे कहीं अच्छा यह है कि तर्क करना बिलकुल छोड़ दिया जाय और यह पता लगानेका उद्योग आरम्भ किया जाय कि उस परम तत्त्वका वास्तविक स्वरूप क्या है?

यदि कोई कहे कि हमको तो यह भी निश्चय नहीं है कि 'परम तत्त्व' भी कोई चीज है तो मैं यह कहूँगा कि 'परम' शब्दको छोड़िये, किसी दूसरे शब्दका प्रयोग कीजिये जो आपको जँचे। आप चाहें तो उसे 'मूल' कह सकते हैं या 'आधारभूत' शब्दका प्रयोग कर सकते हैं; पर यह तो स्पष्ट है कि कोई-न-कोई तत्त्व तो

मानना ही होगा। पहले यह पता लगाइये कि वह तत्त्व क्या है और फिर यह प्रश्न उठाइये कि उस तत्त्वको ईश्वर कहा जाय या और कुछ कहा जाय; पर जिन लोगोंका मत आपके मतसे भिन्न हो, उनके साथ उदारताका ही व्यवहार करें यह जानकर कि इस विषयमें ऋषियोंका भी एकमत नहीं है और फिर अन्तमें, कोई भी शब्द उसका वर्णन करनेमें पूर्ण समर्थ नहीं है जो सब शब्दोंके परे है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

४—क्या आप अपने जीवनकी कोई ऐसी घटना बता सकते हैं जिससे ईश्वरकी सत्ता और दयापर हमलोगोंका विश्वास बढ़े?

आपके हृदयमें जो अनुभव होता है वही एकमात्र अनुभव है, जो जीवनमें काम देगा। बाहरके जितने अनुभव हैं, वे चाहे कितने भी असाधारण या आश्चर्यजनक हों, कर्मके परिणाममात्र हैं; उनसे इसके सिवा और कुछ भी सिद्ध नहीं होता कि जितने कार्य होते हैं, वे सब पूर्वतन कारणोंसे निकल पड़ते हैं। अथवा इसी बातको आप दूसरे ढंगसे यों कह सकते हैं कि आपके या किसीके भी जीवनमें जो कोई अनुभव हुआ हो, उसकी पूरी जाँच करनेसे नारायण वासुदेवकी सत्ता प्रकट होगी; क्योंकि वही सब अनुभवोंका मूल है और उसके बिना कोई अनुभव हो ही नहीं सकता।

दयाकी बातके विषयमें मुझे केवल एक ही बात कहनी है। उनकी दया सूर्यप्रकाशके समान सबके लिये है, किसी खास व्यक्ति या चुने हुए लोगोंके लिये नहीं। उनकी दया किसी राजा या सम्राट्-की-सी नहीं होती।

श्रीबसन्तकुमार चटर्जी, एम्० ए०

१—हम भगवान्में विश्वास क्यों करें ?

भगवान्में विश्वास रखनेसे जीवनमें एक अपूर्व मिठास आ जाती है। भगवान् है, वह सर्वशक्तिमान् है, न्यायशील है, दयामय है, वह हमारी पुकार सुनता है और हमें समस्त दुःख-संतापसे उबार सकता है यह विश्वासमात्र ही कितना दिव्य है। वह सदा-सदैव हमारे साथ है; परंतु हमारे मनपर पापोंका इतना घना आवरण पड़ा हुआ है कि हम उसे देख नहीं पाते। पापोंका यह पर्दा ही बाधक हो रहा है। कितना भी घना यह पर्दा क्यों न हो 'वह' चाहे तो एक क्षणमें इसे टूक-टूक कर सकता है। हाँ; इसमें शर्त एक यही है कि उसे ही, केवल उसे ही हम प्राणपणसे चाहें, संसारके समस्त सुख-विलासकी अपेक्षा भगवान्को ही हृदयसे चाहें, उस परम दयामय, परम प्रेममय प्रभुमें विश्वास जमते ही बीचकी दूरी क्षण-क्षण मिटती जाती है और हम उसके अधिकाधिक समीप आते जाते हैं। ऐसे प्रभुका दास होना स्वतन्त्रताकी पराकाष्ठा है; क्योंकि उस अवस्थामें हम इन्द्रियोंकी दासता, जगत्के प्रपञ्चोंकी दासतासे सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं। भगवान्में विश्वास होते ही हम उस संत-मण्डलीमें पहुँच जाते हैं जिसमें व्यास, वाल्मीकि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, ईसा, मुहम्मद, शङ्कराचार्य, रामानुज, चैतन्य,

सूर, तुलसी, रामकृष्ण, तैलङ्ग स्वामी आदि संत उपस्थित हैं। भगवान्‌में विश्वास उत्पन्न होते ही जीवनमें एक अनुपम रसका संचार हो जाता है और जो जीवन पहले ,व्यर्थ तथा निस्सार प्रतीत होता था, वही अब एक-एक क्षण परम आनन्दका निर्झर हो जाता है। अब आनेवाले भय और विपदाओंकी आशङ्का नहीं रहती—ऐसा मालूम पड़ता है मानो समस्त भूत-वर्तमान-भविष्यत् आनन्दका एक अखण्ड अजस्र प्रवाह है;—दुःख, विषाद, संताप आदि जैसी वस्तु रह नहीं जाती।

सभी धर्मोंके शास्त्र डंकेकी चोट कह रहे हैं कि भगवान् है, वह हमें समस्त दुःख-दारिद्र्यसे छुड़ा सकता है और यदि हम साधनाके मार्गसे चलें तो अवश्य ही उसे पा सकते हैं। युग-युगसे संत-महात्मा अत्यन्त स्पष्ट वाणीमें यह कहते आ रहे हैं कि साधनाके द्वारा हमने भगवान्‌को पाया। आज भी हम ऐसे संत-महात्माओंको पा सकते हैं यदि हममें वास्तविक लगन हो, सच्ची स्पृहा हो। अतएव हमें भगवान्‌में विश्वास करना चाहिये और उन्हें पानेकी समुचित साधना करनी चाहिये।

२—भगवान्‌को न माननेमें क्या हानि है ?

भगवान्‌को न माननेपर यह जीवन दूभर हो जाय, इसमें रह ही क्या जाय ? तब तो हम चारों ओर बुरी तरह दुःखोंसे ही घिर जायँ और बाहर निकलनेका कहीं कोई रास्ता ही न रह जाय। इस संसारमें सर्वत्र दुःख, व्याधि, जरा, मृत्युका जाल फैला हुआ है। और इतने अगणित हैं ये कि इनकी गिनती हो नहीं सकती। कहाँ-तक गिनाया जाय ? इस संसारमें बाह्यदृष्टिसे जो व्यक्ति सुखी और

सफल समझा जाता है, वह बेचारा भी तो जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, दुःख-दोषका शिकार है ही। ऐसी विवशताकी हालतमें इस दुःख-जालसे निकलनेके लिये भगवान्‌में विश्वासके अतिरिक्त और साधन है ही कहाँ?

माना आप बहुत उदार हैं, दानी हैं; परंतु यदि आपकी इस उदारता और दानशीलताका आधार भगवान् नहीं है तो सच मानिये आपका यह सारा किया-कराया व्यर्थ है, आत्मप्रवञ्चना है; क्योंकि यदि आप इन समस्त शुभ कर्मोंके आधार, मूल प्रेरकको नहीं पहचानते तो आप एक-न-एक दिन निराशाकी चपेटमें आ ही जायँगे और तब सोचेंगे कि आप व्यर्थमें समुद्र उलीचनेकी-सी चेष्टा कर रहे थे। कितना महान् और व्यापक है जगत्‌का दुःख तथा अभाव, कितनी कम और नगण्य है हमारी सहायता। ऐसा सोचते ही आप हताश होकर अपना सिर पीटने लगेंगे! परंतु जो भगवान्‌में विश्वास रखता है, वह ऐसी स्थितिमें विचलित क्यों होगा? वह जानता है और अच्छी तरह जानता है कि यह सारा पसारा प्रभुका लीलाविलास है। सुखमें, दुःखमें, सृष्टिमें, प्रलयमें यह लीलामय हरि अपनी नित्य आनन्दमयी, मङ्गलमयी लीला कर रहा है। हमारा यह धर्म है कि हमसे जो बने, जितना बने सेवा कर दें और बाकीके लिये परेशान न हों, उद्विग्न न हों। हमारी बिसात ही क्या है कि दुनियाका दुःख दूर कर सकें? यदि हमारी दृष्टि प्राञ्जल है, यदि दुःख-संतापके कुहरेको चीरकर हमारी आँखें 'उस पार' देख सकती हैं तो हम यह अनुभव करेंगे कि भगवान्‌ने हमें जो दुःखकी सौगात भेजी है उसमें भी उस परम प्रेमीकी अपार करुणा ही है। दुःखका

दान देकर प्रभु हमें अपनी ओर विशेष रूपसे आकृष्ट करना चाहता है, हमें विशेष रूपसे अपनाना चाहता है। यह है उसका गुप्त संकेत, एक छिपा हुआ इशारा, जिसे न समझकर दुःखमें हम घुलने लगते हैं और उसकी तरफसे मन मैला कर बैठते हैं।

बोलशेविकोंने संसारका दुःख मिटानेकी बड़ी-बड़ी कोशिशें कीं, कुछ भी उठा नहीं रक्खा; परंतु मूलमें ही भूल थी और परिणाम यह हुआ कि उनकी सारी कोशिशें आज नृशंसता और अनाचार-व्यभिचारके गर्तमें जा गिरी हैं। इसका कारण? कारण यह कि उनका भगवान्‌में विश्वास नहीं है और उनकी सारी उदारता तथा सदाशयता केवल बाहरी समीकरणमें समाप्त हो गयी।

भगवान्‌में अविश्वासके माने हैं आध्यात्मिक आत्महत्या!

३—भगवान् हैं—इसके लिये आपके पास क्या प्रमाण हैं?

प्रमाण? प्रमाण और क्या दूँ? सबसे बड़ा और विश्वसनीय प्रमाण तो यह है कि व्यास और वाल्मीकि, ईसा और मुहम्मद, शङ्कराचार्य और रामानुज, चैतन्य और रामकृष्ण-जैसे महात्मा यह कह रहे हैं कि भगवान् हैं और उन्होंने उसे पाया है। वे कदापि झूठ बोल नहीं सकते। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी धारणाएँ निर्मूल अथवा असत्य थीं; क्योंकि बौद्धिक दृष्टिसे भी वे अपने समयके शिरोमणि थे और आज भी हम उसी रूपमें उनका स्मरण करते हैं।

अनादिकालसे ही वेदोंके स्वाध्याय और कण्ठाग्र करनेकी प्रणाली चली आ रही है। कई लोगोंके जीवनका एकमात्र यही

उद्देश्य है। आरम्भमें वेदके मन्त्रोंका जिन ऋषियोंने दर्शन किया, पाया; उन्होंने मन्त्रोंको रचा हो ऐसी बात नहीं। मन्त्रोंका उन्हें दर्शन-हुआ, जैसे प्रातःकाल सूर्यका हमें दर्शन होता है। यह मन्त्र-दर्शन दीर्घकालकी कठोर तपश्चर्या तथा आत्मानुसन्धानके अनन्तर होता था। फिर ऐसा कहना या सोचना-समझना कि सब-के-सब ये ऋषि-महर्षि पाखण्डी थे, वञ्चक थे, हमारी अज्ञता नहीं तो और क्या है? व्यास और वाल्मीकिकी तरह असंख्य ऋषि-मुनियोंका यह विश्वास है कि वेदोंकी रचना किसी पुरुषने नहीं की, वे सर्वथा अपौरुषेय हैं। वेद भगवान्की वाणी है।

वेद यदि किसी मनुष्यके द्वारा लिखे या रचे गये होते तो यह माना जा सकता था कि उसमें भूलें हैं, त्रुटियाँ हैं, क्योंकि मनुष्य-की कोई भी कृति सर्वथा निर्दोष नहीं होती; परंतु वेद मानवीय कृति है नहीं। अतएव वेदकी वाणी दिव्य एवं निर्भ्रान्त है। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि प्राचीन कालके अनेकों प्रकाण्ड पण्डितोंने वेदोंका साङ्गोपाङ्ग अनुशीलन करके उसमें मिलनेवाली परस्परविरोधी बातोंका सम्यक् प्रकारसे सामञ्जस्य बैठाया है, समन्वय किया है। यूरोपके चूडान्त दिग्गज विद्वान् भी वेदोंकी महा-महिमाके कायल हैं।

ये वेद स्थल-स्थलपर भगवान्की सत्ता और महिमाके गीत गाते हैं और चूँकि वेद निर्भ्रान्त हैं, इसलिये यह मानना ही चाहिये कि भगवान् हैं!

श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी

(१) जिन पाठकोंको किसी सच्चे योगी या महात्माके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा उन्हें अवश्य कुछ ऐसे अनुभव हुए होंगे, जो चमत्कार-से प्रतीत होते हैं। चमत्कार सामान्यतः ऐसी घटनाको कहते हैं, जो प्राकृतिक नियमोंसे घटित नहीं मालूम होती। और इस दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि चमत्कार कोई चीज ही नहीं है। कारण, 'नियमके परे कुछ है ही नहीं।' जिन नियमोंसे यह विश्वब्रह्माण्ड, यह जगत् तथा प्रत्येक व्यक्तिकी गति नियन्त्रित होती है वे नियम बहुत ही स्पष्ट, सुनिश्चित और विवक्षित होते हैं। अपने अज्ञानके कारण हम उन नियमोंको नहीं देख पाते। जिनके द्वारा ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं कि जिन्हें हम चमत्कार कहते हैं। हमारा आधुनिक पाश्चात्त्य विज्ञान केवल, अत्यन्त अपूर्ण और प्रसङ्ग-विशेषमें अस्वाभाविक ही नहीं है, बल्कि बहुत ही कट्टर और अनुदार भी है। इन दोषोंके कारण मनुष्य श्रद्धा और विश्वासका प्रयोग करके निष्पक्ष भावसे उन घटनाओंका अन्वेषण करनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता जिन घटनाओंको समझना विज्ञानसे नहीं बन पड़ता। यह स्वतः-सिद्ध तथ्य है कि प्रकृतिका प्रत्येक कार्य किसी-न-किसी खास नियम-से ही होता है। आधुनिक विज्ञान चाहे जितनी डींग हाँके, पर उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह घासकी एक पत्ती भी उत्पन्न कर सके। इस सम्पूर्ण विश्वमें सर्वत्र सब कार्य नियमसे ही चल रहा है। लोग कह सकते हैं कि यह नियम जो कुछ है, जड प्रकृतिका है और जड प्रकृति एक लीकपर चली जा रही है; पर फिर भी तो इस प्रश्नका

कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। किसने पहले-पहल जड प्रकृतिके लिये यह लीक बनायी या यह विश्वव्यापक नियम चलाया। यह मानना ही पड़ता है कि जड प्रकृतिके पीछे कोई चेतन सत्ता अवश्य है और यह चेतन शक्ति केवल सर्वव्यापक और सर्वज्ञ ही नहीं अपितु जगत्में स्थित प्रत्येक व्यक्तिके प्रत्येक कर्ममें करुणा और प्रयोजनीयतासे भरपूर है। इस शक्तिकी सत्तापर विश्वास होनेसे फिर मनुष्य जन्मान्तरवाद और कर्मवादपर विश्वास करने ही लगता है। कर्मके जटिल और सूक्ष्म नियमके द्वारा ही हम इस बातको जानते हैं कि आपाततः एक-सी ही अवस्थामें उत्पन्न हुए मनुष्योंके जीवनोंमें परस्पर इतना अन्तर क्यों है। हमलोगोंमें जिनके आँखें हैं अर्थात् जो सत्तत्त्वके सच्चे जिज्ञासु हैं, वे इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि निश्चय ही कोई ईश्वर है, जो हमारे इस जगत्का नियन्ता है।

यह बात वैज्ञानिक दृष्टिसे कही गयी। ईश्वरकी सत्तापर विश्वास करानेवाले और भी कारण हैं। हमलोगोंमेंसे बहुतोंके जीवनमें ऐसी घटनाएँ घटी होंगी जिन्हें हम दैवी कहते हैं। इन घटनाओंसे प्रायः ही उस शक्तिकी महती करुणा प्रकट होती है कि जो चराचर प्राणियोंकी नियन्तृ-शक्ति है। ईश्वरको चाहे कोई किसी भी रूपमें देखे, उससे ईश्वरकी दयामें कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसकी करुणा सर्वत्र एक-सी ही रहती है। कुछ लोग कह सकते हैं कि दैवी घटनाएँ और उनसे प्रकट होनेवाली करुणा अपनी ही बलवती शक्तिका फल है, और कुछ भी नहीं; पर फिर यह भी तो बतलाना होगा कि यह शक्ति आयी कहाँसे। अर्थात् अन्तमें इसी सिद्धान्तपर आना पड़ेगा कि यदि ये घटनाएँ आपेक्षिक न मानकर स्वसंकल्पोद्भूत ही मानी जायँ तो

भी यह संकल्पशक्ति है तो हमारी ही चैतन्यशक्ति (स्वान्तःस्थ ईश्वरकी शक्ति) ही, जो इन घटनाओंको घटित कराती है।

ग्रीकलोग जिसे नेमेसिस या दण्डदेवता कहते हैं, वह कर्मनियन्तृ-शक्तिका ही दूसरा नाम है और इस नामके पीछे वही भावना छिपी हुई है। यह शक्ति इतनी शक्तिमती और ज्ञानवती है कि कोई भी उसके विधानसे या उसकी दृष्टिसे बच नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकारकी कोई शक्ति है। इसी शक्तिपर हमें विश्वास करना होगा। हम जिसे ईश्वर कहते हैं, वह यही शक्ति है।

(२) जो लोग ईश्वरपर विश्वास करते हैं, वे उसके विधानोंका पालन करते हैं और इन विधानोंका हेतु जगत्‌का परम कल्याण है। प्रत्येक जाति, समाज, समुदाय या अन्य जीवोंके लिये जो नियम (कानून या विधान) देशाचारको देखकर या अन्य प्रकारसे बनाये जाते हैं, उनका हेतु अधिक-से-अधिक लोगोंका अधिक-से-अधिक कल्याण-साधन होता है। इन नियमोंका पालन करनेमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी अनेक इच्छाओं और मनोवेगोंको रोकना पड़ता है; क्योंकि उसे यह भय है कि यदि वह ऐसा नहीं करेगा, और अपनी इच्छा और मनोवेगके वशमें कोई ऐसा काम करेगा, जो समाजके विधानोंके विरुद्ध है तो वह दण्डित किया जायगा। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने ही मनकी किया करे तो सर्वत्र अंधेर मचेगा और स्वार्थपरता फैलकर नाशका कारण होगी। कोई भी मनुष्य अकेला नहीं है, वह अपनी समग्र मानवजातिसे सम्बद्ध है और मानवजाति स्वयं भी विश्वके अन्य प्राणियोंसे सम्बद्ध है। इसलिये मनुष्यजाति तथा अन्य जीवोंके लिये मनुष्यको कुछ ऐसे नियमोंका पालन करना चाहिये, जिनसे

उनका हित हो; परंतु मनुष्य इन नियमोंका पालन तभी करता है जब उसे इस बातका भय होता है कि ऐसी भी एक शक्ति है जो मुझे दण्ड देगी, यदि जगत्-हितके लिये बनाये गये इन विधानोंका मैं उल्लङ्घन करूँगा । ईश्वरकी सत्ता माननेवालोंको एक हद्तक सहिष्णु और निःस्वार्थ होना ही पड़ता है । जो लोग इस प्रकार मनको रोकनेकी आवश्यकता नहीं मानते, वे लोग सर्वथा स्वार्थी बन जाते और चार्वाकोंकी-सी बातें सोचने लगते हैं । उनके लिये जीवनका न कोई उद्देश्य है, न किसीका उपकार करना ही कोई अच्छी बात है । वे सदा अपनी ही सुविधाएँ देखते हैं और यही माना करते हैं कि यह जीवन संग्राम है—इसमें तो बस, यही काम है कि जो बलवान् हो वह रहे, दुर्बल हो नष्ट हो जाय । विकासवादकी बातोंको ये लोग अपनी मोटी बुद्धिसे जड बनाकर ही ग्रहण करते हैं । इन बातोंमें ये लोग सिवा पाशविक बलकी उपासनाके और कोई सार वस्तु नहीं देख पाते । इनके लिये न्याय कोई चीज नहीं है, न इनके हृदयमें उदात्त गुणों या कर्मोंके लिये ही कोई स्थान है । सचमुच ही समूची आजकी सभ्यता इस समय इसी भँवरमें पड़ी गोते खा रही है !

सभ्य कहानेवाले इन अमेरिका और अन्य देशोंमें होनेवाली आत्महत्याओंका विषय पढ़कर मैंने इस बातकी जाँच की कि समझदार और शिक्षित मनुष्य जो ऐसे भयंकर उपायका अवलम्बन करते हैं, इसका कारण क्या है । मुझे तो यही जँचा कि इन आत्महत्याओंका मुख्य कारण ईश्वरपर विश्वास न होना ही है । ईश्वरपर विश्वास होनेसे मनुष्य न केवल अपनी अनुचित इच्छाओंको रोकता है, बल्कि

संकटकालमें यह विश्वास ही ढाल बनकर उसकी सर्वथा रक्षा करता है। जो लोग ईश्वरका भरोसा करते हैं, वे आपत्कालमें कभी धीरज नहीं खोते। उनके लिये विपत्तियाँ केवल आगमापायिनी ही नहीं हैं, प्रत्युत एक प्रकारका ऐसा प्रायश्चित्त है कि जिनसे अन्तमें कल्याण ही होता है। जब कोई विपत्ति उन्हें बुरी तरहसे घेरती है, तब वे ईश्वरको (चिल्ला-चिल्लाकर भी) पुकारते हैं और कोई-न-कोई बात ऐसी हो जाती है, जिससे वे दुःखसे उबरते हैं। यह सम्भव है कि उन्हींका मन उनकी इस प्रकार मदद करता हो, पर यह भी कोई मामूली बात नहीं है। जो लोग अपनी बुद्धिके परे और कोई शक्ति नहीं मान सकते, उन्हें संकटकालमें कोई करुणा, कोई सहायता, कोई परित्राण नहीं प्राप्त होता। जब कष्ट असह्य हो जाता है, तब वे हिम्मत हार देते और आत्महत्या कर डालते हैं। मुझे स्मरण है कि एक महात्मा लोगोंसे यह कहा करते थे कि 'किसी संशयात्माको तर्कके द्वारा ईश्वरकी सत्ताका विश्वास दिलाना सम्भव नहीं है। कोई बड़ी भारी विपत्ति आ जाय या कोई दुःसाध्य रोग हो जाय अथवा किसी प्रियजनका वियोग हो तो उससे नास्तिकोंको ईश्वरकी सत्तापर विश्वास अनायास हो सकता है। तात्पर्य, ईश्वरका जबतक भरोसा नहीं होता, तबतक शान्ति, प्रसन्नता आदि उदात्त गुण भी नहीं प्राप्त होते।

(३) अपनी वैयक्तिक बात यह है कि कर्मका सिद्धान्त और विकट प्रसङ्गोंमें अनुभूत होनेवाली महती करुणा—ये दो मुख्य बातें हैं, जिनसे ईश्वरकी सत्ताका विश्वास होता है। मैंने केवल अपने ही विषयमें नहीं; बल्कि दूसरोंके विषयमें भी यह जाँचकर देखा है कि कर्मका नियम कभी चूकता नहीं। ईश्वरकी चक्की धीरे-धीरे ही सही पर चलती है निःशङ्कभावसे। इसका धीरे-धीरे चलना महती करुणाका ही फल

है । मनुष्य जब कोई भूल करता है, तब यह करुणा उस मनुष्यके हेतुकी—नीयतकी—जाँज करती है । यदि उसका हेतु वास्तवमें सत् है तो उसे अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है और आगे फिर ऐसी भूल करनेसे वह अपने-आपको बचाता है; पर यदि उसका हेतु असत् रहा हो तो उसकी वृत्ति खराबसे और भी खराब होती जाती है और अन्तमें उसे किसी ऐसी विपत्तिका सामना करना पड़ता है, जो उसे दुरुस्त ही कर दे । मेरे विचारमें वे बड़े भाग्यवान् व्यक्ति हैं, जिन्हें अपनी जरा-सी भूलका भी तुरंत दण्ड मिल जाता है । उनका हिसाब साफ रहता है और वे सदा सावधान रहते हैं । यदि उनके साथ ढीलका व्यवहार होता तो न जाने वे किस मार्गपर चलते ।

'कल्याण' और 'कल्याण कल्पतरु' में आदर्श सरकारी नौकर' इस विषयमें मैंने जो लेख लिखा था । उसमें मैंने यह दिखलाया था कि किस प्रकार असद्-उपायसे प्राप्त धन या अधिकार कभी फलता नहीं । कितने ही रिश्वतखोरोंकी अन्तमें जो दुर्गति हुई है, उसके कर्मके नियन्तृत्वकी अटलता स्पष्ट ही प्रमाणित होती है कर्मको हम ईश्वरका ही वाचक समझ सकते हैं ।

(४) मुझे दुःख है कि मैं अपने विषयमें कोई खास बात नहीं कह सकता । हाँ, दो-एक बातें सामान्यरूपसे कहता हूँ । आकाशवाणीके सम्बन्धमें मेरी एक विचित्र धारणा है । आकाशवाणीका एक प्रकार यह है । मान लीजिये कि आप किसी बड़ी भारी विपत्तिमें हैं और इस विपत्तिसे बाहर निकलनेका कोई रास्ता आपको नहीं सूझ रहा है, ऐसी हालतमें आप किसीके सङ्ग कहीं टहल रहे हैं । इसी रास्तेसे और लोग भी आपसमें बात करते हुए आ-जा रहे हैं । इन्हींमेंसे किसीकी कोई बात सुनकर आप चकित हो जाते हैं; बात तो हो रही है उन

लोगोंके आपसमें, पर अकस्मात् आपको उसमें अपने परित्राणका उपाय सुनायी पड़ता है। आपके लिये यह आकाशवाणी हो जाती है। इस तरहकी कई घटनाएँ मेरे जानतेमें हुई हैं। इस तरहकी आकाशवाणीको मैं यों समझता हूँ कि इस प्रकारसे ईश्वर ही दूसरोंके द्वारा मनुष्य-वाणीसे बोलता है।

कितनी बार स्वप्नमें रोगियोंको दवाएँ मिलती हैं, दुखियोंको उद्धारके उपाय मिलते हैं। कई बार तो स्वप्नमें मन्त्रोपदेशतक हो जाते हैं। 'कल्याण' के 'शिवाङ्क' में पं० देवीसहायजीके विषयमें जो लेख लिखा गया था, उसमें मैंने इस तरहकी एक घटनाका उल्लेख किया है।

बीस वर्ष पहलेकी बात है कि मेरे एक मित्र किसी बारातके साथ अलीगढ़ जाना चाहते थे, पर गाड़ीके चूक जानेसे बारातका सङ्ग छूट गया। वे दूसरी गाड़ीसे गये, जब फिरोजाबाद पहुँचे, तब उन्होंने देखा कि पहलीगाड़ी टुकड़े-टुकड़े हुई पड़ी थी, गाड़ी लड़ गयी और यह दुर्गति हुई। बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे बचानेके लिये कभी-कभी भगवान्‌का हाथ इस तरह बीचमें आ जाता है।

मैं कई ऐसे मामलोंको जानता हूँ, जिनमें कई निरपराध व्यक्ति धूर्तोंके कुचक्रके शिकार होकर सरकारके सामने गिरफ्तार होकर लाये गये। सब तरहसे उनपर अपराध भी साबित हुआ और उनके छूटनेकी कोई आशा न रही, पर अन्तिम क्षणमें कोई बहुत मामूली-सी बात हो गयी और षड्यन्त्रकारियोंका सारा कुचक्र उन्हींपर उलट गया। और ऐसी बात ऐसे अदनेसे लोगोंके विषयमें घटी है, जिनका कोई मददगार या पैरोकार नहीं था। बड़े-बड़े संगीन मामलोंमें ऐसी घटनाएँ प्रायः होती हैं।

श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

तर्क और अनुमानोंद्वारा निस्संदेह जो प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है, उसको न मानना निरी मूर्खता है; परंतु तर्क और अनुमानों-द्वारा समझनेकी शक्ति किसीमें न हो, तब भी माननेवालोंको एक प्रकारसे उत्साह और धैर्य मिलता है। उनमें आशाका संचार होता है और शुभ कर्मोंके करनेमें रुचि होती है।

२—ईश्वरको न माननेसे कौन-कौन-सी हानि है ?

न माननेसे पाप-पुण्यपर भी विश्वास नहीं रहता। जो कर्म-फलमें विश्वास करते हैं या कर्मोंको ही प्रधानता देते हैं जैसे जैन, बौद्ध आदि; वे प्रकारान्तरसे कर्मरूपी ईश्वरको ही मानते हैं। कर्मफल किसी महती सत्ताके बिना स्वतः नहीं सिद्ध होता। अतः कर्मफलको न माननेवाले ही सच्चे नास्तिक हैं और ऐसे मनुष्य अवसर पड़नेपर भयानक-से-भयानक अपराध कर सकते हैं।

३—ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं ?

जिस प्रकार एक घड़ी-यन्त्रको देखकर उसके बनानेवालेकी कल्पना की जाती है, उसी प्रकार संसारके घड़ीयन्त्ररूप सूर्य-चन्द्रादिकों-को तथा मनुष्यादि जीवोंके शारीरिक यन्त्रोंको देखकर यह सहज ही समझमें आ सकता है कि इन यन्त्रोंको बनानेवाला और चलानेवाला कोई-न-कोई जरूर होगा ही।

४—अपने जीवनकी ऐसी घटनाएँ लिखिये जिनसे ईश्वरकी सत्ता और दयामें आपका विश्वास बहुत बढ़ा हो।

ऐसी घटनाएँ अनेक हुई हैं। मैं समझता हूँ, जिन मनुष्योंमें कुछ भी समझनेकी शक्ति है, उन्हें अपने जीवनमें ऐसी अनेक चमत्कारी घटनाओंका अनुभव होता होगा, जिनसे ईश्वर-सत्ताके विषयमें किंचित् अविश्वास रह ही नहीं सकता।

श्रीजयरामदासजी 'दीन'

इस विद्याबुद्धिहीन 'दीन' की गति इतनी ही है कि श्रीतुलसीकृत रामायणका पाठ पढ़ लेता है और श्रीमानसजीकी कृपासे जैसा अवगत होता है, उन्हींके शब्दोंका थोड़ा अर्थ या तात्पर्य लिखकर श्रीमानसप्रेमियोंकी सेवाके निमित्त उनके आज्ञानुसार सेवित कर देता है। इससे अधिक यह कुछ जानता ही नहीं। श्रीरामचरितमानसके अवलम्बनने इस 'दीन' में श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम (रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥)—इन चारों विग्रहोंमें दृढ़ अन्धविश्वास पैदा कर दिया है। यह श्रीसरकारके शीलस्वभावको पढ़कर अन्तःकरणसे मुग्ध होकर इसीमें धन्य मानता है कि 'जो जगदीश तो अति भलो जो महीस तो भाग। तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन अनुराग॥' अतएव कभी स्वप्नमें भी ऐसे प्रश्नोंका स्फुरण नहीं होता कि 'ईश्वरको क्यों मानना चाहिये? कौन-कौनसे प्रमाण

हैं ? न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?' इत्यादि तथापि जगत्-हितैषी श्रीसम्पादकजीने जनताके परम कल्याणार्थ इन प्रश्नोंको उपस्थित किया है। अतः श्रीरामचरितमानसके ही आप्त प्रमाणों-द्वारा, जो 'नानापुराणनिगमागम'के निचोड़ हैं, उत्तर लिखकर सेवामें समर्पण किया जा रहा है।

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि वही सब जीवोंके बन्ध-मोक्षका अधिकार रखते हैं—मायाके प्रेरक हैं तथा सर्वपर अर्थात् सबसे बड़े हैं—'बन्ध मोच्छप्रद सर्वपर मायाप्रेरक सीव' उनके इन्हीं अधिकारोंका स्पष्टीकरण इन चौपाइयोंमें है—

नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥

× × ×

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥

ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि वही इस सम्पूर्ण जगत्के कर्ता (रचयिता), पालक (पोषणकर्ता) और संहर्ता (नाशकर्ता) हैं—ये तीनों अधिकार उन्हींको हैं। यथा—

तासु भजनु कीजिअ तहँ भर्ता। जो कर्ता पालक संहर्ता॥

× × ×

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥

ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि वही सबके नियन्ता हैं, उन्हींकी आज्ञासे सब कुछ होता है। यथा—

ई० स० म० २९—

ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय विषहु अमी के॥

× × ×

बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव कर्म कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्ध निगमागम गाई॥
करि बिचारि जिय देखहु नीके। राम रजाय सीस सब ही के॥
प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई। करौं सो बेगि जो तुम्हहि सोहाई॥

ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि उनकी कृपासे सम्पूर्ण अनिष्ट इष्टरूप बन जाते हैं——

गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुअ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवहिं जाही॥

ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि वे बड़े कृपालु, बड़े सरल और बड़े शीलवान् हैं। उनके-जैसा सुन्दर स्वभाव किसीका है ही नहीं। एक बार उनकी दया जिसपर हो गयी, वह फिर कभी उनका कोपभाजन बनता ही नहीं। जैसे——

उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परम गति सो जियँ जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥

× × ×

गई बहोर गरीबनेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥

× × ×

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥

सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥

× × ×

उमा राम सुभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

× × ×

देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
जेहि जन पर ममता अति छोहू। तेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥ इत्यादि

ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि कोई कैसी भी दीन-दशामें क्यों न हो, ईश्वरके शरणागत हो जानेपर वे उसको तत्काल अपना लेते हैं। पूर्वकृत सम्पूर्ण अपराधोंको क्षमा कर देते हैं एवं लोक-निर्भयताके साथ-साथ परलोककी सुगति प्रदान करते हैं। यथा—

क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनाम किएँ अपनाए॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समान साज सब साजी॥

× × ×

सखा नीति तुम्ह नीक बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजौं नहिं ताहू॥
सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि वे सर्वत्र व्यापक हैं। जहाँ ही कोई उनसे प्रेम करता है वहीं वे प्रकट होकर रक्षा या सहायता करते हैं और अभीष्ट भी सिद्ध कर देते हैं। यथा—

प्रभु व्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जग मय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी॥

बोले कृपानिधान प्रभु अति प्रसन्न मोहि जानि।
मागहु बर जो भाव मन महादानि अनुमानि॥

ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि समस्त वेद, पुराण सत्-शास्त्र, ब्रह्मादि देव, शुकादि मुनि और शिव-भुशुण्डादि महा-भागवतोंकी यही सम्मति और अनुभव है, कि 'ईश्वरके ही भजनसे कल्याण होता है। अन्य किसी प्रकारसे क्लेशकी निवृत्ति नहीं हो सकती।' जैसे—

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥
श्रुति पुरान सदग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥
निज अनुभव अब कहहुँ खगेसा। बिनु हरि भजन न मिटहिं कलेसा॥
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समरथ रघुनाथ कहँ भजहिं जीव ते धन्य॥

२—ईश्वरको न माननेसे कौन-कौन-सी हानियाँ हैं?

ईश्वरको न माननेसे लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। जैसे—

ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन बिश्राम।
भूतद्रोह रत मोह बस राम बिमुख रत काम॥

× × ×

राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥

× × ×

सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरसि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं॥

× × ×

ईश्वर (श्रीरघुनाथजी) की विमुखतासे समस्त हित अनहित और सम्पूर्ण इष्ट अनिष्टके रूपमें बदल जाते हैं। जैसे मित्र शत्रु

होकर अहित करने लगते हैं, माता मृत्युरूप और पिता कालरूप बन जाते हैं, अमृत विषका काम करने लगता है, गङ्गाजी वैतरणी बन जाती हैं और सारा संसार अग्निसे भी अधिक दाहक हो जाता है। देखिये—

मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥
मित्र करै सत रिपु की करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥
सब जग ताहि अनल ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥

× × ×

भरद्वाज सुनु जाहि जब होहि बिधाता बाम।
धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम॥

× × ×

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥

३—ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं?

श्रीरामचरितमानसमें ईश्वरके अस्तित्वके अनेकों प्रबल प्रमाण मौजूद हैं। पहले बालकाण्डमें श्रीस्वायम्भुव मनुकी कथा देखिये। श्रीमनु महाराज और उनकी धर्मपत्नी श्रीशतरूपाजीने बहुत काल-तक राज्य कर लेनेके बाद चतुर्थपनमें गृह-त्याग किया और श्रीनैमिषारण्य-तीर्थको गये। वहाँ जाकर उन्होंने परम प्रभु भगवान् (ईश्वर) के चरणोंमें अनन्य अनुराग-रक्त होकर तेईस हजार वर्षतक कठिन तपस्या की। इसपर प्रसन्न होकर ईश्वरने आकाशवाणी की,

फिर जब उन्होंने साक्षात् दर्शनकी अभिलाषा प्रकट की, तब ईश्वरका प्रादुर्भाव भी हुआ और दर्शन होनेके पश्चात् उनके घरमें अवतार लेनेका वर मिला। अतः जब वही मनु और शतरूपा, दशरथ और कौसल्याके रूपमें 'अवध भुआल' हुए तब उनके घरमें परब्रह्म ईश्वरने अपने प्रदत्त वाक्यानुसार श्रीरामरूपमें अवतार लिया। अतः यदि ईश्वर होते ही नहीं तो किसकी आकाशवाणी होती? कौन आकर उनको प्रत्यक्ष दर्शन और वर-प्रदान करता तथा कैसे श्रीरामावतार होता? पूरा प्रसङ्ग यों है—

स्वायंभुव मनु अरु सतरूपा। जिन्ह ते भइ नर सृष्टि अनूपा॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥
बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥
करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥

एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार।
संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥

बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ॥
प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥
मागु मागु बरु भइ नभ बानी। परम गभीर कृपामृत सानी॥

श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदयँ समात॥

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पदरेनू॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर नायक॥
जौं अनाथ हित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥
जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥
दंपति वचन परम प्रिय लागे। मृदुल विनीत प्रेम रस पागे॥
भगत बछल प्रभु कृपा निधाना। विस्व वास प्रगटे भगवाना॥

बोले कृपा निधान प्रभु अति प्रसन्न मोहि जानि।
मागहु वर जो भाव मन महादानि अनुमानि॥

× × ×

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहौं सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥
देखि प्रीति सुनि वचन अमोले। एवमस्तु करुना निधि बोले॥
आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥
अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी॥

तहँ करि भोग विसाल तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तव मैं होब तुम्हार सुत॥

इसके अतिरिक्त रावणके अत्याचारसे अत्यन्त भयभीत होकर पृथ्वी जब व्याकुल हो गयी—'अतिसय देखि धरम कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥' तब गौका रूप धारण करके ब्रह्मलोकमें देवताओंके सम्मुख गयी—'गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी।' वहाँ-पर श्रीशिवजीने सम्मति दी कि 'ईश्वर सब जगह व्याप्त हैं और प्रेमाभिनन्दनसे प्रकट हो जाते हैं'—'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥' यह सुनकर श्रीब्रह्माजीने स्तुति की—'सुनि विरंचि मन हरष तन पुलक नयन वह नीर। अस्तुति कर तव जोरि कर सावधान मति धीर॥' वहाँ भी आकाशवाणी हुई। जैसे—

जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह ।
गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह ॥
जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउँ नर वेसा ॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहउँ दिनकर वंस उदारा ॥

अस्तु, यदि ईश्वर न होते तो वहाँ भी ब्रह्मादिककी स्तुति किसके लिये होती ? किसकी ओरसे आकाशवाणी होती और 'गगन गिरा' से ऐसी सान्त्वना देकर कौन प्रकट होता ? ग्रन्थमें आगे चलकर स्पष्ट प्रमाण मौजूद है कि उसी ईश्वरने—उसी परम प्रभु व्यापक ब्रह्मने श्री 'दिनकर-वंश' (सूर्यवंशी कुल) में श्रीदशरथ महाराजके घर अवतार लिया और मर्यादापुरुषोत्तम-चरितके द्वारा लोकधर्मकी स्थापना करके भूमिभारका अपहरण किया । वह ईश्वर नहीं तो दूसरा कौन था ? प्रमाणमें देखिये—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार ॥
व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥ इत्यादि

इस प्रकार ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाणोंसे सारा ग्रन्थ भरा पड़ा है और सभी प्रमाण वेद, उपनिषद् और गीता आदिके ही निचोड़ हैं; क्योंकि—

'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ॥'

अब कोई हठ करके वेदादिके वाक्योंपर विश्वास ही न करे तो उससे यही कहना है कि वह कम-से-कम अपने जन्म और मृत्यु

पर ही विचार करे। उससे भी यह विदित हो जायगा कि 'जन्मसे पहले कोई शक्ति या सत्ता अवश्य रहती है, जिससे शरीर बनता है और जिसकी आज्ञा या इच्छासे ही यह विनाशको भी प्राप्त होता है।' अतः ये दोनों कार्य जिससे होते हैं या जिसके अधीन हैं, उसीका नाम ईश्वर है। जन्म तथा मृत्यु—संसारका अस्तित्व और विनाश ईश्वरके होनेके प्रबल प्रमाण हैं; क्योंकि जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार जिस अगाध बुद्धिमत्तासे होता है, वह क्या किसी जड-तत्त्वसे सम्भव है? कदापि नहीं।

चौथे प्रश्नका उत्तर देनेके पहले इस 'दीन' का यह निवेदन है कि जबतक मुझको बोध नहीं था, तबतक तो जीवनकी घटनाएँ अपने या अपने सम्बन्धियोंके कार्योंका परिणाम जान पड़ती थीं; परंतु अब पिछली तथा वर्तमान सभी घटनाओंसे श्री-कृपालु प्रभु (ईश्वर) की प्रभुताका ही निश्चय होता है। अस्तु,

इस 'दीन' का जन्म एक सरयूपारीण ब्राह्मणकुलमें, जो परम्परा-से श्रीवैष्णव था, दिया गया। (ईश्वरकी सर्वप्रथम करुणा तो इसी-में थी, क्योंकि 'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥') तोतली बोलीकी अवस्थासे ही पूज्य श्रीमाताजीने श्रीतुलसी-कृत रामायणकी चौपाइयाँ कण्ठ कराना आरम्भ कर दिया और श्रीमानस-जीमें ही अक्षरों और मात्राओंकी पहचान कराकर रामायण पढ़ लेनेका भी अभ्यास करा दिया। बस, मेरी हिंदी-शिक्षाका अथ और इति यही है। कुछ और सयाना होनेपर उर्दू पढ़नेके लिये मदरसे भेजा गया। वहाँसे उर्दू-मिडिलकी परीक्षा पास करनेके

बाद अंग्रेजी पढ़नेमें ही शिक्षण-कालका सारा समय बीत गया। हिंदीसे इतना ही नाता रहा कि पहलेसे झुकाव हो जानेके कारण नित्य श्रीमानसजीका पाठ कर लिया करता था। शिक्षा समाप्त होनेपर श्रीमानसजीकी कृपासे यह अभिलाषा हुई कि 'कोई ऐसी नौकरी मिल जाती, जिसमें अधिक प्रपञ्च न होता, नियमित समयतककी ड्यूटी होती, श्रीमानसजीका भलीभाँति अध्ययनकर आनन्द लेनेका और श्रीरामनाम-रटनका पूरा समय मिलता।' ऐसा विचार हो जानेके बाद सीधे फौजकी कमीशन-अफसरी (जमादारी) की कोशिश होने लगी। शरीरके सम्बन्धी पूर्वज फौजमें सूबेदारी और सूबेदारमेजरी आदि करके पेंशन पा रहे थे। उनकी सहायतासे कलक्टर और कमिश्नर आदिने सिफारिश करके पूरा-पूरा योग जुटा दिया; परंतु जिस फौजमें जगह खाली थी, उसके कमांडिंग अफसरने यह लिखकर ढालमटूल कर दी कि 'हम एक व्यक्तिको सीधे ले चुके हैं, अब फिर तत्काल ही दूसरेको ले लेनेसे बड़ी कठिनाई और अव्यवस्था होगी। इनको दूसरा अवसर दिया जायगा।' परंतु कमिश्नर आफ डिवीजनने हठ करके उसी साल मुझे पुलिस ट्रेनिंगमें भेज दिया। वहाँ सालभरतक थानेदारीकी शिक्षा प्राप्त कर लेनेके बाद श्रीअयोध्याके थानेमें प्रोवेश्नरी पीरियडके लिये मेरी तैनाती हो गयी। फिर भी फौजकी जमादारी न मिलनेके कारण मुझको जितना शोक हुआ, वह सर्वथा अकथनीय है; परंतु उसमें ईश्वरीय लीलाका कितना अद्भुत रहस्य था? थोड़े ही समयके पश्चात् जर्मनका महायुद्ध आरम्भ हो गया। उसमें वह फौज, जिसका मैं जमादार बननेवाला था, बुरी तरह समाप्त हो गयी। उस अपेक्षित जगहपर मेरे

वजाय जो जमादार नियुक्त किये गये थे, उनका तो कहना ही क्या ! उनके पीछे एकके बाद न जाने कितने भाई कालके ग्रास बन गये ! उस घटनाको देखकर सरकारकी साहबीको हृदय धन्यवाद देता हुआ दंग रह गया और उस जमादारीके न मिलनेकी बड़ी खुशी हुई, क्यों न हो, बड़ी साहबीमें नाथ बड़े सावधान हैं।

श्रीअवधधाममें रहकर श्रीरामायणजीके अध्ययनका खूब सुअवसर मिला। सरकारकी पुरीका पहरा भी दत्तचित्त होकर दिया जाने लगा, परंतु जब-जब संतवेषधारियोंके दुराचारोंकी रपटें आती थीं और जाँच करनेपर उनके दुर्व्यवहारोंकी स्थितियोंका पता चलता था, तब-तब समाजसे चित्त खिन्न-सा हो जाता था। मैं श्रीभगवान्से यह प्रार्थना करने लगता कि 'हे प्रभु ! संतोंके लक्षण जिस तरह श्रीरामायणमें वर्णित हैं, वैसे संत कहाँ प्राप्त होंगे ? इन दम्भियोंसे तो साधारण गृहस्थ ही अच्छे हैं।' इस प्रकार वहाँपर श्रीसरयूस्नान और श्रीहनुमान्जी, जन्म-भूमि एवं बड़े-बड़े मन्दिरोंका शुभ दर्शन होते रहनेपर भी अच्छे सच्चे संत-महात्माओंकी संनिधिका संयोग नहीं मिलता था। मुकदमेबाजोंको देखकर तो घृणा हो जाती थी। अजीब दशा हो गयी थी। उधर पुलिसके कठिन कार्योंका तौर-तरीका भी असत्यपूर्ण हो चला था। तबतक भगवत्-कृपासे श्रीप्रयागमें माघ मेला लगा और एक मासके लिये मुझको इन्तजामकी ड्यूटीपर जाना पड़ा। वहाँ पूर्व चेष्टानुसार किसी सच्चे संत-सद्गुरुकी प्राप्तिकी अभिलाषा बढ़ी। श्रीमानसजीकी कृपासे मुझको रामायण और गीताका पाठ करते देखकर दारागंजके छोटी लाइनवाले स्टेशनमास्टर मेरे पास

आकर बैठ गये। उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। उनमें भक्ति-बीज देखकर पाठ समाप्त होनेके पश्चात् मैंने उनसे यह प्रश्न किया कि 'भाई! आप यहाँ बहुत दिनोंसे हैं, इस तीर्थराजमें निवास करनेवाले किसी सच्चे संत-महात्माके पास ले चलकर मुझे दर्शन कराइये।' प्रभुकी कृपासे उन्होंने तत्काल ही कहा कि 'आप जैसे संतकी खोजमें हैं, उनका मैं आज ही शामको दर्शन करा दूँगा।' बस क्या था, सायंकाल होते ही वे मुझको बाँधगुफापर श्रीपूज्य परमहंस दिगम्बर-स्वरूप श्रीनागाबाबाजी महाराजकी शरणमें ले गये। उनसे उन्होंने यह भी निवेदन कर दिया कि 'ये (मैं) रामायणका बड़ा अच्छा पाठ करते हैं।' श्रीपूज्यमहाराजजीने आज्ञा दी कि 'रामायण लाओ और हमको सुनाओ।' 'दीन' ने आज्ञापालन किया। महाराजजी बहुत प्रसन्न हुए और पुनः आज्ञा हुई कि 'जबतक यहाँ ड्यूटी-पर रहो, रोज संध्याकालमें रामायण सुनाया करो।' माघ-मकरभर यह सौभाग्य रहा। मेला समाप्त होनेपर दासने प्रार्थना की कि 'प्रभो! इस दीनसे यही सेवा बराबर ली जाय। अब पुलिसका काम सपरना इससे असम्भव है। आज्ञा हो तो छोड़कर हाजिर हो जाऊँ।' इसपर आदेश हुआ कि 'फल पककर जब टपकता है, तब अधिक मीठा होता है। हाँ, इतना ख्याल रहे कि कोई बेगुनाह तुम्हारेद्वारा चालान न हो।' मैं लौटकर फैजाबाद आया और श्रीभरतकुण्डके थाने (पूरा कलन्दरमें) मेरी तैनाती हो गयी। जहाँपर श्रीभरतजीने 'महि खनि कुस साथरी सँवारी' और चौदह वर्षतक तपस्या की थी, 'दीन' अकेलेमें चुपकेसे उस जगहपर जाकर श्रीभरतचरितका पाठ करता और जंजालसे छुटकारा पाने तथा राघवजीके चरणोंमें

प्रीति होनेकी बारंबार विनती करता था। दूसरे माघमें अनायास ही 'दीन'की ड्यूटी फिर प्रयागके माघमेलेमें हो गयी। इतना ही नहीं, प्रभु (ईश्वर) की अद्भुत कृपासे उन्हीं स्टेशनमास्टर बाबू श्यामानन्दके यहाँ (आजकल भी आप झूँसी स्टेशनपर हैं) ड्यूटी मिली ! अतः यह दूसरा माघ फिर आनन्दपूर्वक श्रीपूज्यस्वामी परमहंस-राजजीके दुर्लभ सत्सङ्गमें व्यतीत हुआ। तीसरे माघमें तो संत-भगवंतकी असीम कृपा तथा श्रीमानसजीके प्रतापसे मैं उस कठिन कार्यसे अलग ही हो गया और निश्चिन्तरूपसे श्रीपूज्यपादजीकी शरणमें चला गया। आज उसे लगभग बीस वर्ष हो रहे हैं।

उस समय कहाँ तो श्रीमानसमें वर्णित खलोंके स्वभावानुसार ('जे पर दोष लखहिं सहसाखी') मुझको पुलिसकी ड्यूटी मिली थी और कहाँ आज अहर्निश यह धारणा दृढ़ करायी जा रही है कि 'सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं, देखिअ सो अविवेक ॥' अतः यह उस परम प्रभु ईश्वरकी ही कृपा है कि ऐसे दीन-हीन सर्वोपायशून्यको भी ऐसे महानुभावोंके चरणोंकी शरण मिल गयी है। वास्तवमें तीनों दुर्लभ साज सजा दिये गये हैं, अब अपनी ही जडता है कि कृतार्थ होनेमें कसर रह गयी है। यथा—

नर तन भव बारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंद मति आत्माहन गति जाइ ॥

भगवान्‌की करुणाका कुछ भी ठिकाना नहीं है। वे प्रतिक्षण प्राणिमात्रकी रक्षा कर रहे हैं, परंतु यह न जाननेके कारण जीव कुछ और ही गुनता है। भगवान्‌के भजनमें विश्वास करके उसमें हठात् लग जानेसे भगवत्कृपा अवश्य आरम्भ हो जाती है और उसके द्वारा भगवान्‌की प्रभुताका बोध होने लगता है। फिर प्रभुताके बोधसे प्रतीति उत्पन्न होती है, प्रतीतिसे प्रीति होती है और प्रीतिसे भगवद्भक्ति दृढ़ हो जाती है। यह श्रीभुशुण्डिजीका अनुभव है। जिसको इस अनुभवकी सत्यता देखनी हो, वह श्रीरामनामरटनरूपी भजनको नियमितरूपसे करके देख ले। नियमानुसार नित्य एक लाख, पचास हजार या पचीस हजारका नाम रटन न हो सके तो कम ही सही, पर दृढ़ संकल्पके साथ करे। देखिये—

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा ॥
राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई ॥
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥

बिनु गुर होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु ॥
बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ॥
अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय !

डा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर

ईश्वर-प्रार्थनामें अपूर्व शक्ति है। ईश्वर-उपासनासे सब प्रकारके दुःखों और कष्टोंका निवारण होता है। उससे न केवल रोगके निवारणमें शान्ति मिलती है; किंतु जीवनकी सभी आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं। प्रार्थनाकी अलौकिक शक्तिमें भारतवासियोंका आजकल बहुत कम विश्वास है, परंतु पाश्चात्य देशोंमें इसके लिये खास-खास संस्थाएँ खुली हुई हैं। प्रार्थनासे अनेक रोग निवृत्त किये जाते हैं और अनेक कामनाएँ पूर्ण होती हैं, जिसका वहाँ विधिपूर्वक रेकार्ड रक्खा जाता है। उन देशोंमें लाखों मनुष्य प्रार्थनाके प्रभावपर विश्वास करते हैं। प्रार्थनाका रहस्य क्या है, इसका दिग्दर्शन कराते हुए हम यहाँपर पाठकोंके अवलोकनार्थ कुछ उदाहरण देते हैं।

प्रार्थनाका रहस्य

प्रार्थनाका विषय एवं तत्त्व जानना प्रार्थना करनेवालोंके लिये परम आवश्यक है। प्रार्थना क्या है और क्यों की जाती है? प्रार्थनाका उत्तर मिलता है या नहीं? मिलता है तो किस प्रकार? और यदि नहीं तो उत्तर न मिलनेका कारण क्या है? प्रार्थनाका अर्थ है—'किसी अर्थकी याचना करना' या 'किसी अभावका अनुभव कर उसकी प्राप्तिके लिये सहायता प्राप्त करना।' प्रार्थनाके तीन प्रयोजन विशेषकर होते हैं—(१) सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके हेतु या किसी स्थूल अभावकी पूर्तिके निमित्त प्रार्थना की जाती है, जैसे अन्न, वस्त्र, नौकरी, धन, स्त्री या पुत्र-प्राप्ति, रोग-निवारण, किसी क्लेश या दुःखसे

रक्षा, आपत्तिका नाश, सम्मान-प्राप्ति, परीक्षामें सफलता और विद्या-प्राप्ति आदि सब व्यावहारिक सिद्धियोंके लिये। (२) आत्मिक उन्नतिके लिये, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मानसिक विकारोंपर जय प्राप्त करनेके लिये, आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, मृत्यु क्या है, मृत्युके बाद क्या होता है और सृष्टि क्या है इत्यादिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, मानसिक और बौद्धिक उन्नतिके लिये, अध्यात्म-ज्ञान और यथार्थ साधन जाननेके लिये। (३) तीसरे प्रकारके वे सच्चे प्रार्थना करनेवाले प्रेमी भक्त होते हैं, जिन्हें कुछ भी माँगना नहीं है। जो केवल उस महाप्रभुके ध्यानमें और प्रेममें ही निरन्तर लीन रहना चाहते हैं या उस प्रियतमसे एक होनेके लिये अपनी खुदीको मिटाकर ईश्वर-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार करनेके लिये अतीव हार्दिक उत्कण्ठा रखते हैं। यह सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है।

जो जिस कामनाके लिये प्रार्थना करता है, उसकी वे सब कामनाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं। 'यत् यत् इच्छति तस्य तत्।' प्रार्थनाका उत्तर अवश्य मिलता है। जो धनके लिये प्रार्थना करते हैं, उनको यथावाञ्छित धन किसी भी साधनसे मिल जाता है। जो अन्न-वस्त्रके लिये प्रार्थना करता है, उसके द्वारपर अन्न, वस्त्र किसी भी प्रकार पहुँच जाते हैं। जो विद्या-प्राप्तिके निमित्त प्रार्थना करता है, वह बड़ा विद्वान् हो जाता है। अनाथालय आदि धार्मिक कार्योंमें परोपकारी पुरुषोंके पास, जिनका उद्देश्य केवल प्राणिमात्रको सहायता देकर सेवा करना है, प्रार्थना करनेपर आवश्यक सहायता अवश्य पहुँच जाती है। कभी-कभी प्रार्थना पूर्ण नहीं भी होती। इसका कारण यह है कि पूर्व-जन्मके कर्मका कोई प्रबल सम्बन्ध इसी प्रकारका होता है कि उसका उसी समय उनको अवश्य ही फल

मिलना चाहिये। इसके विरुद्ध यह भी प्रत्यक्षमें देखा जाता है कि अनेक पुरुषोंकी प्रार्थनाका कोई उत्तर भी नहीं मिलता, इसका कारण यह है कि या तो उन्हें असली प्रार्थना करना नहीं आता या उनके भी पूर्वजन्मका कोई महान् प्रतिबन्धक होता है।

जो मनुष्य परोपकारी, चरित्रवान्, श्रद्धासम्पन्न, ईश्वरमें विश्वासी, प्रबल धारणा-शक्तिवाले और निःस्वार्थी होते हैं, उनकी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। पापी, कुकर्मी, अविश्वासी, अश्रद्धालु और निर्बल इच्छाशक्तिवालोंकी प्रार्थना ही प्रायः निष्फल हुआ करती है। प्रार्थनाओंका उत्तरदाता ईश्वर ही है। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है। जिसकी शक्तिमें, जिसके ज्ञानमें, जिसके प्रेममें समस्त चराचर स्थित है—जो सृष्टिमें सर्वत्र मौजूद है। जिसके ज्ञानके विना एक पक्षी भी आकाशमें नहीं उड़ता, जिसके ज्ञानके विना एक चींटी भी भूमिपर पैर नहीं रखती, ऐसा सर्वविधाता ईश्वर ही है; वही प्राणियोंकी प्रार्थनाओंको सुनता है और उनको यथोचित उत्तर देता है।

दृढ़ श्रद्धासे ईश्वर-प्रार्थना करनेवालेके जीवनमें अनेक विचित्र-विचित्र अनहोनी घटनाएँ घटित होती हैं। मैं यहाँ पाश्चात्त्य देशके प्रार्थना करनेवाले कुछ भद्र पुरुषोंका ही परिचय दूँगा।

१—विलायतके स्वर्गीय जार्ज मूलर प्रसिद्ध ईश्वर-भक्त थे, इन्होंने सैकड़ों अनाथालय स्थापित किये हैं। इनका सारा काम प्रार्थनापर ही चलता था, ये कभी न तो किसीके पास एक पाईके लिये भी याचना करने गये थे और न कभी इन्होंने अपील ही प्रकाशित की थी, फिर भी इन्हें १५०००००० पौंड द्रव्य अर्थात् २२५०००००० सवा दो करोड़ रुपये घर बैठे प्राप्त हुए थे। मूलर साहबका प्रार्थनामें बड़ा ही अटल

विश्वास था । एक वारका वृत्तान्त है कि उनके अनाथालयमें वालकोंके लिये भोजन नहीं था । प्रवन्धकने आकर कहा कि 'आज तो एक मुट्ठी अन्न भी नहीं है—क्या किया जाय ?' मूलर साहवने कहा—'आप अपना काम कीजिये, टेवल, तश्तरी आदि सव ठीक कीजिये ।' वह आश्चर्य करने लगा कि 'यह मनुष्य क्या पागल हो गया है ?' फिर थोड़ी देर वाद उसने आकर कहा कि 'कुछ प्रवन्ध कीजिये, वालकोंके भोजनका समय संनिकट है ।' मूलर साहवने पुनः वही उत्तर दिया कि 'आप अपना काम कीजिये,' किंतु इससे प्रवन्धकको संतोष न हुआ, वह पुनः मूलरके पास आकर तेजीसे वोला कि 'खानेका समय हो गया, क्या घण्टा वजा दिया जाय ?' मूलर साहवने पूर्ण आशा और दृढ़ विश्वाससे उत्तर दिया—'घण्टा वजा दो । हमारा जो काम था, हमने कर दिया, अव शेष जिनका काम है वे अपना करेंगे ।' भोजनके लिये सव वालकोंके एकत्र होते ही तुरंत भोजनकी पकी-पकाई पूरी सामग्री अनाथालयमें उसी समय आ गयी । किसी वडे आदमीने उस दिन अपने मित्रोंको वड़ा भोज देनेका आयोजन किया था और एक होटलमें सव सामग्री तैयार करवायी थी, किंतु किसी कारणवश वह भोज स्थगित करना पड़ा । उस मनुष्यको यह अन्तःप्रेरणा हुई कि सामान सड़ जायगा, इसलिये इसको मूलर साहवके अनाथालयमें भेज देना चाहिये । उसने होटल-मैनेजरको आज्ञा दी कि सारी सामग्री भोजनके समयतक अनाथालयमें पहुँचा दो । वालकोंने प्रेमपूर्वक भोजन किया और सवको वड़ा आश्चर्य हुआ । मूलर साहवने प्रार्थनासे उठकर प्रवन्धकको वुलाया और उसे आज्ञा दी कि 'तुम्हारे समान अविश्वासी मनुष्यकी मुझे आवश्यकता नहीं, जिसे उस परम पिता परमेश्वरपर घंटेभरके लिये भी विश्वास नहीं है ।

एक बार मूलर साहब ईश्वरवादपर व्याख्यान देनेको जहाजसे कहीं जा रहे थे। मार्गमें बड़े जोरोंसे कुहरा पड़ा, सर्वत्र धुंध छा गयी, कहीं मार्ग दिखायी नहीं देता था। मूलरने कप्तानसे कहा कि 'महाशय! मुझे शनीचर पहली तारीखको अवश्य पहुँचना है।' कप्तानने कहा—'असम्भव है, देखो कैसा कुहरा पड़ रहा है।' मूलरने कप्तानके कंधोंपर हाथ रखकर कहा कि 'आओ, ईश्वरसे प्रार्थना करें जिससे यह दूर हो जाय।' कप्तानने कहा—'तुम किस पागलखानेसे आये हो जो इस प्रकारकी अनहोनी बात कर रहे हो?' मूलरने कहा—'मैंने प्रार्थना की है और अभी उसका उत्तर मिलेगा, मैं ५७ वर्षोंसे अपने प्रभुका साक्षात्कार कर रहा हूँ और अभीतक मेरी प्रार्थनाके अचूक उत्तर मिले हैं। मेरी दृष्टि उस परम प्रभुकी ओर है, जो जीवनकी प्रत्येक स्थितिपर शासन करता है। जाओ, डेकपर जाओ, देखो कुहरा उतर रहा है।' कप्तान भी इस सीधे-सादे मनुष्यकी प्रार्थनाके प्रभावको देखकर चकित हो गया। कुहरा दूर हुआ और मूलर क्वेबेकको ठीक उसी समय पहुँचा, जिस समय उसे पहुँचना आवश्यक था। मूलरका सारा जीवन प्रार्थनामय था।*

२—अमेरिका (कनसास) में इस समय ईश्वरवादका प्रचार करनेवाले मिस्टर चार्ल्स फिल्मोर महाशय हैं, जिन्होंने 'युनिटी स्कूल आफ क्रिश्चियानिटी' नामक अध्यात्मवादकी एक बड़ी भारी संस्था स्थापित की है। मिस्टर फिल्मोर जन्मसे लूले-लँगड़े थे, महान् दरिद्र-अवस्थामें थे और इनके स्त्री-बच्चे सभी क्षय-रोगसे

---

* मूलरके विषयमें विशेष जानना हो तो 'A Venture of faith' पुस्तक देखिये।

पीड़ित थे, इनकी पत्नीको प्रेरणा हुई कि ईश्वरकी प्रार्थनासे हम चंगे हो सकते हैं।

केवल प्रार्थनाके बलसे अपनेको तथा कुटुम्बियोंको रोग-मुक्त करके कोई चालीस-पैंतालीस सालसे आप उक्त संस्थाका संचालन कर रहे हैं और केवल भगवत्प्रार्थनासे श्रद्धालु पुरुषोंकी आधि-व्याधि, दरिद्रता, रोग-शोक मिटाकर उन्हें सुख-शान्तिपूर्ण जीवन प्रदान कर रहे हैं। एक करोड़के लगभगकी सम्पत्ति संस्थाको समर्पण करके स्वयं एक साधारण व्यक्तिका-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यूनिटी एक नगर-सा बस गया है। इसके 'यूनिटी डेली वर्ड आदि दस मासिक साप्ताहिक पत्र हैं, जिसमें ईश्वर-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं, बाहर भेजे जाते हैं। १३५०० ग्राहक तो अकेले लॉस एंगलीज शहरमें ही हैं। ४००० पत्र नित्य आते हैं और ८००० से ऊपर पत्र नित्य जाते हैं, ६०००० पार्सल पैकेट प्रतिमास भेजे जाते हैं, यूनिटीके प्रतिदिन १००० ग्राहक बनते हैं, बीस लाख नोट-पेपर प्रतिवर्ष काममें लिये जाते हैं। संस्थामें चार सौ आदमी नित्य काम करते हैं। सबको वेतन मिलता है। ९० आदमी तो सिर्फ प्रार्थनाके लिये नियुक्त हैं, इनको जो लोग निःस्वार्थभावसे प्रेम-स्वरूप भेंट भेजते हैं, उसीमेंसे दे दिया जाता है।

इसमें बच्चोंके लिये, युवाओंके लिये, अंधोंके लिये अलग-अलग मासिक साहित्य प्रकाशित होता है। पत्र कई भाषाओंमें—जर्मन, इटली, फ्रेंच, स्पेनिश, नारवेजियन आदिमें प्रकाशित होते हैं। यूनिटीके ४० विभाग हैं।

(१) रोगीको बिना देखे प्रार्थनासे इलाज करना।

(२) गरीव, वेकार, दिवालियोंके लिये प्रार्थनासे सहायता दिल्वाना ।

(३) मानसिक उन्नति और अपने-अपने सुधारके लिये प्रार्थना करना ।

(४) शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक कठिनाइयोंको प्रार्थनाके वलसे दूर करनेका प्रयत्न करना ।

संस्थाका खर्च लोगोंके प्रसन्नता या प्रीतिसे दिये हुए दानपर चलता है । सम्पूर्ण कार्यकर्ता मांस-भोजनसे परहेज करते हैं, सव धर्मोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं एवं अध्यात्मवादी हैं । कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंको क्रिश्चियनधर्मसे सिद्ध करते हैं एवं सत्यग्राही हैं ।

३—एक अमेरिकन धनिक स्त्रीका पुत्र दिवाला निकलनेसे घरसे लापता हो गया । उसकी माताका अपने पुत्रपर परम स्नेह था । वह परमात्माकी परम भक्त थी और ईश्वर-प्रार्थनापर उसका अटल विश्वास था । पुत्रके वियोगमें वह रात-दिन ईश्वर-प्रार्थना किया करती थी । पड़ोसके लोग उसे पागल समझते थे कि इतने वर्षोंसे पुत्रके लिये प्रार्थना कर रही है, पुत्र कहीं मर-मरा गया होगा । पागल और व्यर्थ रो-रोकर जीवन-नाश कर रही है; पर उसे प्रार्थनामें दृढ़ विश्वास था, वह घरसे वाहर नहीं निकलती थी । तीस वर्ष वाद एक वूढ़ा व्यक्ति उसका पता पूछता-पूछता उसी गलीमें आया, तलाश करनेपर पड़ोसके लोगोंने कहा—'हाँ, यहाँ एक पागल स्त्री रहती है जो अपने पुत्रके पीछे पागल हो रही है ।' वह व्यक्ति वहाँ दरवाजेपर पहुँचा । लड़केने आवाज दी—'मा, मैं आ गया ।' माताने तुरंत दरवाजा खोला और तीस वर्षकी प्रार्थनाकी कठिन तपस्याके वलसे उसको अपने पास

वुला लिया। अव तो सव लोग उस स्त्रीका वड़ा आदर करने लगे और उसके द्वारा प्रार्थनाका वड़ा प्रचार हुआ। उसका पुत्र इस समय अमेरिकामें प्रसिद्ध धर्मोपदेशक है।

४—अमेरिकामें होलीयोकमें नवीन विचारोंका और ईश्वरवादका प्रचार करनेवाली विश्व-सुप्रसिद्ध श्रीऐलिजावेथ टाउन महोदया हैं। वह नाटिलस नामका नवीन विचारोंका प्रसिद्ध पत्र प्रकाशित करती हैं। इस पत्रके लाखों पढ़नेवाले हैं। प्रत्येक अङ्कमें ईश्वर-प्रार्थना-सम्वन्धी सम्पादकीय महत्त्वपूर्ण लेख रहते हैं और प्रार्थनाके वलसे दुःख, दरिद्रता, रोग आदि मेटनेके अनुभवपूर्ण अन्य लेख भी छपते हैं। इस पत्रद्वारा लाखों मनुष्योंमें ईश्वर-भाव और उपासनाकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ है और लाखोंका जीवन चिन्ता, क्लेश और कष्टसे मुक्त होकर आनन्दमय वना है। डाक्टर थोरो और इमर्सनके वाद ऐलिजावेथ टाउन ही नूतन मतकी अग्रगण्य नेत्री हैं। इन्होंने नवीन विचारके कई ग्रन्थ लिखे हैं।

५—इंग्लैंड चिचेस्टरमें मिस्टर हेम्वलिन ईश्वरवादके प्रचारका सराहनीय कार्य कर रहे हैं। आप 'साइन्स आफ थॉट रिव्यू' पत्र प्रकाशित करते हैं, कई पुस्तकोंके लेखक हैं और उच्च विचारके परम ईश्वर-भक्त व्यक्ति हैं। इनके जीवन और कार्यसे हजारों मनुष्योंके जीवनमें परिवर्तन हुआ और अनेकों नास्तिक आस्तिक हो गये हैं। धन्य है, ऐसे नररत्नोंको जो ईश्वरतत्त्वका स्वयं साक्षात्कार करके जनता-का कल्याण कर रहे हैं।

६—डॉक्टर मेयर एक जहाजपर जा रहे थे। तव प्रार्थनासे उत्तर मिलता है या नहीं, इस विषयमें उनके भाषण होते थे। एक

भाषणमें एक नास्तिक उपस्थित थे, उन्होंने कहा कि 'मैं आपके एक शब्दपर भी विश्वास नहीं करता।' दूसरे दिनकी बात है, डॉक्टर मेयर तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंमें भाषण देने जा रहे थे, उनके पीछे नास्तिक महोदय भी हो लिये और अपने पाकेटमें दो नारंगी लेते गये। जब वे तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंके पाससे होकर जा रहे थे, तब उन्होंने देखा कि एक वृद्धा स्त्री आँखें बंद किये हाथोंको फैलाये हुए खूब गाढ़ निद्रामें सोयी हुई है। नास्तिक महोदय दोनों नारंगी उसके हाथोंमें डालकर भाषणमें चलते बने। भाषणसे लौटते समय नास्तिक महोदय देखते हैं कि वह वृद्धा स्त्री आनन्दपूर्वक नारंगी खा रही है। नास्तिक महोदयने कहा—'श्रीमती सन्तरेके आनन्दका उपभोग कर रही हैं।' उसने जवाब दिया—'हाँ महाशयजी ! मेरे पिता बड़े भले आदमी हैं, उनकी मुझपर बड़ी कृपा है।' नास्तिकने आश्चर्यसे पूछा—'तुम अस्सी वर्षकी हो, तुम्हारे पिता कैसे जीवित हैं ? तुम कैसी पागलकी-सी बातें करती हो ?' बुढ़ियाने कहा—'महाशय! मैं कई दिनोंसे समुद्री हवाके रोगसे पीड़ित हूँ, मैंने अपने परमपिता परमात्मासे प्रार्थना की कि किसी तरह मेरे पास एक नारंगी भेज दो। मैं प्रार्थना करते-करते गाढ़ निद्रामें सो गयी, जब मेरी आँखें खुलीं तब क्या देखती हूँ कि मेरे दयालु पिताने एकके बदले दो नारंगी मेरे लिये भेज दीं।'

नास्तिक महोदयने जाते समय मजाकके तौरपर ऐसा किया था; किंतु बुढ़ियाका दृढ़ विश्वास देखकर वे दंग रह गये और उस दिनसे उनकी ईश्वरपर अटल श्रद्धा हो गयी।

७—अभी थोड़े दिनोंकी बात है कि अमेरिकामें एक ग्राममें वर्षाके लिये स्त्री-पुरुष सम्मिलित प्रार्थना कर रहे थे, वहाँ वर्षा न होनेसे खेतीको बड़ी हानि पहुँच रही थी, वे सब मिलकर प्रार्थना कर रहे थे कि उनमेंसे एक बालिका चट भागकर घरपर चली गयी और छाता ले आयी। प्रार्थना समाप्त होनेपर सब लोग चलने लगे। बालिका छाता लगाकर चली, उसपर कई लोग हँस पड़े कि 'कैसी पगली लड़की है, कहीं वर्षाका चिह्न नहीं है और यह छाता लगा रही है।' छोटी-सी बालिका कहती है—हाँ,हाँ अभी मूसलाधार वर्षा होती है। हमने प्रार्थना की है।' थोड़ी ही देरमें मूसलाधार वर्षा होने लगी। धन्य है उस बालिकाको, जिसे इतना दृढ़ विश्वास था।

८—चेल्टारि बाइबलके समय एक स्त्रीने सम्मिलित प्रार्थनामें अपने अत्यन्त शराबी पतिकी शराबकी आदत छुड़ानेके लिये प्रार्थना की। दूसरोंने भी उसकी प्रार्थनामें योग दिया। उस समय उसका पति शराब-की दूकानपर बैठा हुआ शराब लेकर पीनेको ही था कि किसी जबर-दस्त शक्तिने उसको प्रेरणा करके प्रार्थना-मन्दिरमें भेज दिया। वहाँ जाकर उसने शराब न पीनेकी शपथ ले ली, तबसे जीवनमें उसने शराब कभी नहीं पिया।

इस प्रकारकी नित्य ही अनेकों घटनाएँ-प्रार्थना करनेवालोंके जीवनमें घटित होती हैं। इस सब कथनका सारांश यह है कि प्रार्थना-में अमोघ बल है। प्रार्थनासे मनुष्य अपने जीवनमें चाहे जैसे विलक्षण परिवर्तन कर सकता है और उसकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं। सब जगत्का कल्याण हो।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

इन प्रश्नोंपर बहुत बड़े-बड़े प्रातःस्मरणीय पूज्यचरण महात्माओं और विद्वानोंने उत्तर लिखने-लिखवानेकी कृपा की है, फिर मुझ-सरीखा व्यक्ति क्या लिखे ! पहले तीन प्रश्नोंपर तो कुछ लिखनेकी आवश्यकता ही नहीं । कारण, प्रथम तो ईश्वरके स्वरूप और तत्त्वका यथार्थ ज्ञान भगवत्प्राप्त पुरुषोंको ही होता है और जिनको होता है वे भी वाणीद्वारा उसका निर्वचन नहीं कर सकते । दूसरे इन प्रश्नोंके उत्तरमें विशेषज्ञ अनुभवी महात्माओं तथा विद्वानोंके द्वारा यथेष्ट बातें कही जा चुकी हैं । तीसरे मेरा कोई अधिकार भी नहीं । वास्तवमें अनुभवकी दृष्टिसे तो ऐसे प्रश्न ही नहीं बन सकते । इसके सिवा ईश्वरका जो कुछ वर्णन होता है वह अधूरा ही होता है । वर्णनका विषय ईश्वर, यथार्थ ईश्वर-स्वरूपसे बहुत ही नीचे उतरा हुआ होता है । जो बुद्धि-मन-वाणीके परेकी चीज है, उसका कोई क्या वर्णन करे ? निर्गुण रूप स्वसंवेद्य है । सगुण-साकार रूप ऐसा मन-मोहक और पागल बना देनेवाला है, जिसको देखकर जनक-जैसे ज्ञानी राजर्षि चकित और उन्मत्त हो जाते हैं । भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणको पहले-पहल देखकर राजर्षि जनक, महर्षि विश्वामित्रसे कहते हैं—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक । मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक ॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥

अतएव इन प्रश्नोंपर मैं कुछ भी न लिखकर चतुर्थ प्रश्नके उत्तरमें कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ ।

सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान्‌की सत्ताका प्राणिमात्रको पल-पल और पद-पदपर प्रत्यक्ष होता है। भगवान्‌की सत्तासे ही सबकी सत्ता है। कहने और सुननेवाला चेतन-सत्ता-धारी प्राणी भगवान्‌की सत्ताको अस्वीकार कर ही नहीं सकता, जो करता है वह उन्मत्त प्रलाप करता है और प्रकारान्तरसे भगवत्सत्ताकी ही घोषणा करता है।

इसी प्रकार हम जिस स्थितिमें स्थित होकर इस समय क्रिया कर रहे हैं, उस स्थितिमें, ईश्वर केवल सच्चिदानन्दघन होनेपर भी, ईश्वरकी दयाका भी वैसे ही पल-पल और पद-पदपर प्रत्यक्ष होता है जैसे उनकी सत्ताका। भगवान्‌की दयासे मनुष्य अपने जीवनमें ऐसे-ऐसे महान् विलक्षण अनुभव करता है, जिनके सम्बन्धमें सहसा सर्व-साधारणके सामने कहना-सुनना मोहवश अविश्वासके उत्पादन करनेके सिवा और कुछ फल उत्पन्न नहीं करता। जिन दिव्य और अलौकिक रहस्योंको भगवत्कृपासे भगवत्प्रेमी जान पाता है, कहा जाता है कि वे इतने गुह्य, इतने सूक्ष्म और इतने गम्भीर होते हैं कि न तो उनकी किसी लौकिक प्रमाणसे सिद्धि की जा सकती है, न किसीकी लौकिक बुद्धिमें वे बातें आ सकती हैं और न उनके प्रकट करनेकी कोई आवश्यकता ही होती है।

इतना सब होनेपर भी वे बातें इतनी सत्य, इतनी प्रत्यक्ष और इतने तथ्यकी होती हैं कि दूसरोंको समझाने और उनके सत्य सिद्ध करनेका साधन या उपाय दृष्टिगोचर न रहनेपर भी; जिसको वे प्राप्त होती हैं, उसके लिये वे उतनी ही अपरोक्ष हैं जितना अपने लिये अपना आत्मा। एक मनुष्यको किसी अत्यन्त एकान्त स्थलमें किसीके द्वारा अमरफल प्राप्त हो जाय और वह उसके महान् स्वादका अनुभव करनेके साथ ही उसे खाकर अमर हो जाये, और फिर वह चाहे इस

बातको प्रमाणोंसे, युक्तियोंसे सिद्ध न कर सके, तो इससे न तो उसका अनुभव मिथ्या होता है और न उसे दूसरोंको समझाकर उससे सचाईका प्रमाण-पत्र लेनेकी आवश्यकता ही रहती है। इसी प्रकारकी अनेकों रहस्यमयी बातें भगवत्कृपासे भक्तोंके अध्यात्म-जीवनमें हुआ करती हैं, पर उनका पता उनको और उनके भगवान्‌को ही होता है। भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

ज्यों-ज्यों मनुष्य भगवत्कृपाका अधिकाधिक प्रत्यक्ष करता है त्यों-ही-त्यों वह भगवत्-रहस्यके राज्यमें प्रवेश करता है, परंतु—

'भगवतरसिक' रसिककी बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

ऐसी रहस्यकी बातोंके विषयमें मैं क्या लिखूँ? मेरी तो यही प्रार्थना है कि दैवीसम्पदासम्पन्न प्रेमी महापुरुषोंके जीवनकी ऐसी ईश्वरकी दयासे होनेवाली दिव्य घटनाओंकी सत्यतापर पूर्ण विश्वास करनेमें ही लाभ है।

सांसारिक विषयोंमें तो भगवान्‌की दया स्थूलरूपमें भी दर्शन देती रहती है; परंतु मनुष्योंको यह एक महाभ्रम हो रहा है कि धन-जन-मान आदि सांसारिक वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही वे भगवान्‌की दया समझते हैं, उनकी अप्राप्ति और विनाशमें नहीं। वास्तवमें भगवान्‌की दया दोनों ही प्रकारसे होती है। कई बार मनुष्यके जीवनमें ऐसी घटनाएँ होती हैं, जो उस समय देखनेमें बड़ी भयानक, अवाञ्छित, दुःखदायिनी और अपनी इच्छाके प्रतिकूल प्रतीत होती हैं और उस समय मनुष्य भ्रमवश नारदके मोहकी भाँति भगवान्‌को कोसने भी

लगता है; परंतु जब उनका अन्तिम परिणाम प्रकट होता है, तब मोह-निशाका नाश होता है और भगवदनुग्रहरूप भुवनभास्करके दिव्य प्रकाशसे उसका मन-पद्म प्रफुल्लित हो उठता है। उस समय उसके रोम-रोममें अपने-आप ही भगवान्‌के प्रति हार्दिक कृतज्ञताकी ध्वनि निकलने लगती है, चित्त उस चिन्ताहरण चतुर-चूड़ामणिके चिन्तनमें संलग्न हो जाता है। वास्तवमें विषयी पुरुषोंकी दृष्टिमें जो अशुभ घटनाएँ हैं, वे ही परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें ईश्वर-दयाका एक प्रकारका प्रकाश हैं, जो साधकके यथार्थ कल्याणके लिये ही संघटित होती हैं।

मनुष्यके जीवनमें इस प्रकारकी अवाञ्छित और मनोवाञ्छित फलके रूपमें प्रकट होनेवाली दयाके दर्शन अगणित बार होते हैं, मेरे जीवनमें भी ऐसी अगणित घटनाएँ हुई हैं और हो रही हैं; परंतु न तो उन सबका स्मरण ही रहता है और न जिनका स्मरण है उन सबके प्रकाश करनेका स्थान, सुअवसर और संकल्प ही है। यहाँ सिर्फ मौतके मुँहसे बचनेकी तीन घटनाओंका वर्णन करना चाहता हूँ, जिनसे भगवान्‌की सत्ताका कुछ पता लगता है।

(क) सन् १८९६ ई० में आसाममें भयानक भूकम्प हुआ था, उस समय मेरी उम्र लगभग चार वर्षकी थी। शिलांग (आसाम) में हमारा कारबार था। मेरे दादाजी कनीरामजी वहाँ रहते थे। पिताजी कलकत्तेका कारबार सँभालते थे। माताजीकी बहुत छोटी उम्रमें मृत्यु हो जानेसे मेरी दादीजीने मुझको पाला। उनका मुझपर जो स्नेह था एवं उन्होंने मेरे लिये जितने कष्ट सहे, उसका बदला मैं हजार जन्म सेवा करके भी नहीं चुका सकता। उनके जीवित रहते मैंने इस ओर पूरा ध्यान नहीं दिया, अब पछतानेसे कोई लाभ नहीं। जिनके माता-पिता आदि जीते हैं, उन्हें बड़ा सौभाग्य प्राप्त है, वे जीभर

उनकी सेवा करके आनन्द लूट लें, नहीं तो पीछे मेरी तरह पश्चात्तापके सिवा प्रत्यक्ष सेवाका और कोई साधन नहीं रहेगा । अस्तु, मैं दादीजीके पास शिलांगमें रहता था । मेरी एक बूआ भी वहीं आयी हुई थीं, उनके दो संतान थीं—एक कन्या और एक पुत्र । वे दोनों मेरे समवयस्क थे । हम तीनों साथ-साथ खेला करते । भूकम्पके दिन हमारे निकटवर्ती श्रीभजनलाल श्रीनिवासके यहाँ किसी व्रतका उद्यापन था । उनके यहाँ हमें भोजन करने जाना था । बूआजीके दोनों बालकोंने जानेसे इन्कार कर दिया, मैं अकेला ही गया, वे घरपर रह गये । संध्याका समय था, लगभग पाँच बजे होंगे । मैंने श्रीभजनलाल श्रीनिवासके गोलेके पीछे रसोईमें जाकर भोजन किया, रसोईसे निकलकर गोलेमें घुस ही रहा था कि धरती बड़े जोरसे काँप उठी, मैं चिल्लाया और मेरे आस-पास पत्थरोंकी वर्षा होने लगी । सारा मकान क्षणोंमें ही भूमिसात् हो गया । मैं दब गया । परंतु आश्चर्य ! मेरे चारों ओर पत्थर हैं, उनपर एक तख्ता आ गया और उसके ऊपर पत्थरोंका पहाड़ । मैं मानो खोहमें—काली गुफामें पड़ गया । पता नहीं, वायुके आने-जानेका रास्ता कैसे रहा, परंतु मैं मरा नहीं । भूकम्प बंद होनेपर मूसलधार वर्षा हुई और उसी समय हमारे बगलके एक गोलेमें आग लग गयी, चारों ओर हाहाकार मचा था । कौन दबा, कौन बचा कुछ पता नहीं । दादाजी हम तीनों बालकोंकी खोजमें लगे । मेरी बूआके दोनों बालक गोलेके पत्थरोंके नीचे मरे मिले । मेरी बड़ी बूआजीके पौत्र मुझसे कुछ बड़ी उम्रके श्रीराम गोयनकाकी भी लाश मिली, ढूँढ़ते और पुकारते दादाजी भजनलाल श्रीनिवासके गोलेके पास आये । वे बड़े जोरसे पुकार रहे थे 'मन्नू मन्नू !' मैंने आवाज सुन ली । नन्हा-सा बालक था, भयभीत था, रो

रहा था, परंतु न मालूम किस प्रेरणासे मैंने शक्तिभर जोरसे उत्तर दिया, 'यहाँ हूँ, जल्दी निकालिये !' पत्थरोंका ढेर हटाया गया। मैं निकलकर दादाजीकी गोदी चढ़ गया, उन्होंने हृदयसे लगा लिया। दोनों रोने लगे। उनके रोनेके कई अर्थ थे! दादीजी तबतक अपने इष्ट श्रीहनूमान्जीको याद कर रही थीं। हनूमान्जीने उनकी पुकार सुनी—बूआजीके बालकोंके दबनेका दुःख क्षणभरके लिये कुछ हल्का हो गया।

तबसे शिलांगमें पत्थर-चूनेसे मकान नहीं बनते। प्रायः तख्ते और टीनोंके ही होते हैं।

(ख) सन् १९१९ की बात है, मैं बम्बईमें रहता था। रातको अपने फूफाजी श्रीलक्ष्मीचन्दजी लोहियाके घरपर, जो बम्बईसे कुछ दूर बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवेके शान्ताक्रुज-स्टेशनके पं० श्रीशिवदत्तरायजी वकीलके बँगलेमें रहते थे, जाकर खाया और सोया करता था। एक दिनकी बात है, रातको करीब ८ बजे थे, कृष्णपक्षकी अँधेरी रात थी। मैं लोकल ट्रेनसे जाकर शान्ताक्रुजके प्लाटफार्मपर उतरा। अब तो दोनों ओर प्लाटफार्म हैं, उस समय एक ही ओर था और रोशनीका भी प्रबन्ध नहीं था। न इंजिनके सर्चलाइट थी। श्रीशिवदत्तरायजीके बँगलेमें जानेके लिये रेलवे लाइन लाँघकर उस ओर जाना पड़ता था। मैंने बेवकूफी की। दौड़कर इंजिनके सामने लाइन पार करने चला। लोकल ट्रेन एक ही मिनट ठहरती है। मैं नया था, मैंने समझा, गाड़ी छूटनेसे पहले ही मैं लाइन पार हो जाऊँगा। परंतु ज्यों ही मैंने लाइनपर पैर रक्खा त्यों ही गाड़ी छूट गयी, परंतु ईश्वरीय प्रेरणा और प्रबन्धसे उसी समय, किसी अज्ञात पुरुषने मेरा हाथ पकड़कर जोरसे खींच लिया। मैं दूसरी लाइनपर जाकर गिर पड़ा,

गाड़ी सर्राटेसे निकल गयी। तीन काम एक साथ हुए—मेरा लाइन लाँघने जाना, गाड़ी छूटना और अज्ञात व्यक्तिद्वारा खींचा जाना, एक-ही-दो सेकंडके विलम्बमें मेरा शरीर चकनाचूर हो जाता; परंतु बचानेवाले प्रभुने उस अँधेरी रातमें उसी जगह पहले ही मुझे बचानेका प्रबन्ध कर रक्खा था। मैं थर-थर काँप रहा था, ईश्वरकी दयालुतापर मेरा हृदय गद्गद हो रहा था। आँखोंसे आँसू बह रहे थे। मैंने स्टेशनके धुँधले प्रकाशमें देखा, एक नौजवान बोहरा मुसलमान खड़ा हँस रहा है और बड़े प्रेमसे कह रहा है—'आइंदा ऐसी गल्ती न करना, आज भगवान्ने तुम्हारे प्राण बचाये।' मैंने मूक अभिनन्दन किया, कृतज्ञता प्रकट की। लाइनपर रोड़ोंमें गिरा था, परंतु दाहिने पैरमें एक रोड़ा जरा-सा गड़नेके सिवा मुझे कहीं चोट नहीं लगी। मैं दौड़कर घर चला गया और ईश्वरको याद करने लगा।

(ग) सन् १९२६ की बात है। मैं लक्ष्मणगढ़ (जयपुर) के भाई श्रीलच्छीरामजी चूड़ीवालाके धन और परिश्रमसे स्थापित ऋषिकुलके उत्सवमें शरीक होनेको बम्बईसे जा रहा था। अहमदाबादसे दिल्ली-एक्सप्रेसके द्वारा रवाना हुआ मैं सेकंड क्लासमें था, मेरे साथ एक छोटा ब्राह्मण-बालक ऋषिकुलमें भर्ती होने जा रहा था। मैं इधरकी एक सीटपर सोया था और सामनेकी सीटपर वह सोया था। दूसरे दिन सुबह अंदाज पाँच बजे थे। ब्यावर-स्टेशनपर एक टी० टी० महोदय हमारे डिब्बेमें सवार हुए। मैं जिस सीटपर सोया था, उसीपर मेरे पैरोंके पास वे बैठ गये। मैं जग रहा था, अपने पैरोंके पास किसीका बैठना मुझे अच्छा नहीं लगा, इससे शिष्टाचारके नाते मैं उठ बैठा। सोया था तब मेरा सिर सीटकी अन्तिम

तीसरी खिड़कीके पास था, जागकर बैठा तो वह खिड़की खाली हो गयी, मैं बीचकी खिड़कीके पास बैठ गया और टी० टी० महोदय इधरकी तीसरी खिड़कीके पास बैठे थे। तीनों खिड़कियाँ बंद थीं, मैं टी० टी० महोदयके साथ बातें कर रहा था। इतनेमें ही पीछेसे बड़े जोरकी आवाज हुई और दूसरी सीटपर सोये हुए ब्राह्मण-बालकने एक चीख मारी। हमलोग भौंचक्के रह गये। पीछे घूमकर देखा तो मालूम हुआ कि एक बहुत बड़ा पत्थर खिड़कीके काँचके लगा, खिड़कीका बहुत मोटा काँच चूर-चूर हो गया और उसके टुकड़े उछल-उछलकर सब तरफ बिखर गये। उसीका एक जरा-सा टुकड़ा बालकके सिरमें लगा था, इसीसे उसने चीख मारी थी। मैं सोया होता तो अवश्य ही खिड़कीके पास मेरा सिर रहता और वह जरूर ही पत्थर और काँचकी चोटसे टूट जाता, परंतु बचानेवालेने टी० टी० महोदयको भेजकर मुझे प्रेरणा की, मैं बैठ गया और बच गया। यह घटना अजमेरके पास मकरेरा और सरधना स्टेशनके बीचकी है। टी० टी० महोदयने कहा कि यहाँ अक्सर ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं। अजमेरमें टी० टी० महोदयने कमरा साफ करवाया और उन्हींकी कृपासे मैं शीशा तोड़नेके इल्जामके बखेड़ेसे सहज ही बच गया।

अपने ही सम्पादकत्वमें निकलनेवाले ग्रन्थमें, अपने ही किये हुए प्रश्नोंके उत्तरमें, अपने ही जीवनकी घटनाओंका वर्णन लिखना धृष्टता है। लिखना नहीं चाहता था, परंतु कुछ मित्रोंकी इच्छा देखकर अन्तमें संक्षेपमें दो-चार बातें लिख दी हैं। विद्वान् गुरुजन और पाठकगण क्षमा करें।